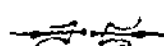
साहित्य रत्न माला—२

हिन्दी-काव्य
में
नवरस



निधि सों कवि सब निधि बड़े, यामें संशय नाहि ।
पर रस निधि की सृष्टि में, नवरस कविता माहि ॥



लेखक
बाबूराम बित्थरिया, 'साहित्य-रत्न'



हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की साहित्य रत्न उपाधि
के लिये स्वीकृत निबंध ।



संवत् १९८३ वि०

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य २)

प्रकाशक :—
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,
प्रयाग ।



मङ्गलाचरण

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥१॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः।
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥

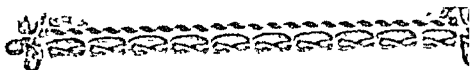
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥२॥

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ॥
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥३॥

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥४॥

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ॥
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥५॥

अन्तस्ताप विनाश हेतु तुम हो, सर्वत्र ही चन्द्रमा।
आलोकार्थ सदैव ज्ञान पथ के देवेन्द्र सूर्योपमा ॥
उल्लासी रत भक्त वृन्द तुमसे होते रहें सर्वदा।
संसारी सब शोक सिन्धु तरणी, स्वामी तुम्हीं हो मेरा ॥१॥



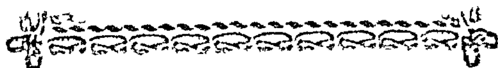
होवे मंगल लाभ पूर्ण-पहले ध्यावें तुम्हीं को अहो ।
होगा पूर्ण भला न कार्य्य फिर क्यों श्रद्धालु ! सो तो कहो ॥
इच्छाएँ अति उच्च पूर्ण तुमसे होतीं सभी की प्रभो !
भक्तों के वश में सदैव तुम हो पूज्य सदा हे विभो ॥२॥

सेवा में विनती "नवीन" यह है सत्मार्ग स्वामी दिखा ।
हो आवश्यक सो सभी गुण यथा औचित्य सारे सिखा ॥
आशातीत अभ्युदय उन्नति मुझे आलब्ध होवे सभी ।
जावे व्यर्थ न हे प्रभो ! सुखदायी सद् कार्य्य मेरा कभी ॥३॥

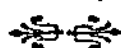
नाना छन्द-प्रबन्ध वारि नव्य सा होती सदा ही रहे ।
प्रासादादि अनेक सद्गुण युता धारा 'रसों' की बहे ॥
भावालंकृत रूपकादि सहिता सद्भाव से हो भरी ।
हो शैली ध्वनि व्यंजनादि भरिता, अत्यंत ही माधुरी ॥४॥



८—रसों का वर्णन



निवेदन



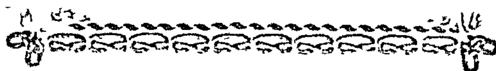
साहित्यरत्न प० बाबूरामजी बित्थारिया ने प्रस्तुत निबन्ध स० १९७८ वि० में उत्तमा परीक्षा के निमित्त लिखा था। बित्थरिया जी ने अपने लिए जो विषय चुना, वह साहित्य की दृष्टि से कितने महत्व का है, सो बतलाने की आवश्यकता नहीं। जहा तक हमको मालूम है, इस विषय पर अभी तक हिन्दी के किसी विद्वान् ने कोई विस्तृत विवेचना पूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा है। एक दो पुस्तकें लिखी गई हैं अवश्य, पर बहुत ही सक्षेप में। ऐसी दशा में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के एक परीक्षार्थी के द्वारा इस विषय पर ऐसा विस्तृत विवेचना पूर्ण ग्रन्थ लिखा जाना कुछ कम कौतूहल की बात नहीं है।

हम यह नहीं कह सकते कि प्रस्तुत निबन्ध सब प्रकार से निर्दोष और परिपूर्ण है, क्योंकि आखिर एक परीक्षार्थी विद्यार्थी का ही लिखा हुआ है, तथापि लेखक ने यथाशक्ति अपने विषय को उदाहरणों के साथ, बडी मनोरञ्जकता से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। सफलता कहा तक हुई है, विद्वज्जन इसका निर्णय करेंगे।

'साहित्य रत्न माला" का यह दूसरा रत्न कारणवश विलम्ब से निकल रहा है, इसका हमको खेद है। परन्तु आशा है कि इस निबन्ध के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों अवश्य लाभ पहुचेगा, और अन्य साहित्य प्रेमियों का भी मनोरञ्जन होगा।

पुस्तक में जो त्रुटिया विद्वज्जनों को दिखाई दें, उनकी सूचना को अवश्य दी जाय। हम उपकृत होंगे, और अगले सस्करण में सुधारने का प्रयत्न करेंगे।

लक्ष्मीधर वाजपेयी,
साहित्य-मन्त्री





भूमिका

"तत्वकिमपि काव्याना जानाति विरलो भुवि।
मार्मिक को मरन्दानाम तरेण मधुव्रतम्" ॥

अर्थात "काव्य के अनिर्वचनीय तत्त्व को कोई विरला ही जानता है, मधुव्रत को छोड पुष्पो के मधुर रस का मर्म जानने-वाला (अन्य) कौन है ?" । यह युक्ति अक्षरश सत्य है। जिस प्रकार भ्रमर, जल वातादि जनित अनेक बाधाओं का ध्यान न कर विशाल कमल कानन से मधु को प्राप्त करता है, तथा इसी कार्य्य के सम्पादन करने में वह गुलाब तथा केतकी के तीक्ष्ण कण्टको का किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं खाता; उसी प्रकार उपमा-रूपकादि-अलकार व्यग्यादि ध्वनि भेद, ओज, प्रसादादि गुण और शृङ्गारादि रस भेद रूपी अनेक प्रकार के पुष्प पारिजात से सुसज्जित अनुपम काव्योपवन में से अद्वैतामृत आनन्द मधु-निष्कासन का अधिकारी केवल वही रस-मर्मज्ञ-सहृदय सज्जन है, जिसने अन्वेषण का पेचीदा मार्ग देखा है, जो किनारे पर ही बैठा न रह कर गहरे पानी में घुसा है, जिसमें तल्लीनता का अद्भुत गुण मौजूद है और जो काव्य के सन्मुख अपनी प्रिया के कोमल-काति कमलवत् अधरो के रसास्वादन का भी आदर नहीं करता है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि

प्रकार सत्य कवित्व-वस्तु, जिसके विषय में निखिल शास्त्र-पारंगत, परम श्रद्धास्पद, महात्मा तुलसीदासजी की निम्नलिखित चौपाई उद्धृत की गयी है, दुर्लभ है, उसी प्रकार सत्य-रसिकता भी प्रत्येक मनुष्य में नहीं पायी जाती।

आखर-अर्थ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद, रसभेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा॥
सूझ न एको अङ्ग उपाऊ। मम मति रंक मनोरथ राऊ॥

कहने को तो ईश्वर की सम्पूर्ण सृष्टि ही काव्यमय है। सकल जल, थल, आकाश-प्रकाश, वायु, सूर्य्य, चन्द्र, तारागणादि में काव्य देदीप्यमान है। हाथीसे लेकर चिउटी तक, गगन चुम्बी पर्वतों से लेकर अति सूक्ष्म परिमाणु तक, अथाह सागरों से लेकर एक छोटे से जल विन्दु तक, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो काव्य सब में एक भाव और एक रंग से समान रूपेण विद्यमान है, परन्तु देखने के लिये आँखों की आवश्यकता है। आँखें सब समान हैं, सब का कार्य्य भी एक ही है, परन्तु वह नेत्र ही और हैं, जिनसे उक्त काव्य सौंदर्य्य का निरीक्षण किया जाता है। किसीने क्या अच्छा कहा है। —

"अनियारे दीरघ नयनि, किती न युवति समान।
वह चितवन और कछु, जिहि बस होत सुजान"॥

एक ही वस्तु के निरीक्षण से भिन्न भिन्न प्रकृति में मनुष्यों की भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियाँ होती हैं। किसी उपवन को सज्जित

गुलाव का पुष्प यदि छड़ी लेकर सैर को जानेवाले

बाबूजी के बटन-घर की शोभा बढाता है, तो वही पुष्प माली की डाली सजाता है। ब्रह्मज्ञानी संत के अनुपम हृदय में वह ब्रह्म हो कर स्थल पाता है। पसारी उसीसे अपनी दुकान का रंग जमाता है। वैज्ञानिक उसी को अपनी ज्ञान वृद्धि का मार्ग बनाता है। इसी प्रकार, कवि उसे देखते ही उपमा रूपकादि की खोज लगाता है। "लैला" परले सिरे की कुरूपा थी, "लैल" शब्द से उक्त नाम की व्युत्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ फारसी भाषा में रात्रि का है। " यथा नाम, तथा गुणम्" के आदर्श पर आप अमावास्या के अर्द्ध रात्रि के प्रगाढ तम को भी लज्जित कर देनेवाली थीं। एक दिन किसी मनुष्य को उनके दर्शन हुए। रंग रूप देखकर उससे न रहा गया—पूछा, श्रीमती! "आप का शुभ नाम क्या है"। उत्तर मिला "लैला"। यह सुन कर उस पुरुष ने पुन: प्रश्न किया "क्या मजनू आप ही पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुका है"? "क्या आप ही के इस सौंदर्य्य ने उसे बिना दामों का गुलाम बनाया है?। क्या वह आपही के हाथों की कठ-पुतली हो गया है? क्या वह संसार में इसी रूपोद्यान का भ्रमर बन कर जीवित रहना चाहता है?"। लैला ने बडी सभ्यता के साथ कोमल,-मधुर और गम्भीर वाणी से कहा—"श्रीमान्! प्रेम मद-माते, स्वनाम धन्य महात्मा मजनू की हृदय हारिणी, मनो मुग्ध कारिणी यही कुरूपा दासी है!" यह सुन कर वह पुरुष अत्यंत चमत्कृत हुआ। लैला ताड गयी, उसने कहा—"महोदय! इसमें भ्रम की क्या बात है! यदि परीक्षा करनी है तो रसिकवर प्रातः स्मरणीय मजनू ही की आँखें

कर आइये, आपकी सब शंकायें निवारण हो जाँयगी'। पाठक! देखा, कितना भाव पूर्ण उत्तर है। वास्तव में लैला के रूप-सौंदर्य की परीक्षा सहृदय मजनू ने ही की थी। इसी प्रकार सृष्टि सौंदर्य के अनुपम दृश्यों का वर्णन सहृदय, काव्य-रस-मार्मिक ही कर सकता है और वही उसके अंतर गत भाव सौंदर्य तथा गुण-दोषों का पता लगा सकता है, अन्य की सामर्थ्य नहीं। नीर-क्षीर का विवेक हंस ही कर सकता है जिस काव्य का ऐसा विशद वर्णन है उसकी परिभाषा अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। सम्यक् मीमांसा द्वारा, "काव्य रसात्मक वाक्य" यह परिभाषा अत्यंत शुद्ध पायी गयी है अर्थात् रस युक्त शब्द ही काव्य कहा जाता है। सृष्टि-काव्य कर्ता, आनंद कंद सच्चिदानन्द परमात्मा जो सब से प्रथम कवि हैं और जिसने अपनी वाणी वेदों में सब से प्रथम काव्य की सृष्टि की है—उसने भी अपनी रचना में रसों को प्रधानता प्रदान की है, यही कारण है कि उसका नाम "रसिक शिरोमणि" पड़ा है। "रस" लोकोत्तर आनन्द को कहते हैं। लोकोत्तर आनन्द का सम्बन्ध व्यक्ति गत आनन्द से नहीं है, यह तो एक ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द है कि सम्पूर्ण मनुष्यों के लिये समान है। आनन्द मनुष्य जीवन के लिये कितना उपयोगी है? इसके लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं। काव्य और रस का अत्यंत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध, जल में प्रवाह, अग्नि में तेज और शरीर में प्राण है उसी प्रकार, काव्य

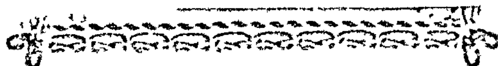
प्रवाह है, यदि कहा जाय कि काव्य भवानी, रस-रुद्र के

प्रदादि में विराजमान है तो अत्युक्ति न होगी। यही कारण है कि कवि कुल-भूषण 'मङ्ख कवि' ने काव्य रचना को अत्यन्त कठिन दिखलाते हुए उसमें अनेक काव्य गुणों की जो काव्य में होने आवश्यक हैं—की गणना कराते समय रसों को ही सर्वोपरि गिनाया है। वह कहते हैं —

'अर्थोस्ति चेन्न पद शुद्धि रथास्ति सापि।
नो रीति रस्ति यदि सा घटना कुतस्त्या॥
साप्यास्ति चेन्न नव वक्र गतिस्ततस्तत्।
व्यर्थं विना रस महो गहन कवित्वं॥

अर्थात्, कविता में प्रथम तो अर्थ लालित्य ही होना दुष्कर है। यदि यह हुआ भी तो, पद-शुद्धि नहीं होती। यदि यह भी हुई, तो रीति अर्थात् छन्द की शुद्धता पूर्वक गुणवती पद रचना नहीं होती। यदि यह भी हुई, तो वर्णनीय विषय की रमणीयता कहाँ? यदि यह भी हुई, तो नवीन वक्रोक्ति की मनोहरता नहीं देखी जाती और यह सब होने पर भी रसके बिना तो काव्य ही व्यर्थ है। निदान कविता का विषय बड़ा ही गहन है।

यह सब होने पर भी संसार की कोई भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ काव्य उपस्थित न हो। कहा जाता है, कि जिस भाषा में काव्य नहीं, वह भाषा 'भाषा' कहलाने योग्य ही नहीं है। आद्य- सृष्टि से आज पर्यंत, संसार में जितनी भाषाएं हुईं, और जहाँ वह बोली गईं, वहाँ उनकी कविता अब तक मौजूद है। सब से प्राचीन नम वेदों का वृहदंश काव्य में ही

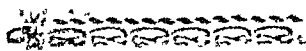


पाया जाता है। संसार की तुच्छातितुच्छ, असभ्य से असभ्य और जङ्गली से जङ्गली जाति के मनुष्य भी, अपने-अपने मेले, आमोद-प्रमोद तथा उत्सवों में कुछ न कुछ, कविता गाकर अपना मन बहलाव करते हैं। मनुष्य जाति का प्राकृतिक स्वभाव यह है, कि स्वयं आनन्द का अनुभव करे और दूसरों को करावे। इसी सिद्धान्त के अनुसार कोई पुरुष अपने काव्य से आनन्दित होकर उसके प्रभाव से दूसरों को प्रभावित कराने के लिये समुत्सुक होता है, यहाँ तक कि वह अपने इस कार्य में सफल मनोरथ भी होता है, अर्थात् समस्त जन-मंडली उसके श्रवण मात्र से गद्गद् हो उठती है। यदि काव्य में यह कार्य करने की क्षमता है, तब तो वह काव्य है और उसका कर्त्ता कवि है, अन्यथा कुछ भी नहीं। जिनके काव्य में उक्त गुण नहीं वह काव्य करने का साहस कर समाज में हास्यास्पद होने के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं उठाते। कविता मानव जाति के जीवन के लिये परम प्रयोजनीय वस्तु है। दास कवि काव्य रचना के विषय में कहते हैं —

एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यों 'तुलसी' अरु 'सूर' गुसाईं।
एक लहैं बहु सम्पति 'केशव' 'भूषण' ज्यों 'बलबीर' बड़ाई।
एकन को यश ही सों प्रयोजन है 'रसखान' 'रहीम' की नाईं।
'दास' कवित्तन की रचना बुधवंतन को सुख दै सब ठाईं॥

मानव जाति में कविता का इतना समादर और कवि के सम्पूर्ण इष्ट-साधन का कारण केवल यही है, कि कवि अपनी कवित्त्व शक्ति द्वारा शुष्क से शुष्क और नीरस से

नीरस विषयो को भी इस प्रकार वर्णन करता है कि समस्त उपस्थित-जन समुदाय प्रफुल्लित हो उठता है। यह कवि की ही सामर्थ्य है कि वह अपनी वर्णन शैली द्वारा, घमासान युद्ध जिसका नाम सुनते ही रोमाच होता हो, गिरि कदराएँ— जिनके दर्शन मात्र से ही धैर्य्य विदा होजाता हो, गहन-वन, जो अगम्य हो, इसी प्रकार अन्य भयावह पदार्थों का वर्णन इस प्रकार करता है कि उससे चित्त में एक लोकोत्तर आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। क्या गद्य, क्या पद्य क्या नाटक और क्या उपन्यास सभी में इस लोकोत्तर आनन्द रस की आवश्यकता है। यदि गद्य काव्य के माननीय आचार्य श्रीयुत लल्लूजी लाल के 'प्रेमसागर,' कवि शिरोमणि श्रद्धेय महात्मा तुलसीदासजी को 'रामचरित-मानस,' कवि कुल कैरवचन्द महात्मा सूरदास के 'सूरसागर,' पियूष वर्षा विहारीलालजी की 'सतसई,' और अद्भुत उपमा रूपकादि का प्रत्यक्ष रूप खडा करदेने वाले, कवि शिर मौर कालिदास की 'शकुन्तला नाटक' इत्यादि ग्रन्थों में उपर्युक्त गुण विद्यमान न होता तो वे आज समाज में इतने आदर की दृष्टि से न देखे जाते और कभी के पसारी की पुडियो का दाम दे गये होते। महानुभाव! ऐसे ही प्रभाव शाली, परमोपयोगी अथच अत्यत अनूठे विषय पर अपनी लेखनी परिचारित करने का साहस आज मुझे हुआ है। संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में वडे-वडे उच्च कोटि के विद्वान तथा कवियों के इसी विषय के अनेक ग्रंथ प्रस्तुत हैं। फिर भी, उस विषय पर मुझ



जैसे अल्पज्ञ का कुछ लिखने का साहस करना केवल धृष्टता मात्र है। इस विषय पर वही लिख सकता है जो स्वयं प्रतिभाशाली एवं अनुभवी कवि हो, जिसने अनेकों काव्य ग्रंथों का अवलोकन किया हो, बहुत से नवीन तथा प्राचीन लेखको के लेख देखे हों, जो काव्य को साङ्गोपाङ्ग आलोचनात्मक दृष्टि से पढ चुका हो, जिसने इस विषय पर लिखे हुए कृत-विद्य सज्जनों के सारगर्भित समालोचना के ग्रंथ पढे हों और उनपर विचार किया हो। परन्तु, इन सब बातों के न होते हुए भी बडों की आज्ञा प्रतिपालन करना भी मनुष्य का परम धर्म है, इसी आदर्श को ग्रहण कर मैं इस विषय को सेवा में उपस्थित करता हूं। निस्सन्देह "विषय" बहुत गम्भीर है, उस पर कुछ लिखने के लिये मेरी बुद्धि किसी प्रकार भी समर्थ नही है, न इस विषय का ही पर्याप्त ज्ञान मुझ में है। मैं विद्यार्थी हू, यदि सङ्कोच करके बैठ रहू तो भी सर्वथा हानि होने ही की आशका है। लाभ कुछ भी नहीं। इसी विचार से प्रेरित होकर, सम्मेलन नियमावली नियम ८१ के अन्तर्गत—परीक्षा समिति द्वारा स्वीकृत उपनियम अध्याय ८ पेराग्राफ द्वितीय के अनुसार यह निबन्ध लिखना आवश्यक समझा। कहा जा सकता है कि, फिर कोई छोटा और सुबोध विषय क्यों न लिया होता—जिसपर कुछ थोडा बहुत प्रकाश भी डाल सकते। सोचता तो मैं भी ऐसा ही था, परन्तु क्या करूं, मुझे अपने परीक्ष्य विषय—"हिन्दी-साहित्य" में कोई ऐसा विषय ढूढने पर भी न मिला जिसको मैं सरल, और बोध गम्य समझ, प्रभाव डालता, कारण इसका

केवल यही है कि मैंने आरम्भ से ही उर्दू पढ़ी—सो भी अधूरी केवल मिडिल और नोरमल की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के अभिप्राय से, "हिन्दी" नोरमल स्कूल में मेरी द्वितीय भाषा थी, इससे प्रथम मैंने केवल चिट्ठी-पत्री लिखने लायक हिन्दी घर पर सीखी थी। इसका फल यह हुआ कि दोनो भाषाएं अधूरी रहगई—"न खुदा ही मिला, न विसाले सनम्। न इधर के रहे न उधर के रहे।" कहाँ तो हिन्दी साहित्य का यह विषय और कहाँ मैं। "बन्दर से पूछो अदरक का सवाद" तो वह बेचारा क्या कहेगा। "कद्रे गौहर शाह दानदया बिदानद जौहरी" अर्थात् मोती का (मूल्य समझ कर) सम्मान या तो जौहरी ही करता है या बादशाह ही (अन्य नहीं) अस्तु मेरा गुञ्जा विक्रियार्थ मुक्ता, माणिक्यादि रत्नो के समक्ष व्यौपार में आने का साहस केवल इसी अभिप्राय से कर सका कि इस मिस से कुछ 'परीक्ष्य-विषय' में सहायता मिलेगी, "एक पथ दो काज" लेख का लेख लिख जायगा और कुछ न कुछ विज्ञता काव्य विषय में भी हो जावेगी। शब्द तथा अर्थ की अशुद्धियाँ भी अनेक स्थल पर रह गई होंगी, क्योंकि इस प्रकार का लेख लिखने का यह मेरा प्रथम ही साहस है—परन्तु इसकी विशेष चिन्ता यो नहीं है कि यह लेख उन महानुभावो के समक्ष ही उपस्थित होगा जो हमारे पथ प्रदर्शक, अग्रगण्य, तथा सुधारक हैं—अपने बालक की तोतली, और अशुद्धवाणी को श्रवण कर के भी माता पिता अकथनीय आनन्द का अनुभव कर प्रेम गद्-गद् हो जाते हैं, व्याकरणादि की अशुद्धियो पर

उनका ध्यान भी नहीं पहुँचता। आशा है कि, इसी प्रकार हमारी परीक्षा समिति के सदस्य, इस टूटी-फूटी भाषा युक्त निवन्ध को पढने का कष्ट उठाकर मुझे उत्साहित करने की अनुपम कृपाप्रदर्शित कराते हुए भविष्य के लिये शुद्ध और लाभदायक मार्ग बतावेंगे । अब अन्त में अपनी बनाई पद्य का कुछ अंश सेवा में भेंट कर इस लेख को यहीं समाप्त करता हूं।

ब्राह्मण कुल हम दीन, भेंट का नहीं सहारा।
शब्द-पुष्प है पास, नहीं है द्रव्य हमारा॥
यद्यपि है यह तुच्छ, गंध उनमें अति थोड़ी।
मुक्तकंठ से प्रेम सहित, माया पर जोड़ी॥
प्रणय कुसुम कर भेंट, नहीं संताप मनाते।
ईश्वर से कर विनय, हृदय में शीश नवाते॥
काव्य-कला-कौशल्य, देश में खूब चलावें।
हिन्दी 'हिन्दू' हिन्द नाम को सत्य बनावें॥

कवि किङ्कर सिरसागञ्ज, जिला मैनपुरी निवासी —

बाबूराम बिरथरिया 'नवीन'

अध्यापक, ए० बी० रेल्वे स्कूल,

चाँदीकुई—राजपूताना।

वसन्त पचमी
सं० १९७८ वि०

हिन्दी-काव्य
में
नवरस

१—रस की परिभाषा

(अ) आनन्द क्या है ?



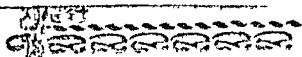
मानव जाति कामनाओं का भंडार है। नहीं ज्ञात होता कि ईश्वर ने उसके हृदय में कितनी कामनाएँ भर रक्खी हैं कि क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे का आविर्भाव होता ही चला जाता है। यदि एक पुरुष आज अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए आधसेर आटे का इच्छुक है तो कल वही अपनी इस कामना की पूर्ति होजाने पर इससे अधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है। इसी प्रकार वह अपनी कामनाओं में, भरसक प्रयत्न करके, अनेकों सफलताएँ प्राप्त करने पर भी चुप होकर नहीं बैठता। इसी अस्खलित कार्यक्रम का नाम विद्वानों ने तृष्णा रक्खा है। इसी को हम प्रतिदिन के

व्यवहार में "निन्यानवे का चक्कर" कहा करते हैं। यह ऐसा चक्र है कि मनुष्य इसके चारों ओर आजन्म घूमते रहने पर भी उसका अन्त नहीं पा सकता। भर्तृहरिजी ने सत्य ही कहा है कि "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा"—तृष्णा जीर्ण नहीं होती, किन्तु आयु ही जीर्ण होती है। मनुष्य तृष्णादेवी का पुजारी बनकर अनेक प्रकार के सुख-दुख का अनुभव करता है। कभी तो वह सफलता की तरल तरङ्गों में प्रवाहित होकर फूला नहीं समाता और कभी विफलता देवी का क्रीडास्थल बनकर अश्रुधारा बहाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्पूर्ण चतुर्वर्ग की प्राप्ति के मार्ग में तृष्णादेवी आकर प्रस्तुत हो जाती है। इस प्रकार तृष्णा के अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं, अर्थात् धर्म-प्राप्ति की तृष्णा, अर्थ-सम्पादन की तृष्णा इत्यादि। अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि यह सम्पूर्ण तृष्णा मनुष्य को अपने वशीभूत क्यों कर लेती है? किंचित् विचार करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य केवल आनन्द-प्राप्ति के निमित्त ही तृष्णा के फंदे में फँस जाता है, अन्य कोई कारण नहीं। 'आनन्द' दृष्टिगोचर पदार्थ नहीं, अर्थात् उसको कोई देख नहीं सकता—न उसके रंग रूप का ही वर्णन किया जा सकता है। किन्तु उसके अस्तित्व का अनुभव करने के लिए अनेकों साधन प्रस्तुत हैं। मस्तिष्क मन की इन्द्रिय है। उसमें मन अपने कार्य किया करता है। मन की अनेक शक्तियाँ हैं। उनमें से एक शक्ति आनन्द भी है। मन की चित्रपटी, मनुष्य के मुख की आकृति और नेत्रादि के व्यवहार हैं। उनके द्वारा हमें मनुष्य के हृद्गत सम्पूर्ण भाव

निश्चित रूप से ज्ञात होजाते हैं। किसी पुरुष से उसके मित्र ने प्रश्न किया—"आप मुझे कितना चाहते हैं"? उत्तर मिला—"अपने मन से पूछो"। सत्य है, जितना उसका मित्र उसे चाहता होगा, उतना ही वह उसे चाहता होगा। इस प्रकार मनुष्य एक दूसरे के मनोगत भावों तक को भी जान सकते हैं, अर्थात् मुख की चेष्टा, आँख, भ्रू इत्यादि के व्यवहार द्वारा मन का सम्पूर्ण भाव ज्ञात हो जाता है। किसी ने कहा भी है :—

> नयना देत बताय सब, हिय को हेत अहेत।
> जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत॥

अस्तु, जिस समय हमारा चित्त प्रफुल्लित होगा, उस समय हमारे मुख की चेष्टा और आकृति हमारे इस भाव को सिद्ध कर देगी। यदि इसके विरुद्ध हमारे चित्त में कुछ खेद होगा तो हमारे चेहरे की आकृति उसे भी तुरन्त ही स्पष्ट करदिखायेगी। जब मन में आनन्द की शक्ति मौजूद है, और मन का घर मस्तिष्क है, तो सम्पूर्ण सुखों और दुखों का अनुभव तुरत ही मस्तिष्क में पहुँचेगा। मज्जातन्तुओं का सम्बन्ध शरीर की सभी नसों से है। मन जब किसी कार्य्य का सम्पादन करता है तो पहले मज्जागत-तन्तुओं में सचालन उत्पन्न करता है। इस सचालन से समग्र शारीरिक स्नायुओं में सचालन होने लगता है। यह सचालन जब रुचिकर होता है तब काम करने में आनन्द मिलता है,

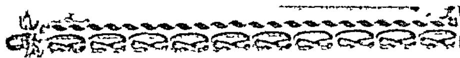


और जब रुचिकर नहीं होता तो आनन्द भी प्राप्त नहीं होता। इस आनन्द के होने न होने का हाल सम्पूर्ण शरीर को ज्ञात हो जाता है, और आवश्यकतानुसार यह कार्य अपने प्रभाव से उसे प्रभावित भी करता है। इस प्रकार हमारे शरीर की उत्पन्न हुई दशा का बोध हमें देखनेवाले तुरत ही जान लेते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो गया कि हमें आनन्द के अस्तित्व का बोध किस प्रकार होता है। अब इस बात के जानने की आवश्यकता और है कि आनन्द है क्या, और आनन्द को पाकर मनुष्य की क्या दशा होती है? जब हम को किसी रमणीय दृश्य के देखने अथवा किसी मधुर ध्वनि के सुनने का अवसर प्राप्त होता है तो उससे हमारे हृदय में एक प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा हमें अन्य वस्तुओं का स्मरण नहीं रहता और हमारे सम्पूर्ण हृद्गत भाव केन्द्रस्थ होकर उसी निर्दिष्ट विषय में तल्लीन हो जाते हैं। इसी विकार को आनन्द कहते हैं। परन्तु मनुष्य की यह आनन्दमय अवस्था सदैव एक दशा में नहीं रहती। जब तक मनुष्य पर उपर्युक्त दृश्य तथा ध्वनि का प्रभाव रहता है वह तभी तक रहती है। उदाहरणवत्, किसी परीक्षार्थी को जब उसके परीक्षोत्तीर्ण होने की सूचना मिलती है तो उसका चित्त सम्पूर्ण पदार्थों से हटकर एक अनुपम आनन्द का अनुभव करने लगता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् फिर उसे उसका ध्यान भी नहीं रहता। इसी प्रकार यदि किसी निर्धन पुरुष को कहीं से द्रव्य प्राप्त हो जाता है तो उस उसके चित्त में ऐसे विकार का प्रादुर्भाव होता है जो

अवर्णनीय है। उसे अपने भूतपूर्व जीवन में सहन किये हुए अनेक कष्टो का, फिर कुछ समय के लिए, ध्यान भी नहीं रहता। इसी प्रकार उस द्रव्य द्वारा खडे होनेवाले अनेक झगडो का भी उसे ध्यान नहीं रहता, किन्तु उसकी यह दशा भी न जाने कितने दिन की है? किसी मनुष्य को ज्ञात नहीं कि आज उसकी यह दशा है, तो कल क्या होगी? प्रत्येक प्रकार का आनन्द कुछ काल के लिए परिमित होता है। वह आनन्द-सागर जिसकी उत्तालतरङ्गों में जिज्ञासु अनन्तकाल तक गोते लगाते रहते ह, "परमानन्द" कहलाता है। इस आनन्द को पाकर मनुष्य अपने अस्तित्व को भूल जाता है। वह ससार के सम्पूर्ण सम्बन्धों को तिलाञ्जलि देकर निश्चिन्त हो जाता है—जाति पाँति के सम्पूर्ण बन्धनो की बेडियो को तोड डालता है। उसे न किसी से बैर, न किसी से प्रीति—वह न किसी धर्म का खडन करता है और न किसी का मडन। उसकी हृत्तत्री उस सुरीले राग से प्रतिध्वनित होती है, जिसका अनुभव केवल वही कर सकता है जो उसका अधिकारी है, अन्य की सामर्थ्य नहीं। इन उपर्युक्त दोनो प्रकार के आनन्दो म से हम प्रथम प्रकार के आनन्द को लौकिक आनन्द और दूसरे प्रकार के आनन्द को पारलौकिक तथा ब्रह्मानन्द कह सकते है।

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि आनन्द केवल मनुष्य का मन-जनित विकार है। वह मनुष्य का ध्यान सब ओर से हटाकर केवल उस उपस्थित विषय की ओर लगाता है जिसका प्रभाव उस व्यक्ति पर पड चुका है। अब यह और देखना



चाहिए कि वह प्रभाव कौन-कौन हैं जो उसके सम्पूर्ण विचारों को केन्द्रस्थ कर देते है। मोटे प्रकार से हम उनको "सुखदाई" और "दुखदाई" दो भेदों में विभक्त कर सकते ह। परन्तु इस प्रकार विभाग करने में एक बडा कौतहल यह उपस्थित होता है कि लोग "सुख" की गणना तो आनन्द में कर लेंगे, किन्तु "दुख" को उस आसन पर विराजमान करने के लिए उद्यत न होंगे, क्योंकि वहाँ छुआछूत का झगडा मौजूद है। इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि हम सुख दुख पर कुछ विचार करलें। जिन महाशयों ने केवल प्रारम्भिक विज्ञान का ही अध्ययन किया होगा वह भी भली प्रकार जानते होंगे कि "ताप" और "शीत' केवल दो पृथक्-पृथक् नाम ह। वास्तव में उनमें अन्तर कुछ भी नहीं है। जो वस्तु तपाकर अधिक गर्म करदीगई है, वह उस वस्तु के सम्मुख अधिक गर्म होगी, जो थोडे समय तक ही तपाई गई है। तुलना करने पर प्रथम से द्वितीय ठढी कही जावेगी, किन्तु यह द्वितीय वस्तु उसके सम्मुख गर्म कही जावेगी, जो बिलकुल ठढी है। इस प्रकार एकही वस्तु एकही समय में दो पृथक् पृथक् नामों से पुकारी गई। इससे यह फल निकला कि वास्तव में गर्मी और सर्दी एकही वस्तु है, केवल नाम दो हैं। इसी प्रकार यह सिद्ध हो सकता है कि दुख और सुख एक ही पदार्थ है। उनमें केवल नामान्तर ही है, क्योंकि यदि एक मनुष्य किसी एक अवस्था को सुखावस्था समझता है तो दूसरा उसे दुखदावस्था बताता है। तीसरे के सुख की कुछ और ही है। यही हाल दुख का है। सुख-दुख

आत्मा के निर्दिष्ट मार्ग तक पहुँचे हुए विकास की स्थिति बतलानेवाले हमारे दिये हुए नाम हैं—वास्तव में दोनों हैं एकही। इस प्रकार क्या सुख, क्या दुख—क्या करुणा, क्या क्रोध सभी विकार जो मनुष्य पर सुखकारी प्रभाव डालें, आनन्द में ही परिगणित किये जायगे। यथा कोई दुखी मनुष्य अपने दुखों की कहानी कह-कहकर प्रलाप, रोदन इत्यादि करुणोत्पादक कार्य्य कर रहा हो तो उनको श्रवणकर हमारे मन में जो विकार उत्पन्न होगा उसका समावेश भी आनन्द ही में किया जावेगा। क्योंकि जिस प्रकार सुखी पुरुष के सुख में सुखी होना आनन्द है, उसी प्रकार दुखिया के दुःख से दुखी होना भी आनन्द ही है। इसी प्रकार यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि जो विकार मनुष्य के मस्तिष्क में शृंगार, हास्य और वीरत्व के प्रभाव डालते हैं उनकी गणना भी आनन्द ही में है।

(ख) लोकोत्तर आनन्द

ऊपर जिस आनन्द का वर्णन हुआ, वह केवल व्यक्तिगत आनन्द से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्, यदि किसी से कहें कि आज तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है तो उससे केवल उसी मनुष्य को आनन्द होगा, औरों को नहीं। इसी प्रकार के आनन्द को व्यक्तिगत आनन्द कहते हैं। इसी तरह यदि किसी आदमी से कहें कि तेरे अमुक प्रेमी की मृत्यु हो गई है, तो उससे केवल उसी मनुष्य को शोक होगा जिसका वह प्रेमी था, अन्य को नहीं। परन्तु मानव जाति का यह प्राकृतिक स्वभाव है कि वह



एक दूसरे के दुख में दुखी और सुख मे सुखी होना चाहती है। साथ ही उसको अपने जीवन के प्रतिदिन के व्यवहार में पद-पद पर आमोद-प्रमोद की आवश्यकता का भी अनुभव होता है, और इसी कारण से वह परस्पर मिलकर रहने की भी अभिलाषिनी है। यदि ऐसा न होता तो हम आज कलकत्ता, बम्बई, पेरिस तथा लंदन जैसे मनोमुग्धकारी शहरों के स्थान में निर्जन-वन, हिंसक जन्तुओं, ऊसर भूमि और उच्च पर्वतों को ही देखते। यदि मनुष्य जाति मे यह इच्छा न होती तो उसका सर्वथा ह्रास ही हो गया होता। यही इच्छा बढते-बढते इतनी बलवती हुई कि लोगों को उसकी पूर्ति के लिए, हाट-बाजार, मणि मंदिरादि की आवश्यकता का अनुभव हुआ और आवश्यकतानुसार अपने चित्त-विनोदार्थ त्यौहार तथा मेला की सृष्टि की। बहुधा देखा जाता है कि जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण दिन के कार्यों से निश्चिन्त होजाता है तो मन बहलाने के लिए किसी चित्ताकर्षक खेल-तमाशे, गाने-बजाने इत्यादि की योजना करता है। बहुधा गावो के रहनेवाले जब अपने दिन भर के सम्पूर्ण कार्यों से छुट्टी पाते ह तो रात को या तो गाने-बजाने का रंग जमाते हैं, या कहानियों की झड़ी लगाते हैं, अथवा कबड्डी इत्यादि खेल खेलने में अपना समय बिताते हैं। अभिप्राय यह कि किसी-न-किसी तरह अपना मन बहलाते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों पर संसार भर की नाटक कम्पनियाँ, रास मंडल इत्यादि अपना पेट-पालन तथा भरण ... कर रहे हैं। लोग नाटकों के देखने, राम लीला तथा

कृष्ण-लीला के अवलोकन करने, नाटक उपन्यासादि के पढने, यहाँ तक कि कभी कभी उनके लिए खान पान तक छोड देने तक के स्वभाववाले देखे जाते ह । इसका कुछ न-कुछ कारण अवश्य है । विचार करने पर यही उत्तर मिलेगा कि उन लोगों को उपर्युक्त विषयो म आनन्द प्राप्त होता है, इसीलिये वह उनमें तल्लीन हो जाते है । बात भी ऐसी ही है । परन्तु यह आनन्द किसी एक ही पुरुष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु समस्त उपस्थित-जन-समुदाय उस आनन्द सागर मे निमग्न हो जाता है । यदि नाटक या उपन्यास हास्य का परिपोषक होगा तो सम्पूर्ण पाठक हसने लगेगे, यदि उनम करुणारस का प्राबल्य होगा तो सम्पूर्ण दर्शक अथवा पाठको को करुणा सागर म परिप्लावित होना पडेगा, और यदि उनमें वीरत्व का परिचय कराया गया होगा तो सभी पाठक वीरता का अनुभव करेगे। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी मनोरम दृश्य के देखने अथवा किसी मधुर ध्वनि के श्रवण करने या किसी प्रभावशाली साहित्य के पठन से किसी विशेष व्यक्ति को ही आनन्द की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु उससे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त व्यक्तियो को समष्टिरूप से उसका अनुभव होता है । इस प्रकार के आनन्द को 'लोकोत्तर आनन्द' कहते है । इस आनन्द को विशेष रूपसे समझने के लिए यह उचित प्रतीत होता है कि दो-एक उदाहरण कहीं से उद्धृत करें । निम्नांकित अवतरण हरिश्चन्द्र नाटक के चतुर्थाङ्क में से देते है । जिस समय महाराज हरिश्चन्द्र के प्रिय पुत्र रोहिताश्व सर्प के काट

मृतक अवस्था को प्राप्त होकर अपनी प्यारी माता के द्वारा अन्त्येष्टि संस्कार के लिए स्मशान में लाये गये थे, उनकी माता उनको इस अवस्था में देखकर अनेक प्रकार स विलाप कर रही थी, और उनके पिता अपने स्वामी-श्वपच की आज्ञानुसार उस भयावह स्मशान में मुर्दों से कर लेने के लिए चक्कर लगा रहे थे तथा उस दुखिया-शैव्या के दुखमय शब्दों को श्रवणकर दुखी हो रहे थे उसी समय अपने पुत्र को पहचानकर उन्होंने जो वाक्य कहे हैं उन्हीं का साराश नीचे गद्य में दिया जाता है .—

" हरि०—(घबडाकर) हाय ! हाय ! यह क्या ? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय ! अब तक मैं सन्देह ही में पडा हूँ ! अरे मेरी आँखें कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना, और कान कहाँ गये थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी ! हा पुत्र ! हा लाल ! हा सूर्यवंश के अकुर ! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एक मात्र अवलम्ब ! हाय ! तुम ऐसे समय म दुखिया माँ को छोडकर कहाँ गये ? अरे तुम्हारे कोमल अङ्गों को क्या हो गया ? तुमने क्या खेला, क्या खाया, क्या सुख भोगा कि अभी से चल बसे ? पुत्र ! स्वर्ग ऐसा ही प्यारा था तो मुझसे कहते, म अपने बाहुबल से तुमको इसी शरीर से स्वर्ग पहुँचा देता । अथवा अब इस अभिमान से क्या ? भगवान इसी अभिमान का फल यह सब दे रहा है । हाय पुत्र ! (रोता है) । आह ! मुझसे बढ़कर

और कौन मन्दभाग्य होगा ! राज्य गया, धन, जन, कुटुम्ब सब छूटा, उस पर भी यह दारुण पुत्र शोक उपस्थित हुआ ! भला अब मैं रानीको क्या मुख दिखाऊं ? निस्सन्देह मुझसे अधिक अभागी और कौन होगा ? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए है ? जो कुछ हमने आज तक किया यदि पुण्य होता तो हमें यह दुख न देखना पडता । हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलयुग नहीं है कि अच्छा करने बुरा फल मिले । निस्सन्देह म बडा अभागा और बडा पापी हूँ । (रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है और नेपथ्य में शब्द होता है) क्या प्रलय-काल आगया ? नहीं, यह बडा भारी असगुन हुआ है, इसका फल कुछ अच्छा नहीं— 'बुरा होना ही क्या बाकी रह गया है जो होगा ? हा ! न जाने किस अपराध से देव रूठा है । (रोता है) ।"

अब हम उपर्युक्त गद्यको गद्य-श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य दोनो अवस्थाओंमें रखकर समझते है । सच कहिये, इस गद्य के पाठक की क्या दशा होगी ? क्या उसे महाराज हरिश्चन्द्र जी के आँसुओं के साथ अपने आँसू न बहाने पडेंगे ? क्या कुछ देर के लिए वह 'कि कर्तव्य विमूढ' न हो जावेगा ? क्या उस समय उसके मन में उत्पन्न होनेवाले भाव अथवा विकार उस को तन्मय न कर देंगे ? अवश्य कर देंगे । अब यदि यही कथन रंगस्थल मे हरिश्चन्द्र वेषधारी पात्रके मुखसे सुना जावे तो

कौन पाषाण हृदय होगा जिसका मन न पिघले, जिसके रोमांच न खड़े हो जांय, अथवा जो नेत्रों से जल न प्रवाहित करे। अर्थात्, सम्पूर्ण उपस्थित जनता पर इसका प्रभाव पड़ेगा।

एक दूसरा उदाहरण नीचे और अंकित करते हैं जिससे हमारे विषय की पुष्टि होगी और यह भली भाँति सरलता-पूर्वक समझ में आजावेगा कि लोकोत्तर आनन्द क्या है?

गुरोर्गिर पच दिनान्यधीत्य, वेदान्त शास्त्राणि दिन त्रयच।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागत कुक्कुट मिश्र पादा॥

—साहित्य दर्पण

अर्थात्—यह, देखिये, कुक्कुट मिश्र आये। इन्होंने गुरू से कुल जमा पाँच दिन शिक्षा पाई है, सारा वेदान्तशास्त्र तीन दिन में पढ़ा है और तर्कशास्त्र को तो फूल की तरह सूँघ डाला है।

अपाडुरा गिरसि जास्त्रिवली कपोल
दन्तावलिर्विगलिता नचमे विषाद।
एणी दृशोयु पतय पथिमा विलोक्य,
तातेति भाषण परा खलु वज्रपात॥

एक रंगीला वृद्ध कहता है—"क्या करें! सिर के बाल सफेद हो गए, गालों पर झुर्रियाँ पड़ गई, दाँत टूट गये, पर इन सब बातों का मुझे कोई दुःख नहीं है। हाँ, जब रास्ते में चलते समय मृगनयनी स्त्रियाँ मुझे देखकर पूछती हैं—'बाबा किधर चले?' तो उनका यह पूछना मेरे सिर पर वज्र गिरता है।"

उपर्युक्त पद्यों को पढ़कर किसको हँसी न आवेगी—किस की बत्तीसी न खुल जावेगी ? जो पढ़ेगा वह एक प्रकार के अनुपम आनन्द का अनुभव करेगा। इसी प्रकार के आनन्द को हम 'लोकोत्तर आनन्द' कहते हैं। मनुष्य इस लोकोत्तर आनन्द के सदैव इच्छुक रहते हैं, और जहाँ इस आनन्द के प्राप्त होने की आशा होती है वहाँ से उसे प्राप्त करना चाहते हैं। चाहे नाटक-कम्पनियों में उसकी प्राप्ति हो, चाहे राम-लीला और रास-लीला में उसका दर्शन हो, चाहे ड्रामा, कहानियों इत्यादि के श्रवण से उसका अनुभव होता हो, चाहे किसी काव्य के पढ़ने में उस आनन्द की प्राप्ति हो, चाहे वह आनन्द शारीरिकश्रम सहन करने पर मिले, चाहे व्यय द्वारा वह सुगम हो, परन्तु उसके प्राप्त करने का प्रयत्न वे अवश्य करते हैं।

(स) रस

इस उपर्युक्त "लोकोत्तर-आनन्द" को रस कहते हैं। इसीको यदि हम विस्तार से कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं—"किसी बात का वर्णन, जो हमारे ऊपर गहरा प्रभाव जमा कर, हमारे चित्त में प्रेम, हास्य, दया, क्रोध, वीरत्व, भय, ग्लानि, अचम्भा तथा शान्ति इत्यादि विकारों में से किसी एक अथवा अधिक विकारों का प्रादुर्भाव कराता है, हम उसी को सुनना अच्छा समझते हैं, और सुनते हैं, क्योंकि वक्ता की अनूठी उक्ति ही उपर्युक्त विकारों को उत्पन्न कराती है। इसलिये

हा ! वृद्धा के अतुल धन, हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणों के परम प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
हा शोभा के सदन सम, हा ! रूप लावण्यवाले।
हा ! बेटा, हा ! हृदय धन, हा ! नेत्र तारे हमारे ॥१॥
कैसे होवे अलग तुझसे आज लो मैं बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊँ ?
हो जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरतीबार मैंने न देखा ॥२॥
यों ही बातें विविध कहते अश्रुधारा बहाते।
धीरे धीरे यशुमति लगीं चेतना शून्य होने।
जो प्राणी थे निकट उनके या जहाँ, भीत हो वे—
नाना यत्नों सहित उनको वे लगे बोध देने ॥३॥
—प्रिय प्रवास (प० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय)

उपर्युक्त पद्य महाराज कृष्ण के मथुरा चले जाने के समय उनकी माता के मुख से कहलवाये गये हैं। महाराज कृष्ण का वियोग ही इन शब्दों के कथन कराने का कारण है। सम्पूर्ण विशेषण जो महाराज कृष्ण के रूप व गुणों के द्योतक हैं, वह इस वाक्यावली के द्वारा पड़े हुए प्रभाव को और भी उद्दीप्त करते हैं। धीरे-धीरे यशोदाजी का चेतना-शून्य होना उस प्रभाव को अनुभव कराता है। इस सम्पूर्ण पद्य खंड में पश्चात्ताप सञ्चार कर रहा है। इन सब कार्य-कारणों के द्वारा शोक मनोविकार स्थित होता है। अतः यह मनोभाव का विस्तार ही रस है।

वीरोक्ति

मातु तुम सकल गुणों की खान, देख निज पुत्रों का अपमान।
शान्ति हत हो जननी सुखधाम, हुई तन छीन मलीन महान॥
रत्न मय था जो मुकुट विशाल, छोड़ वह अपनी कांति ललाम।
हुआ है कटकगण का थान, बना था जो हिम गिरि अभिराम॥
बहा है वह यमुना ओ गंग, बहो तुम नेत्रों से जल जाल।
नीरनिधि पूरित सातो आन, पहिन लो सुखद शांति की माल॥१॥

श्रवणकर तेरा करुण विलाप जगा हममें है जीवित जोश।
करेंगे अब हम सकल सुधार, त्यागकर नीच स्वार्थ का दोष॥
बनेंगे अर्जुन भीम समान, पुत्र पुनि तेरे सब बलवान।
नारि सब होंगी पूज्य महान, सुशीला, सीता, सती समान॥
करेंगे सब ही सम्भव आज, बनेंगे बलवीर गम्भीर।
करेंगे सार्थक अपना जन्म, मातु पर कर बलिदान शरीर॥२॥

—स्वरचित

यहाँ मातृभूमि की हीनता अर्थात् उसकी अवनति ही इस काव्य का अवलम्ब है। "पहिन लो सुखद शांति की माल"—इस मधुर वाक्य द्वारा उसको शांति दिलाकर अपने जोशीले वाक्यों से उसके दुख दूर करने की चेष्टा की गई है। इसी से दया का अनुभव होता है। मातृभूमि के हिमालय रूपी मुकुट का—जो किसी समय रत्न जटित था—कटकमय होजाना तथा उसकी अन्य बुरी दशायें उस साहस को, जो मातृभूमि के सेवा करने के लिए हमें मजबूर करता है, और भी भड़काती हैं। मातृभूमि के अनुरागाधिक्य के कारण स्थिरता न रहकर

सम्पूर्ण सुधार करने पर उतारू होना चपलता का सचार कराना है। इसके साथ ही साहस और ज्ञान के साथ विपत्ति में भी धैर्य्य मौजूद है जो "नीच स्वार्थ के त्याग"—इत्यादि वचनों द्वारा जल-प्रवाह की भाँति प्रवाहित हो रहा है। इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण सामग्री द्वारा साहस स्थित हुआ, अर्थात् दया-युक्त वीरत्व का विकार चित्त में उत्पन्न हुआ। इसी प्रभाव को हम रस कहते हैं, जो कारण, कार्य और सहायक सामग्री द्वारा स्थिर होकर परिपूर्ण होता है। उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा भली भाँति समझ में आ सकता है कि मनोभाव के विकार ही रस कहलाते हैं। चाहे वह भाव सुख को प्रगट करें—चाहे दुख का दिग्दर्शन करावें। चाहे दया का सचार करें—चाहे वीरत्व की छटा दिखावें। चाहे उनसे भय का अनुभव हो और चाहे वह शान्ति का परिचय करावें, अन्ततः वही 'लोकोत्तर आनन्द' की पदवी पर उपस्थित होकर रस-लक्षण प्राप्त करेंगे। इसको अन्य प्रकार से यों भी कह सकते हैं कि यदि कोई मनुष्य किसी काव्य द्वारा स्वयं आनन्दित होकर पुनः उसे सुनाकर अन्य लोगों को प्रसन्न करता अथवा अपने हृद्गत आनन्द की तरल-तरङ्गों के झकोरों से दूसरों के हृदय-कगारों को हिला-हिलाकर उन सब को भी आनन्दित करता है, और उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखा देता है—यहाँ तक कि समस्त मण्डली उस काव्य से प्रभावित होकर एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करती है, तो उसी आनन्द अथवा प्रभाव का नाम रस है।

२—रस और काव्य का सम्बन्ध

'काव्य' शब्द की व्युत्पत्ति



र्व कथन से यह भली भाँति स्पष्ट होगया कि रस क्या है। अब आवश्यकता इस बात की है कि रस और काव्य के सम्बन्ध को और समझ लें। इसके लिए यह उचित प्रतीत होता है कि प्रथम हम इस बात पर विचार करें कि काव्य क्या वस्तु है, और उसके विषय में विद्वानों का क्या मत है? शब्द-शास्त्र पारीण विद्वज्जन 'काव्य' शब्द की व्युत्पत्ति "कुङ्" धातु से जिसका अर्थ 'शब्द' है, बतलाते हैं। इसी "कुङ" से कवि बना है, जिसका पूर्ण अर्थ "शब्दों को नियमानुसार रचनेवाला है"। शब्द भी दो प्रकार के हैं—(१) ध्वन्यात्मक (२) वर्णात्मक। प्रथम से पशु-पक्षी और वाद्यादि के शब्दों का बोध होता है और द्वितीय से मनुष्य के मुख से निकले हुए शब्दों का। उक्त दोनों प्रकार के शब्द भी रमणीय और अरमणीय दो प्रकार के होते हैं। बस वर्णात्मक रमणीय शब्दों को नियमानुसार र । ही "कवि" नाम से पुकारते हैं और उसके है।

संस्कृत के विद्वानों द्वारा कथित काव्य के लक्षण

"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"।

—काव्य-प्रकाश (मम्मट भट्ट कृत)

अर्थात्—शब्द और अर्थों का निर्दोष और गुण-युक्त होना तथा अलंकारों का कहीं होना और कहीं न होना काव्य का लक्षण है।

"गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ"।

—प्रताप-रुद्र-ग्रन्थ (विश्वनाथ)

अर्थात्—गुण और अलकारयुक्त निर्दोष शब्दार्थों को काव्य कहते हैं।

"निर्दोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसात्मकं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति"॥

—सरस्वती-कण्ठाभरण (महाराज भोज)

अर्थात्—जो वाक्य निर्दोष, गुण और अलकार सहित रसात्मक हो, उसे काव्य कहते हैं।

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्"।

—चन्द्रालोक (जयदेव)

अर्थात्—जो वाक्य निर्दोष, लक्षणवती रीति, गुण और रस सहित हो, उसे काव्य कहते हैं।

"साधुशब्दार्थसंदर्भ गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये' ॥

—वाग्भट

अर्थात्—जो शब्द और अर्थ सरल हों—गुण, अलंकार, रीति और रस-सहित हों—वह काव्य है।

"अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।

—काव्यालंकार (वामनजी)

अर्थात्—दोष-रहित, गुण और अलङ्कार सहित शब्दार्थो को काव्य कहते हैं।

"इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" ।

—काव्यादर्श (दंडी)

अर्थात्—इष्टार्थ को प्रकट करनेवाला अवच्छिन्न पद-समूह काव्य कहलाता है।

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" ।

—रस गंगाधर (पंडितराज जगन्नाथ)

अर्थात्—रमणीय अर्थ का प्रकट करनेवाला शब्द काव्य है।

"रसात्मकं वाक्यं काव्यम् ।

—साहित्य दर्पण (विश्वनाथ)

अर्थात्—जिस वाक्य से लोकोत्तर आनन्द प्राप्त हो, उस वाक्य को काव्य कहते हैं।

उपर्युक्त नौ लक्षण संस्कृत के नौ महान् पंडितों द्वारा निर्मित किये गये ग्रंथों से एकत्रित किये गये हैं। यह लक्ष

श्रव्य-काव्य के है। काव्य के दो भेद हैं—(१) श्रव्य काव्य, (२) दृश्य काव्य श्रव्य। काव्य गद्य अथवा पद्य द्वारा किसी विशेष वर्णन को इस प्रकार वर्णन करने को कहेंगे, जिससे श्रोता पर गहरा प्रभाव पड़े। कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण इसी भेद के हैं। दृश्य-काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृद्गत आशय और हाव-भाव-सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। दृश्य काव्य का जो लक्षण इस विषय (शास्त्र) के मुख्य प्रवर्त्तक भरत मुनिजी ने अपने नाट्यशास्त्र में लिखा है उसे इस विषय के ज्ञाता प्रमाण-स्वरूप मानते हैं। वह लक्षण इस प्रकार है —

"मृदुललितपदाढ्यं गूढ शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्,
स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्"।

नाटक में क्या-क्या गुण होने चाहिए, कवि-कुल-तिलक भवभूति इस विषय में स्वरचित मालती-माधव नाटक की प्रस्तावना में कहते हैं —

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः,
सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं,
चित्रा कथा वाचि विदग्धता च॥

रसों की अधिकता से गम्भीर अभिनय, पात्रों के चरित्र प्रीति से युक्त और औद्धत्य चचलतादि काम के निमित्त हों — कथाएं आश्चर्यजनक हों तथा वाणी में चातुर्य हो।

उपर्युक्त श्रव्य काव्य के नौ लक्षणों में से अंत के दो को संस्कृत भाषा के पण्डित विशेष आदर की दृष्टि से देखते हैं। हमारे हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों ने भी उन्हीं माननीय विद्वानों का पदानुसरण किया है। और यह है भी उचित, क्योंकि शेष लक्षणों में कहीं-कहीं तो कोई नियम ही स्थिर नहीं होता। जैसे प्रथम लक्षण में। कहीं लक्षण इतना संकुचित कर दिया गया है जो सर्वथा अहितकर है। जैसे दूसरे लक्षण में कहा गया है कि कविता में कोई दोष न हो, यह असम्भव है। संसार में केवल ईश्वर ही निर्दोष है। कुछ लक्षणों में रस के साथ अलंकारादि वाह्याडम्बर का व्यर्थ समावेश कर दिया है। यह बात आवश्यक है कि रूप, यौवन-सम्पन्ना गुणवती स्त्री यदि भूषणादि से सुसज्जित कर दी जाय, तो वह सोने में सुगंध के समान होगी। पर माननीय और आदरणीय उसके गुण ही होंगे, अन्य अंग रागादि गौण ही रहेंगे। इसी प्रकार तीसरे लक्षण से लेकर छठवें लक्षण तक काव्य में प्रसादादि गुणों, अलंकारों, शब्दार्थ की सरलता और निर्दोषिता को सन्निवेशित करके व्यर्थ ही समय नष्ट किया गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो रसात्मक वाक्य में सब बातों का समावेश हो ही जावेगा। इसी प्रकार सातवें लक्षण में इष्ट का अर्थ इच्छा लिया गया है। कवि जो अवच्छिन्न पद-समूह अपने इच्छित भावानुकूल वर्णित करे, तो वह काव्य हो सकता है। परन्तु यहाँ सदासद की नितान्त विवेचना नहीं,

अत. अमान्य है। आठवें तथा नवें लक्षण इन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं, अत मान्य हैं। इन दोनों लक्षणों में कुछ विशेष अन्तर नहीं हैं, केवल 'शब्द' के स्थान में 'वाक्य' रखने से काम चल सकता है और दोनों लक्षण एक हो सकते हैं। यदि "शब्द" ही बना रहे तो हमारे मूल सिद्धान्त में कोई बाधा भी नहीं पड़ती, क्योंकि नवें सिद्धान्त में जो 'वाक्य" शब्द आया है वह एकवचन है। काव्य से "वाक्य समूह" की रमणीयता का तात्पर्य है, अत बहुवचन का कार्य एकवचन से ही सम्पादन किया गया है। इसी प्रकार पडितराज जगन्नाथजी का "शब्द" भी बहुवचन का द्योतक हो सकता है। शब्द-समूह को ही हम वाक्य कहते हैं, अत दोनों लक्षण एक ही अर्थ की पुष्टि करने के कारण एक ही कहे जा सकते हैं। बाबू जगन्नाथप्रसाद "भानु" ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्य-प्रभाकर में 'रसात्मक वाक्य काव्य को ही प्रधानता दी है। मराठी लेख माला के प्रसिद्ध लेखक और संस्कृत-साहित्य के महान् पण्डित चिपलूणकर शास्त्री ने अपने एक निबन्ध में "रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्" को ही काव्य का लक्षण स्वीकार किया है। सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार-रचित "अलंकार-प्रकाश"—नामक ग्रंथ में भी काव्य का लक्षण इसी प्रकार दिया हुआ है —"रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं"। इसकी टीका में 'रमणीय' शब्द का अर्थ "अलौकिक आनन्द अथवा आह्लादगत चमत्कार" ही लिया है। हिन्दी भाषा के निस्स्वार्थ सेवी, प्रसिद्ध समालोचक, मिश्रबन्धु महाशयों ने अपने "विनोद"—(हिन्दी भाषा का

अद्वितीय इतिहास) में, भूमिका के प्रसङ्ग में, काव्य के लक्षण का विवेचन करते हुए विश्वनाथजी के ही मत को प्रधानता दी है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय प० सुधाकर द्विवेदीजी ने प्रथम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में अपने हिन्दी साहित्य-सम्बन्धी निबन्ध में मम्मट के मत को न मानकर विश्वनाथ जी के ही मत को प्रधानता दी है। प० गंगाप्रसादजी अग्नि-होत्री पञ्चम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की निबन्ध-माला के "हिन्दी-कविता किस ढंग की हो"—नामक लेख में पंडितराज जगन्नाथ के मत को स्वीकार करते हैं, जिसे हम अभी ऊपर विश्वनाथजी के लक्षण के साथ ही मिला चुके हैं। अतः बहुमतानुसार वही लक्षण मान्य है। इसी प्रकार दृश्यकाव्य के दोनों लक्षण भी काव्य में रसों को प्रधानता देते हैं।

हिन्दी-कवियों की काव्य-विषयक दो-एक सम्मतियाँ

'भूषण भूषित, दूषण हीन प्रवीण महा रस में छवि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जिहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उक्तैं मुक्तैं उलही कवि तोष अनोप भरी चतुराई।
होति सबै सुख की जनिता बनिआवत यों बनिता कविताई॥"

—सुधानिधि (तोष कवि)

"रस अनुकूल गुण नाम धुनि झलकत
नाद जनितगत है, रुचिर श्रति उद गति।
जाको पान करत नरन कविसुधा कोम,
कामिनी अधर मधुमाधुरी यो ना रचति॥
जो पे ऐसे रचान की रचना करि जाने तो,
निशक सुख भवन को कवित्त कहि पैहे पति।
नाहि तो सभा में आय आगे सुकविन के तूँ,
अपने कलुष से करेजे सो निकासे मति"॥

—वदन कवि

कवि सुगति करि उपमा विचारि चार, तुक निरधारि शुभ अनरन कीजिये।
र दृढ़बन्ध करि अरथ अनूप धरि, चमक जड़ाउ जड़ शोध शुद्ध लीजिये।
नत ललित पद लेहे विश्वनाथ कहे, येहे कविरीति रीझि रीझि रसपीजिये।
क उरायक बलायक समान दान, गाहक बिना कवित्त नाहक न दीजिये'।

—विश्वनाथ

कति अनूठी आवे ललित नवीन पद, आखर जमावे आछे अमल सुढार में।
थ अनूप रूप रस दरसावे पद, नाद ना बनावे मिश्र विविध विचार में।
त गुलाल छन्द आभरण भरे और, अति रसभावे पतिवनिता विहार में।
करि आवे औ कहे प गहि आवे वेगि, सो कवि कहावे छवि पावे दरबार में'।

—गुलाल कवि

अम गणागण औ दूजे गण मित्रामित्र अनुप्रास, वर्ण बल, दग्ध चहियतु है।
ा हाव भाव केलि करणा कटाक्ष व्यंग, अलंकार नायिका को भेद लहियतु है।
ाल को मथन औ भेदाभेद ग्रन्थन को, यमक मिलाय शुभ छन्द गहियतु है।
ण न आवे, पर अपण सरस जामें, ये ता जित होय तो कवित्त कहियतु है।

—अज्ञातनामा कवि

'मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अक्षर जोरि बनावै।
प्रेम को पथ, कथा हरि नाम की, उक्ति अनूठी बनाय सुनावै।
'ठाकुर' सो कवि भाव हमें जेहि भारी सभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जो चित्त हरै सो कवित्त कहावै"।

—ठाकुर

उपर्युक्त पद्यों पर विचार करने से भली भाँति ज्ञात हो सकता है कि कोरी मात्राओं की गणना अथवा तुकबन्दी कर लेना ही कविता नहीं है। क्या केवल छन्दोमयी वाणी ही काव्य-पद की द्योतक हो सकती है?—कदापि नहीं। जब तक लोकोत्तर-आनन्द प्रदायिनी कोई अपूर्व और अनूठी उक्ति ललित पदों द्वारा व्यक्त न की जाय, जब तक वह उक्ति अपूर्व प्रभावोत्पादक न हो, जब तक वह रचना कर्ण प्रिय, कोमल, कान्त एवं मनोहारिणी न हो, जब तक उस रचना में अलंकार, छन्द विवेकादि गुणों द्वारा रस प्रवाहित न कर दिया जाय, तब तक वह काव्य-पद पर विराजमान होने का साहस कदापि नहीं कर सकती। जिस काव्य में रसिकता नहीं पाई जाती, अथवा जो रचना रुचिकर भाव प्रसूनों की गंध से सुगन्धित नहीं होती, वह काव्य तत्त्व पारंगत प्रवीण पंडितों की सभा में कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। जिस कविता में लोकोत्तर का अभाव होता है वह केवल पद्य के ही भरोसे अपना साम्राज्य उपस्थित नहीं कर सकती। केवल मीन, मृग, खंजन, कमल, चन्द्र और केहरी आदि अलङ्कारोपयोगी सामग्री द्वारा ही कोई कवि नहीं बन

सकता। जब तक रचना में कोई चमत्कार न पाया जावेगा, तब तक वह कवि समाज में कविता-रूप में परिगणित कदापि न होगी। हाँ, शुष्क और नीरस होने के कारण रचयिता को हास्यास्पद अवश्य बनावेगी।

इस उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यही निकला कि कविता का सर्वस्व एकमात्र सरस, सुबोध, एवं अनूठी उक्ति ही है, और नाना प्रकार के छन्द, प्रबन्ध, अलङ्कारादि उसके वाह्य सौंदर्य्य के सहायक तथा परिपोषक हैं। कहा भी है—"कवेरिदं काव्य, कवेर्भावं कविता"। अर्थात् कवियों से वर्णित रस-मय शब्द-समूह का नाम काव्य और कविता है। कविता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। किसी मृत एवं शिथिल भाव में सजीवनी शक्ति का सञ्चारकर उसे जीवित करना कविता का ही काम है। निस्सन्देह कविता एक स्वर्गीय पदार्थ है, जो ईश्वर के अनुपम कृपा-औदार्य्य के फलस्वरूप हमें अनेक अद्भुत पदार्थों के साथ-साथ प्राप्त हुआ है। इससे हृदय-कलिका विकसित हो जाती है—चित्त तन्मय हो जाता है। भूषण के कवित्तों को ही सुनकर छत्रपति शिवाजी की नस-नस में विद्युत् का प्रवाह होकर आश्चर्य-जनक वीरता का प्रकाश हुआ था। जयपुर धराधीश्वर महाराज जयसिंह कविवर विहारी के एक दोहे को सुनकर ही अन्तःपुर से मन्त्रमुग्धवत् दरबार में दौड़े चले आये थे। कविता ही प्रवीणराय पातुरी ने सम्राट अकबर से अपने सतीत्व

की रक्षा की थी। पृथ्वीराज ने कविता द्वारा ही हिन्दू-पति महाराणा प्रताप का प्रण रखवाकर उनके यश को ध्रुव किया था। कविता द्वारा ही शेख नाम की रंगरेजिन ने आलमकवि को विना दामो का गुलाम बना लिया था। कविता के द्वारा ही कविवर केशवदासजी प्रेतयोनि से छूटे थे। कहाँ तक कहें, संसार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो कविता द्वारा सुलभ न हो। यही सोचकर काव्यालङ्कार में मम्मटजी लिखते हैं —

> अथमनर्थोपशम सममथवा मत यैनास्य।
> निरचितरचिरसुरस्तुतिरखिल लभते तैन कवि ॥

अर्थात्—अर्थ की प्राप्ति अनर्थ का विनाश और असाधारण सुख इत्यादि, अधिक क्या कहें, कवि की वाञ्छनीय सब वस्तुएं देवताओं की रुचिर स्तुति से प्राप्त होती हैं।" इतनी विवेचना से फल यही निकला कि कविता परम प्रयोजनीय वस्तु है, उसका राज्य सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य द्वारा ही संसार में उसका अपूर्व आदर है। इसी सौन्दर्य को हम रस कहते हैं। इसी रस के द्वारा हम काव्य से महत्वाकांक्षाओं को प्राप्त करते हैं। विना रस के हम किसी पर प्रभाव न डाल सकेंगे। और जब प्रभाव ही न डाल सकेंगे तो संसार के लिए आदर्श, शिक्षा और रुचिकर कार्य शैली ही क्या उपस्थित कर सकते हैं? आदर्श सृष्टि कवि का प्रधान उद्देश्य है। कविता वही है जिसके पढ़ने से पाशविकभाव सम्पन्न मनुष्य भी अपने को

सकता। जब तक रचना में कोई चमत्कार न पाया जावेगा, तब तक वह कवि समाज में कविता-रूप में परिगणित कदापि न होगी। हाँ, शुष्क और नीरस होने के कारण रचयिता को हास्यास्पद अवश्य बनावेगी।

इस उपर्युक्त कथन से निष्कर्ष यही निकला कि कविता का सर्वस्व एकमात्र सरस, सुबोध, एवं अनूठी उक्ति ही है, और नाना प्रकार के छन्द, प्रबन्ध, अलङ्कारादि उसके बाह्य सौंदर्य्य के सहायक तथा परिपोषक हैं। कहा भी है—"कवेरिदं काव्यं, कवेर्भाव कविता"। अर्थात् कवियों से वर्णित रस-मय शब्द-समूह का नाम काव्य और कविता है। कविता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। किसी मृत एवं शिथिल भाव में सजीवनी शक्ति का सचारकर उसे जीवित करना कविता का ही काम है। निस्सन्देह कविता एक स्वर्गीय पदार्थ है, जो ईश्वर के अनुपम कृपा-औदार्य्य के फलस्वरूप हमें अनेक अद्भुत पदार्थों के साथ-साथ प्राप्त हुआ है। इससे हृदय-कलिका विकसित हो जाती है—चित्त तन्मय हो जाता है। भूषण के कवित्तों को ही सुनकर छत्रपति शिवाजी की नस-नस में विद्युत् का प्रवाह होकर आश्चर्यजनक वीरता का प्रकाश हुआ था। जयपुर-धराधीश्वर महाराज जयसिंह कविवर बिहारी के एक दोहे को सुनकर ही अन्तःपुर से मन्त्रमुग्धवत् दरबार में दौड़े चले आये थे। कविता द्वारा ही प्रवीणराय पातुरी ने सम्राट् अकबर से अपने सतीत्व

की रक्षा की थी। पृथ्वीराज ने कविता द्वारा ही हिन्दू पति महाराणा प्रताप का प्रण रखवाकर उनके यश को ध्रुव किया था। कविता द्वारा ही शेख नाम की रंगरेजिन ने आलमकवि को बिना दामों का गुलाम बना लिया था। कविता के द्वारा ही कविवर केशवदासजी प्रेतयोनि से छूटे थे। कहाँ तक कहें, संसार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो कविता द्वारा सुलभ न हो। यही सोचकर काव्यालङ्कार में मम्मटजी लिखते हैं :—

> अर्थमनर्थोपशमं सममथवा मतं यदेवास्य।
> विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥

अर्थात्—अर्थ की प्राप्ति, अनर्थ का विनाश और असाधारण सुख इत्यादि, अधिक क्या कहें, कवि की वाञ्छनीय सब वस्तुएं देवताओं की रुचिर स्तुति से प्राप्त होती हैं।" इतनी विवेचना से फल यही निकला कि कविता परम प्रयोजनीय वस्तु है, उसका राज्य सौंदर्य्य है। इस सौंदर्य्य द्वारा ही संसार में उसका अपूर्व आदर है। इसी सौंदर्य्य को हम रस कहते हैं। इसी रस के द्वारा हम काव्य से महत्वाकांक्षाओं को प्राप्त करते हैं। बिना रस के हम किसी पर प्रभाव न डाल सकेंगे। और जब प्रभाव ही न डाल सकेंगे तो संसार के लिए आदर्श, शिक्षा और रुचिकर कार्य-शैली ही क्या उपस्थित कर सकते हैं? आदर्श सृष्टि कवि का प्रधान उद्देश्य है। कविता वही है जिसके पढ़ने से पाशविक भाव सम्पन्न मनुष्य भी अपने को

मनुष्यत्व में परिवर्तित कर सके और पुनः मनुष्यत्व में देवत्व को स्थापित करदे। ऐसे ही काव्य को हम आदर्श काव्य कह सकते हैं। यह वही संजीवनी शक्ति है जिसके द्वारा कोई जाति अवनति के महान् गहरे तथा प्रगाढ़ांधकार-संयुक्त गर्त में गिरकर भी उन्नति के उच्चतम शिखिर पर पहुच सकती है। कवि का कौशल इसीमें है कि वह सृष्टि को कुछ लाभ पहुचावे, बिना किसी प्रकार का कष्ट सहन किये हुए ही उससे शिक्षा प्राप्त हो। नैतिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति काव्य-सृष्टि का केवल एक अङ्ग है। उसकी परिपुष्टि के लिए कवि-कौशल की आवश्यकता है, और यह कौशल कवि की अलौकिक काव्य-कल्पना है, इसी के द्वारा कवि सब कार्य सिद्ध कर सकता है। जिस प्रकार आदर्श सृष्टि के लिए काव्य की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य के लिए रस की आवश्यकता है। अत रस ही प्रधान है और उससे काव्य का निगूढ सम्बन्ध है।

जिस कविता के विषय में इतनी विवेचना हो चुकी उसके ज्ञान की दृढता के लिए यह उचित समझ पडता है कि उसके कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाय।

काव्य के कुछ उदाहरण

उपर्युक्त वाद-विवाद द्वारा यह सिद्ध हो गया कि "जिस देश की जो भाषा हो उसी में कुछ विशेष अर्थ दिखलाने को—

जिससे उस देश के श्रोताओं को एक विशेष आनन्द प्राप्त हो—काव्य कहते हैं"। कर्पूर-मंजरी में लिखा है —

"अत्थ विसेस कव्वो भासा जो भोदि सो भोद"

अर्थात्—भाषा कुछ हो, उसमें अर्थ विशेष को काव्य कहते हैं।

शब्द के विशेष अर्थ से श्रोताओं के कान को एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है। यही कारण है कि सुन्दर वचन को लोग कर्णामृत अथवा श्रवणामृत और उसके विरुद्ध वचन को कर्ण-कटु कहा करते हैं। विशेष अर्थ रखनेवाला चाहे गद्य हो, चाहे पद्य, उसी को काव्य कहेंगे।

गद्य के उदाहरण

साधारण गद्य, जो विशेष अर्थ से वंचित है।

आप कहाँ से आते हैं और आप का क्या नाम है? इसके बदले—

विशेषार्थ सूचक

"अनायि देशाक्तमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशा वनस्य।

अव्याप्तनिर्लेत जनेत सत्संगदाप्त सचेत तथा कृतार्थः।

अर्थात्—"श्रीमान्, आज आपने किस देश की दशा वसन्त-मुक्त वन की सी की है, और आपके संसर्ग से कृतार्थ मैं मन्द भाग्य क्या आपका नाम सुनने का अधिकारी नहीं हूँ?"

कहिये, इन वचनों को श्रवणकर कौन पाषाण हृदय होगा, जो उत्तर न देगा। इसका कारण केवल यही है कि वक्ता के वाक्य साधारण बोल-चाल के शब्दों से कुछ विशेषता रखते

गद्य-काव्य का दूसरा उदाहरण

साधारण बोल-चाल

"राजा दोपहर होगया । उठो, चलो, नहाओ" । इसी को—

काव्य में इस प्रकार कहेंगे—

"हे नाथ, दोपहर की गर्मी से जमीन गर्म होगई । वह अब आपके स्नान से शरीर के गिरे हुए पानी को पीना चाहती है" । जैसा कि महाकवि कालिदास ने भी लिखा है—

"त्वामालिख्य प्रणय कुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥

—उत्तर मेघदूत श्लो० ४२

अपनी प्रणयनी के वियोग की ज्वालमालाओं से सतत यक्ष मेघ-द्वारा उसे सदेशा भेजता है कि मैं पत्थर की शिला पर जिस समय, तेरी मूर्ति गेरू से लिखकर चाहता हूँ कि इस प्रेम-कलह के कारण रूठी हुई अपनी प्रियतमा को पैर पड़कर मनाऊ, वैसे ही आँसुओं की झड़ी लग जाने के कारण आँखें बन्द हो

जाती है। सो हे प्रिये! कठोर दैव से मूर्ति में भी हमारा तुम्हारा मिलना नहीं सहा जाता।

(४)

"आयान्तियान्ति च परे ऋतव क्रमेण, मत्र जातमत्र ऋतु युग्म मगत्वरन्तु।
वीरधवीरधवलेनविना नितान्त, वर्षाविलोचन युगे हृदयेनिदाघ॥"

—वस्तुपाल

अपने स्वामी वीरधपाल के मरने पर उसका मन्त्री, कवि वस्तुपाल इस प्रकार दुःख प्रकाशन करता है—"और ऋतु में तो यथाक्रम आती ही जाती रहती हैं, पर वीरधपाल के विना अब जो दो ऋतु आगई हैं सो कभी जानेवाली हो नहीं—नेत्र-युग्म में तो वर्षा सदा के लिए उपस्थित होगई है और हृदय में सदा के लिए निदाघ!

(५)

"काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा, सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः, प्राप्ताशरन्नववधूरिव रूपरम्या॥"

—कालिदास

भावार्थ—नव विवाहिता वधू की तरह रमणीय रूपवाली शरदऋतु आ गयी। काश के फूल इसकी पोशाक है। खिला हुआ मन मोहक कमल समूह इसका मुख है। उन्मत्त हंसो का शब्द इसके नूपुरों की ध्वनि है। पके हुए धान के खेतों की शोभा इसके पतले गात की शोभा है।

(६)

"हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः ।
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ॥
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा ।
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि" ॥

—भवभूति (उत्तर रामचरित)

सीताजी के वियोग से दुखित रामचन्द्र जी कहते है—हा देवि ! हृदय फटा जाता है, देहबन्ध (सन्धियाँ) टूटा जाता है। संसार सूना है, हृदय में निरन्तर जला जाता हूँ। आत्मा कम्पित होकर अन्धकार में डूब रहा है। मोह घेरे लेता है। मै अभागा क्या करूं ?

(७)

यदि वाऽर्चनीयतम एष किमपि भवतां पृथा सुता ।
वारिरवनिपतिभिर्निखिलैरवमाननार्थमिह किं निमन्त्रितैः ॥

—माघ (शिशुपाल वध)

अर्थात्—"हे पाण्डवों ! यदि श्रीकृष्ण किसी प्रकार आप लोगों के पूज्य भी है तो फिर भला अपमान के लिए बुलाये हुए सम्पूर्ण पृथ्वी के राजाओं से क्या प्रयोजन ?"

उपर्युक्त उदाहरण, जो काव्य के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये हैं, प्राय संस्कृत के सुविख्यात माननीय कवियों के मुखों से ही उद्धृत हुए हैं। हिन्दी और संस्कृत का घनिष्ट सम्बन्ध है। बहुधा संस्कृत के भाव हिन्दी में भी आये हैं। इन महा-कवियों की भाव लहरों ने हिन्दी भाषा के कवियों द्वारा उक्त

भाषा को भी अपनाया है। अत दो एक उदाहरण, नमूने के पर, उपस्थित कर दिये गये हैं। अब हिन्दी काव्य के कुछ उदाहरण नीचे अंकित करते हैं —

(१)

कुँवर कुँवरि कल भावरि देहीं। नयन लाभ सब सादर लेहीं॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी॥
राम सीय सुदर परछाहीं। जगमगाति मनि खम्भन माहीं॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखहिं राम बिआह अनूपा॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

निखिल काव्य तत्त्व मर्मज्ञ महात्मा तुलसीदासजी ने रामचन्द्र तथा सीताजी के विवाह के समय की भाँवरों का वर्णन किस मनोहरता तथा हृदय ग्राहकता के साथ किया है कि जिसको पढकर अलौकिक प्रेमाम्बुधि में निरन्तर गोते लगाने पर भी मन तुप्ति नहीं होती। वह कहते हैं —

'रामचन्द्र तथा सीता मनमोहनी भाँवरे दे रहे हैं। उनके दर्शनों से दर्शक अपनी आँखों को सुख देते ह। उस सुदर जोडी का वर्णन नही किया जा सकता। उनकी समता देने के लिए सम्पूर्ण उपमाए थोडी ह। विवाह-मण्डप के खम्भों में जडी हुई मणियो म उनकी परछाँई से ऐसा प्रतीत होता है कि कामदेव तथा रति इस उत्सव के देखने की लालसा से आये हैं। लालसा और सकोच दोनों का बाहुल्य होने के कारण कभी तो प्रकट हो जाते ह, और कभी छिप जाते हैं।"

पाठक ! मणियों पर परछाँई का पड़ना और हट जाना स्वाभाविक है, परन्तु कवि ने अपनी अनूठीउक्ति-द्वारा कैसा मनोहर रूप दिया है कि जिसको सुनकर एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

(२)

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा करौ यहि रिस के मारे, हो खेलन नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात॥
गोरे नन्द, जसोदा गोरी,-तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब, सिखे देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस-समेत लखि, जसुमति मन अति रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूरस्याम मो गोधन की सौं, हौ माता तू पूत॥"

—सूरदास

उक्त कविता में भाव किस स्वाभाविकता और सरलता के साथ प्रदर्शित किये गये हैं, जिनको पढ़-सुनकर चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। बाल्यावस्था का भोलापन किस उत्तमता के साथ चित्रित किया गया है, साथही वात्सल्य के दिखाने में भी अपूर्व कौशल से काम लिया है और गोधन की सौगन्द खिलाकर तो मानो स्वाभाविकता की सीमा को दुगणित कर दिया है।

(३)

कोइ कहै कुलटा कुलीन अकुलीन कहै,
कोई कहै रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौ।
कैसो परलोक, नरलोक वरलोकन मे,
लीन्हों मैं अलोक लोक लोकन से न्यारी हौ।
तन जाहि मन जाहि, देव गुरुजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरत न टारी हौ।
वृन्दावनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीतपटवारी वहि मूरति प वारी हौ॥

—देव (प्रे० च०)

उक्त छन्द में कवि ने प्रेमोन्मत्तता का क्या ही उत्तम चित्र खींचा है! स्वार्थ को तो उठाकर खूँटी पर लटका दिया है। किस गम्भीरता के साथ प्रेम का वर्णन किया है कि देखते ही बनता है। यह प्रेम का बहुत ही उत्कृष्ट वर्णन है। इससे कवि के प्रेम-सम्बन्धी विचार की प्रौढ़ता का पता चलता है।

(४)

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाय॥

—बिहारी (सतसई)

उक्त छन्द में पीयूषवर्षी बिहारीलालजी ने मानव-प्रकृति का क्या ही अच्छा चित्र खींचा है! कम से कम घंटे भर की बातचीत का समावेश एक दोहे में ही कर दिखाया है। थोड़े शब्दों में विशेष भावों का भरना कोई इनसे सीखे।

(५)

यामिनि ज्यों चन्द सों, जामिनि चन्द सों, दामिनि पावस मेघ-घटा सों।
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों॥
"भूषन" भूषन सों तरनी, नलिनी नव पूषन, देव प्रभा सों।
जाहिर चारहु ओर जहान लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों॥

—भूषण

कवि ने क्या ही उत्तम उपमाएं "खुमान सिवा" के सादृश्य के लिए एकत्रित की हैं!

(६)

हरि कर मदन, सकल दुखखंडन,
मुकुर महिमंडल को कहत अखंड मति।
परम सुवास पुनि पीउष निवास परि
पूरन प्रकास, केसोदास भू-अकास गति॥
घरन मदन जैसो श्री जू को सदन जहि
सोदर सुभोदर दिनेस जू को मीत अति।
सीता जू के मुख-सुषमा की उपमा को कहि,
कोमल न कमल, अमल न रजनिपति॥

—केशवदास

कवि ने सीताजी के मुख की प्रशंसा में क्या ही उत्तम छन्द कहा है!

(७)

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है।

कहे पद्माकर एकन्त चलि, चौकी चढ़ि
हारन के बारन तें फन्द बन्द छोरे है ॥
बॉगैर की घमा सुजम्म दुनीचे शारि,
आ गीहू उतारि सुकुमारि मुख मारे है।
दन्तन अधर शारि, दनरि भइ सी चापि,
चापर पचापर के कर्नार निचोर है ॥

—पद्माकर

कवि ने क्या ही हृदय ग्राहिणी कविता की है ! वास्तविकता का उल्लेख ता पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। भीगे वस्त्रों को निचोडते समय का फोटो कवि ने क्याही सफाई के साथ खींचा है कि उसमें कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी। एकान्त में जाकर केशों से मुक्ताहार सुलझाने का वर्णन क्या ही स्वाभाविक है ?

रस और काव्य का सम्बन्ध

उपर्युक्त पद्यों के पठन से ज्ञात होगा कि अलौकिक आनन्द-रस के सम्बन्ध से ही उनको काव्य कहते हैं। यदि उनमें यह गुण न हो तो उन्हें काव्य कहने के लिए कोई कारण न होगा। बिना भावुकता के कविता ही क्या, चाहे संसार भर के खटराग जोड़ लो, जब तक उसमें सरसता न हो तब तक वह कविता कदापि नहीं। बाह्याडम्बर उत्तम काव्य में सहायक अवश्य है, परन्तु आवश्यक नहीं। हमने यह माना कि जो कवि अलङ्कारादि को खोज खोजकर अपनी कविताओं में

भरते है वह परिश्रम तो अवश्य करते है, परन्तु रस का सामयिक अभाव होने के कारण कृत-कार्य्य नही होते। अलकार वही उत्तम समझे जाते है जो भाव पूर्ण कविता के साथ आते है। विना भाव को समझे-बूझे कविता करनेवालो की ठाकुर कवि ने खूबही धूल उडाई है। वह कहते है —

सीख लयो मीन मृग खजन कमल चन्द,
सीख लयो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीख लयो कामधेनु कल्पवृक्ष चिंतामणि
सीख लयो मेरु औ कुमेरु दर आनो है॥
'ठाकुर' कहत याकी बडी है कठिन रीति,
भूलकर याको नहीं बाँधियत नानो है।
देख सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित कीबो खेलकर जानो है॥

वास्तव मे जिस कविता मे कोई अनूठी उक्ति नही, जिस काव्य में कोई रस नहीं, वह काव्य मृत है।

इतने कथन से अब काव्य और रस का सम्बन्ध स्पष्ट हो गया और सिद्ध होचुका कि जिस काव्य में रस नहीं वह काव्य काव्य ही नही। जिस शरीर मे प्राण नही, वह शरीर ही किस काम का? जब तक शरीर में प्राण स्थित है, जब तक शरीर और आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थित है, तभी तक सम्बन्धी उससे प्रीति करते हैं तथा शत्रु वैर-भाव रखते हैं। ज्यों ही यह सम्बन्ध विछिन्न हुआ त्यों ही उसे बाहर पटकने की

चिता हुई । इसी प्रकार नीरस कविता को भी उठाकर पढ़ने को जी नहीं चाहता। यही कारण है कि काव्य-तत्त्वपारीण महानुभावों ने काव्य को शरीर से और रस को आत्मा से समता दी है। इसी प्रकार जिस पुष्प मे गध नहीं वह केवल कहने और देखने का ही पुष्प है। जिस अग्नि मे तेज न होगा, भला उसे अग्नि-संज्ञा कौन देगा ? जिस जल मे प्रवाह नहीं, उसे जल कौन कहेगा ? बस यदि हम इन्हीं सम्बन्धो को लेकर काव्य को पुष्प, अग्नि और जल कल्पित करे, तो रसको गध, तेज और प्रवाह से समता देनी पडेगी। काव्य एक रथ है और रस उसके पहिये। कहिये, विना पहियो के रथ कैसे चल सकता है ? साराश यह कि यदि हम काव्य भवानी को रस-रुद्र के अर्द्धाङ्ग मे विराजमान कल्पित करे तो किञ्चिन्मात्र अत्युक्ति न होगी । महाकवि देवजी ने अपने रचे हुए उत्कृष्ट ग्रन्थ "काव्य-रसायन" मे रस-निर्णय करते समय शब्द, काव्य और रस मे निम्नलिखित सम्बन्ध दिया है —

काव्य-सार शब्दार्थ को, रस तेहि काव्य सुसार ।
सो रस बरसत भाव बस अलकार अधिकार ॥
ताते काव्य सुमुख्य रस, जाम दरसत भाव ।
अलकार शब्दार्थ के, छन्द अनेक सुभाव ॥

—देव (काव्य रसायन)

देवजी के मतानुसार यदि हम कविता को वृक्ष मानले, तो रस उसके फलों का रस होगा ।

साहित्य, संगीत, काव्य और रस का पारस्परिक सम्बन्ध

इससे प्रथम कि हम साहित्य, काव्य, संगीत और रस का पारस्परिक सम्बन्ध बतलावें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी परिभाषाओं पर विचार कर लें। काव्य और रस की परिभाषाओं पर पीछे विचार किया जा चुका है, अब साहित्य और संगीत पर विचार करते हैं।

साहित्य शब्द का अर्थ बड़ा ही जटिल होगया है। इसके अर्थ नाना प्रकार से किये जाते हैं। यही कारण है कि इसका अर्थ बतला देना तनिक कठिन होगया है। लोग साहित्य दर्पण, काव्य-प्रकाश और रस-गंगाधर इत्यादि को तो साहित्य-ग्रंथ कहते हैं, परन्तु रघुवंश और कुमार-सम्भव को इस गणना में गन्तव्य नहीं समझते। वह उन्हें काव्य-संज्ञा प्रदान करते हैं। यद्यपि उपर्युक्त तीनों ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है और केवल साहित्य, काव्य और रस शब्द के संयोग-द्वारा उनका नाम करण किया गया है। इसका कारण यही है कि वे उक्त दोनों विषयों में भेद समझते हैं, पर वास्तविक बात यह है कि साहित्य शब्द रस, गुण, अलंकार, रीति इत्यादि के निर्णायक ग्रंथ में एक प्रकार से रूढ़ि होगया है। इसीसे पंडित लोग काव्य-ग्रंथ को साहित्य ग्रंथ कहने में हिचकिचाते हैं। इसी प्रकार लोग केवल पद्य को काव्य कहते हैं, गद्य को नहीं। गद्य चाहे जितना भाव-और रस पूर्ण क्यों न हो, उनकी दृष्टि में वह काव्य नहीं,

और पद्य केवल चमत्कारिक पदावली द्वारा ही उनसे इस महत् पद को प्राप्त कर लेना है। यह केवल भ्रम है। सच पूछिए तो साहित्य और काव्य एक ही वस्तु है, केवल नाम-मात्र का अन्तर है। किसी भाषा में हो, किसी शैली में हो, चाहे गद्य में हो, और चाहे प. में हो, केवल रसवती रचना को ही साहित्य या काव्य कहते हैं।

'सहित' शब्द से—'ष्यञ्' प्रत्यय करने से—साहित्य' शब्द बना है। प्रकरणानुसार इस शब्द के कई अर्थ हैं। यथा—

(१) साहित्य मेलनम्। (२) परस्परसापेक्षाणा तुल्य रूपाणा युगपदेक क्रियान्वयित्व साहित्यम्—इति श्राद्धविवेक। (३) तुल्य वदेक क्रियान्वयित्व बुद्धि विशेष विषयित्व वा साहित्यम्—इति शब्द शक्ति प्रकाशिका। (४) मनुष्यकृतश्लोकमय ग्रन्थ विशेष साहित्यम—इति शब्द कल्पद्रुम।

साहित्य के इतने अर्थ होनेपर भी यथार्थत निर्दोष शब्दार्थ, गुण, रस, अलङ्कार, रीति विशिष्ट विषय को ही साहित्य कहते है। इसका दूसरा नाम काव्य भी है। इसके ये दो भेद है—(१) लक्ष्य लक्षणात्मक (२) केवल लक्ष्यात्मक। पहले मे साहित्य दर्पण आदि और दूसरे मे रघुवश इत्यादि है। एक अनुशासक है और दूसरा अनुशिष्ट। प्रतिदिन के व्यवहार मे पहला 'साहित्य' शब्द से और दूसरा 'काव्य' शब्द से व्यवहृत होता है। साधारणत 'साहित्य' शब्द का अर्थ होता है—सहितस्य भाव साहित्य। अर्थात्—साथ का जो भाव है वही साहित्य है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो हित

साथ वर्तमान है वह हुआ सहित। उसका जो भाव है वह हुआ साहित्य । अर्थात्—जो हमारे हितकर भाव है, वही है साहित्य। इस प्रकार काव्य, इतिहास, पुराण, भूगोल, विज्ञान इत्यादि सभी विषय साहित्य मे परिगणित होंगे। अब साहित्य की व्याख्या पर विचार कीजिए। हम लोगों की आत्मा चिदानद-स्वरूप है। प्रीति, स्नेह, दया और भक्ति ही सात्त्विक भावा की अवस्थाए हे । इन भावों के प्रकाशन मे प्रकृत काव्य ही हमारा सहायक है। आत्मा से प्राणित जो कोषत्रयात्मक सूक्ष्म शरीर है उसमे हम श्रेष्ठ काव्यो के अनुशीलन द्वारा सद्भावो का सग्रह कर सकते हें । काव्य ही लोकोत्तरानन्द का दाता है। यद्यपि दर्शनादि शास्त्रो द्वारा हम ज्ञानोपार्जन कर सकते है, परन्तु आनन्द और सौन्दर्य के विशिष्ट साम्राज्य-पथ पर लेजानेवाला काव्य ही है। अत दर्शनादि की गणना साहित्य मे होते हुए भी प्रधानता काव्य को हो दी जावेगी। इस प्रकार साहित्य और काव्य मिलकर एक हो जावेंगे।

अब सङ्गीत पर थोड़ा सा प्रकाश और डालना है। अभी ऊपर हम कह आये ह कि सभो हितकारी विषय साहित्य के अन्तर्गत है। इसी सिद्धान्त के अनुसार लोगो ने सगोत को भी साहित्य मान लिया है, यद्यपि इस मत के विरुद्ध महाराज भर्तृहरिजी ने एक श्लोक द्वारा अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं —

"साहित्य सगीत कलाविहीन साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीन ।
तृणं न खादन्नपि जीवमान तद्भागधेय परम पशू नाम्"॥

—सुभाषित०

तथापि यह अवश्य कहा जावेगा कि साहित्य और संगीत का मेल बहुत पुराना है। मानव-जाति का प्राचीनतम साहित्य भंडार वेद स्वयं संगीत रूप में है। मीमांसकों ने अपने गूढ़ विचार ग्रथित करते हुए शब्द को ब्रह्मत्व का पद दिया है, क्योंकि शब्द परमात्मा की आद्यसृष्टि आकाश का गुण है, इस कारण अन्य तत्त्वों की अपेक्षा शब्द सबसे प्रथम तत्त्व के निकट का सम्बन्धी है। इसी कारण शब्द को शब्द ब्रह्म या नाद-ब्रह्म कहने की प्रथा चली। शब्द में ब्रह्म व्यापकता का गुण होने के कारण आदि शब्द-महोदधि रूप वेद की श्रेष्ठता मानी जाती है, यहाँ तक कि संगीत को पञ्चमवेद कहा है।

जब किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करने के हेतु शब्दों का उपयोग मात्रा, गण इत्यादि के नियमों को छोड़कर किया जाता है तब उस शब्द-रचना को गद्य कहते हैं, और जब मात्रा, गण इत्यादि के अनुसार शब्द-प्रबन्ध होता है तब उसे पद्य कहते हैं। इसी प्रकार षड्ज, ऋषभ, गान्धार इत्यादि स्वरों के नियमों के अनुसार जब पद्य-रचना होती है उसे संगीत कहते हैं। उक्त तीनों शब्द रचनाओं में संगीत का गौरव अधिक है। इसका कारण यह है कि गद्य तथा पद्य की रचनाओं में सरसता के साथ-साथ भावुकता अथवा अर्थ बोधकता का होना प्रथम गुण है, शब्द रचना गौण रूप में देखी जाती है। सुन्दर शब्द होने पर भी यदि अर्थ हीन है तो उनका कुछ भी आदर नहीं। परन्तु अर्थ बोधकता की प्रधानता न रखते हुए भी केवल माधुर्य से

गुण से सुरीला गाना उस गीत में वर्णित रस को इतना सरल और आकर्षक बना लेता है कि मनुष्यों की तो कौन कहे, अबोध बालकों तथा पशु-पक्षियों तक को विमोहित कर लेता है। यथा—"सुनि वीणा की मधुरता, मारे जात कुरङ्ग"। सगीत में तल्लीनता का सर्वोपरि गुण इतनी अधिकता के साथ विद्यमान है कि ऋषि, मुनि, यती और योगियो तक को भगवद्भक्ति में उसका सहारा लेना पडा है। प्रभावशाली वक्तृत्व के लिए पद्य और सगीत की आवश्यकता पडती ही है। यही कारण है कि हर मेला, दशहरा तथा उत्सव काव्य तथा सगीत के बिना फीका जान पडता है।

बस उपर्युक्त कथन का भाव यह हुआ कि साहित्य और काव्य वास्तव में एक ही है। इसलिए साहित्य का रस के साथ वही सम्बन्ध है जो काव्य के साथ बताया जा चुका है। अब यदि हम सगीत को भी उसी श्रेणी में रक्खें तब तो उसका भी रसों के साथ वही सम्बन्ध होगा जो काव्य के साथ है, और यदि इसके विरुद्ध भर्तृहरिजी के मतानुसार सगीत को साहित्य से पृथक् मान तब भी उसमें रस उतना ही आवश्यक है जितना पद्य के लिए। प्रथम तो सगीत स्वय ही मधुर होता है, इसके साथ ही यदि उसमें सुबोध और सरस शब्दों का समावेश हो, तो क्या कहना है।—मणि-काञ्चन का साथ हो जावेगा।

वास्तव मे यह गद्य, पद्य और सगीत मानो त्रिपथगा है, " रस प्रवाहित होते रहते हैं।

काव्य और रस का सम्बन्ध कब से है ?

इस बात के समझने के लिए कि काव्य और रस का सम्बन्ध कब से है, पहले यह विचारना उचित है कि काव्य के जन्म लेने का कारण क्या है, उसने कहाँ जन्म लिया और कविता की प्रभा का विकाश कवि-हृदय पर कब पड़ा करता है ? संसार के विद्वानों में अनेक प्रकार के वाद-विवाद होने के पश्चात् यह निश्चय हो चुका है कि संसार की सम्पूर्ण भाषाओं में संस्कृत भाषा प्राचीनतम है, अत उसका काव्य ही सबसे प्राचीन काव्य है। संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकजी हैं। अतः उन महानुभाव के मुख से निकला हुआ सर्व-प्रथम काव्य ही प्राचीनतम माना जायगा और जिस दिन उक्त काव्य उद्भूत हुआ वही दिन काव्य का जन्म दिन कहा जायगा। अब यह और देखना है कि उक्त मुनि की प्रवृत्ति इधर किस प्रकार हुई।

प्रात काल का समय था। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु का सचार हो रहा था। पुष्प खिलकर तपोभूमि की शोभा को द्विगुणित कर रहे थे। बटुक लोग बड़े आनन्द के साथ वेदों का पाठ कर रहे थे। अनेको पक्षी अपने कलरव से वन को गुञ्जायमान कर रहे थे। यज्ञ का पवित्र धुआँ गगन मडल में फलकर दिगन्त को सुगन्धित कर रहा था। हिरणियाँ अपने बच्चों को साथ लिये स्वतत्रता के साथ विचरण कर रही थी, और कभी-कभी अपनी भोली चितवन से पथिको के मन में प्रेम का सचार करती थीं। पास हिर्नी, [illegible]

तमसा नदी अपने निर्मल नीर की छटा दिखाती हुई आनन्द के साथ प्रवाहित हो रही थी। मुनि-पत्नियाँ घड़ों से जल भर-भरकर ले जाती थीं। छोटे-छोटे बालक अनेक चित्ताकर्षक खेलों की सृष्टि करके दर्शकों के चित्त पर एक अनुपम प्रभाव डाल रहे थे। ऐसे मनोहर समय में भगवान् वाल्मीकजी इसी पवित्र भूमि से होकर विचर रहे थे। वायु से हिलकर वृक्ष पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों ऋषि के स्वागत में हिल-हिलकर प्रेम प्रकाशन करते हुए पुष्पांजलि दे रहे हैं। पशु-पक्षियों ने पारस्परिक वैर-भाव परित्यागकर प्रेम का संचार किया था। इस समय मुनि के दर्शनों की लालसा से सब कोई प्रसन्नता-पूर्वक उधर को चले आ रहे थे। मुनि इन सम्पूर्ण कार्यों का निरीक्षणकर एक असाधारण आनन्द का अनुभव कर रहे थे। इतने ही में सहसा एक कारुणिक ध्वनि सुनाई दी—एक हृदय-विदीर्णकारी चीत्कार ने वन भूमि को चारों ओर से गुँजा दिया। मुनि उस शब्द को सुनकर चौंक पड़े, निगाह फैलाकर देखा तो कुछ दूर पर एक क्रौंच (पक्षी) बाण से बिंधा हुआ पड़ा था। उसके शरीर से अविश्रान्त रक्तधारा प्रवाहित हो रही थी और वह अपने जीवन की अंतिम लीला का अनुभव कर रहा था। उसकी प्रियतमा (मादा), अपने पर फैलाये हुए बड़ी करुणा से चीत्कार करती हुई गगन मंडल को अधीर कर रही थी। निकट ही एक वर्णवाला निषाद, साक्षात् मृत्युरूप धारण किये हुए अप

रक्त नेत्रों द्वारा अपने लक्ष्य की सफलता सूचित करता हुआ प्रसन्नता-पूर्वक अपने शिकार की ओर टकटकी लगाये हुए देख रहा था। इस कारुणिक दृश्य को देखकर मुनि के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसको गुप्त न रख सके। तुरन्त ही उन्होंने निम्नलिखित शब्दों द्वारा निषाद के उस निन्द्य काम का विरोध किया, उसे धिक्कारा और साथ ही उस पक्षी के साथ यह सहानुभूति प्रकट की —

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्' ।।

—वाल्मीक (रा० बा०)

अर्थात्—हे निषाद ! तू चिरकाल तक प्रतिष्ठा लाभ न कर सकेगा, क्योंकि तूने क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से कामोन्मत्त हुए एक का वध किया।

पाठक ! इसी शब्दमयी वाणी का नाम काव्य हुआ। इस प्रकार उस प्राकृतिक दृश्य द्वारा उत्पन्न हुए मनोविकार को मुनि ने बड़े अचम्भे के साथ अनुभव करके उसे लाभकारी समझ कार्य-रूप में परिणित किया, जिसके फल स्वरूप रामायण का प्रकाश हुआ।

ऐसे ही प्रभावशाली दृश्योंद्वारा कवि की वाणी को कविता करने में सहायता मिलती है। जो कवि प्रथम स्वयं किसी प्रभाव से प्रभावित हो लेता है, वही अपनी वाणी-द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सकता है। जिसने उत्तमोत्तम प्राकृतिक दृश्य देखे हैं, जिसने अपने हृदय को प्रभावित किया है

वही दूसरों के हृदयों में अपने काव्य को स्थान दिला सकता है, अन्य की सामर्थ्य नहीं। जिस मनुष्य के हृदय पर जितने शीघ्र-शीघ्र नाना प्रकार के प्रभाव पड़ेंगे, उतनी ही शीघ्रता से वह कवि बनेगा। प्रभावोत्पादक अवसर मनुष्य को कवि बनाने के लिए बहुत ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। प्राय बड़े-बड़े कवीश्वरों के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह इन्हीं सुअवसरों द्वारा उत्तम कवि बने हैं। नाना प्रकार के वन उपवनो की अनुपम शोभा मनुष्य को सौंदर्य्योपासक बनाने में सहायक होती है। जो लोग इस सौन्दर्य के साम्राज्य में भ्रमण कर चुके हैं वह दूसरों को भी प्रेम पूजक बना सकते हैं। जिन्होंने सिंह, व्याघ्र, भेड़िये, भालू इत्यादि हिंसक जन्तुओं की भयकरता का अनुभव किया है, वह दूसरों के हृदयों में भी अपने भयकर दृश्यों के वर्णना द्वारा भय का सचार करा सकते हैं। जिन्होंने उच्च से उच्च पर्वतों, उनकी कन्दराओं और अगम्य सागरों का निरीक्षणकर अपने को आश्चर्य-चकित किया है, वह दूसरों को भी अपने ऐसे दृश्यों के वर्णनों द्वारा चमत्कृत कर सकते हैं। जो लोग नित्यप्रति आमोद प्रमोद का अनुभव करते रहे हैं, जिनको पारस्परिक प्रेम द्वारा अपने मनोरंजन की सामग्री मिलती रही है, वही अपने वर्णनों द्वारा दूसरों का मनोरंजन कर सकते हैं। इसी प्रकार जिन लोगों के मनों में किन्हीं अनुपम ध्यानों के द्वारा शान्ति प्राप्त हो चुकी है, वही दूसरों को अपने वाक्‌विलास द्वारा शान्त कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि बिना लोकोत्तर आनन्द का

बिये न कोई कवि बना और न बन सकता है। काव्य

के जन्मकाल से आज पर्य्यंत लोकोत्तर आनन्द और काव्य का नैसर्गिक सम्बन्ध चला आता है और जब तक संसार में वह रहेगी तब तक यह सम्बन्ध भी अवश्य ही रहेगा।

उपर्युक्त विचार की मीमांसा करने पर यही पता चलेगा कि कविता देवी का शुभागमन एक मुनि के हृदय से, एक पक्षी की शोचनीय दशा द्वारा उत्पन्न हुए कारुणिक भाव की जागृति से हुआ है। यह करुणोत्पादक भाव क्या था? इसी भाव को हम रस संज्ञा दे सकते हैं। और, ऐसी अवस्था में हमें यह कहना पड़ेगा कि प्रथम उक्त महात्मा के हृदय में यदि उक्त पक्षी तथा व्याधा कारण स्वरूप उपस्थित न हुए होते, कार्य स्वरूप उस पक्षी का मृतक शरीर तथा सहायक उस पक्षी की प्रेम-क्रीड़ा तथा उसके शरीर से रक्त संचालन होते हुए देखकर यदि विषाद नामक मनोविकार उत्पन्न न हुआ होता तो दया का संचार कदापि न होता। इससे यही सिद्ध हुआ कि काव्य से प्रथम कारण, कार्य और सहायक रूप से रस की सामग्री उपस्थित होकर रस का संचार होता है और पुनः वही रस शब्दों (काव्य) के रूप में सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

इस प्रकार यह प्रतिपादित हुआ कि रस का और काव्य का सम्बन्ध उसी दिन से है जिस दिन काव्य का जन्म हुआ।

यहाँ तक रस और काव्य का सम्बन्ध दिखाया जा चुका, अब आगे हम रस की सामग्री पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

३—रस-सामग्री



मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य, कार्य-कारण न्याय के सम्बन्ध से सिद्ध होते हैं। अर्थात् जब वह किसी पदार्थ के प्राप्त करने की इच्छा करता है तभी उसके पाने का प्रयत्न भी करता है, अन्यथा नहीं। कल्पना कीजिये कि किसी मनुष्य को अग्नि की आवश्यकता है, तो उसे इस वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रथम काष्ठ की आवश्यकता पड़ेगी। लकड़ियाँ एकत्रित करलेने के पश्चात् वह उसको जलाने के लिए चुम्बक पत्थर अथवा दियासलाई की खोज करेगा, तब कहीं अपने मनोरथ में सफल होगा। इसी प्रकार प्यासा मनुष्य बिना लोटा-डोर लेकर कुएँ पर जाये अपनी तृषा दूर नहीं कर सकता। ठीक यही अवस्था रसों की भी है। यदि कोई कवि चाहता है कि मेरा काव्य सरस हो तो उसको प्रथम रसोपयोगी सामग्री का एकत्रित करना आवश्यक होगा, बिना उसके रस की प्राप्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि कविलोग प्रथम प्रकृति-निरीक्षण करते हैं, संसार के सुख दुखों का अनुभव करते हैं और फिर इन कार्यों के फलस्वरूप हर्ष-शोकादि मनोविकारों का—जो उनके चित्त में प्राप्त हुए—वर्णन करते हैं। बस इन्हीं मनोविकारों को करनेवाली सामग्री को हम रस-सामग्री कहते हैं।

जिस प्रकार कारण, कार्य और उसके सहाय समूह द्वारा अग्नि तथा जल की सिद्धि हुई, उसी प्रकार इन्हीं वस्तुओं से रस की सिद्धि होती है। जैसे यदि कोई मनुष्य निर्जन वन में भ्रमण कर रहा हो, मार्ग में अचानक उसे सिंह की गर्जना सुनाई दे तो मारे भय के उसका शरीर काँपने लगेगा, रोंगटे खड़े हो जावेंगे और शरीर से पसीना निकलने लगेगा। अब विचार कीजिये कि भय नामक मनोविकार उत्पन्न होने के लिए 'सिंह की गर्जना' कारण-स्वरूप है और शरीर का कम्प, स्वेद और रोमाच इत्यादि की क्रिया उस मनोविकार के कार्य-रूप हैं। इसी प्रकार सिंह द्वारा मृत्यु का ध्यान होने से त्रास का सचार हुआ और इस प्रकार भय पुष्ट हुआ। इसी प्रकार यदि कोई किसी से कुछ अनुचित बात कहे तो उन वाक्यों को श्रवण करते ही उसके चित्त में क्रोध नामक मनोविकार का आविर्भाव होगा। और उसके सयोग से शरीर प्रकम्पित हो जायगा, नेत्र लाल हो जायगे, होठ फड़कने लगेंगे और सम्भव है कि वह अपने प्रतिद्वंदी से इस अनुचित व्यवहार का बदला लेने के लिए भी उद्यत हो। इस उदाहरण में "अनुचित वक्ता तथा उसके अनुचित वचन" कारण स्वरूप है और शरीर का कम्प, होठों का फड़कना इत्यादि क्रियाएँ उस मनोविकार के कार्य-स्वरूप हैं। इसी प्रकार जिस मनुष्य के चित्त में क्रोध नामक मनोविकार उत्पन्न हुआ है उसका उस कठोर वचन बोलनेवाले ने यदि पहले कभी कोई अपकार किया होगा और उसका भी उसे स्मरण हो आवेगा तो वह स्मरण उस मनोविकार को और भी

जाज्वल्यमान करेगा। अभिप्राय यह है कि यह स्मरण रूप अन्य मनोविकार क्रोधनाम मुख्य मनोविकार की सहायता करता है। इसी प्रकार से हर्ष, शोक इत्यादि अन्याय मनोविकारो के कारण, कार्य और सहकारियो को उनकी घटनाओ के अनुरूप समझ लेना चाहिए। इन कारणों, कार्यों और सहायकों के नाम क्रम से विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी या सचारी हैं।

प्रधान मनोविकार को स्थाई भाव, उसके कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और सहकारी मनोविकार को सचारी भाव कहते है। अब हम नीचे एक उदाहरण देकर इन चारो अङ्गों को समझाने का प्रयत्न करते है।

कल्पना कीजिए कि किसी स्त्री को अपने पति से प्रगाढ़ प्रेम है, तो वह पुरुष उस प्रेम का आधार होगा। यदि वह पुरुष अपनी पत्नी के पास उपस्थित हो, सयोग से एकान्त स्थल हो, शरदऋतु की चन्द्रिका छिटक रही हो, पास ही में इत्र फुलेलादि सुगधित पदार्थो का सयोग हो, तो इन सयोगी पदार्थों द्वारा वह प्रेम और भी भडकने लगेगा। इसलिये यह पदार्थ 'उद्दीपन' हुए और इन्हीं आलम्बन और उद्दीपन कारणों से वह प्रेम उत्पन्न हुआ है, इसलिए यही विभाव है। इनके द्वारा कार्यरूप जिस प्रेम की स्थिति हुई है, उसका नाम रति है, और यही रस का मूल रूप है। इसको 'स्थायीभाव' कहते है। इस प्रकार प्रेम या रति उत्पन्न होने से उसके कार्यो का अनुभव होने लगेगा। पारस्परिक कटाक्ष, भुजाक्षेप इत्यादि ऐसे कार्य है जो उस प्रेम की प्रतीति कराते हैं। इन्हीं कार्यों को 'अनुभाव'

कहते हैं। अब केवल उस रस की पुष्टता की आवश्यकता रही, सो उत्कण्ठा इत्यादि के द्वारा परिपूर्ण हुई। यही पुष्ट करनेवाली वस्तुएं 'सचारी', 'व्यभिचारी' या 'सहकारी' भाव कहलाती हैं। बस इन कारणों, कार्यों और सहायकों के सम्मेलन से रतिभाव स्पष्टतया प्रकट होने लगा और वह अब रस कहलाने के योग्य हुआ। यहाँ पर यदि हम नायिका नायक दिव्य स्त्री-पुरुषों को कल्पित करलें तो लोग इस बात की शका कर सकते हैं कि उक्त कारणों और कार्यादि रस सामग्री द्वारा उत्पन्न हुआ रस उन्हीं में स्थित होना चाहिए, जो वास्तविक नायिका तथा नायक हैं। फिर नाटक इत्यादि के पात्रों में उनका मिथ्या आरोप हमको सुखकर क्यों होता है? इसका उत्तर यही है कि प्यासा जीव जब जल पाने का प्रयत करते-करते मृगतृष्णा को देखता है तो उसी को जल मानकर, उसी तरफ को प्रयाण-कर, पानी के शीघ्र ही प्राप्त होने का आनन्द अनुभव करता है, पर वास्तव में वहाँ जल नहीं होता। ऐसे ही कभी-कभी मार्ग में पड़ी हुई रज्जु से हमें सर्प का भ्रम होने के कारण सहसा भय का अनुभव होता है, और शरीर कम्पन आदि भय सूचक प्रक्रियाएं प्रदर्शित होने लगती हैं, पर वास्तव में वहाँ सर्प नहीं रस्सी ही होती है। इसी प्रकार नाटकों के पात्र वास्तविक नायिका, नायक न होते हुए भी अपनी चतुरता के कारण अपने में रति-प्रतीत करा दर्शकों के हृदयों में चमत्कार उत्पन्न करा देते हैं। ऐसा चमत्कार भी रस ही है।

अभी ऊपर हमने वर्णन किया है कि रस उस समय उत्पन्न होता है जब विभाव इत्यादि के द्वारा स्थायीभाव प्रकट होता है। इसका अभिप्राय यह है कि नाटकों के दर्शकों तथा काव्य के पाठकों को जब स्थायीभावादि के समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती तभी वह रस कहा जाता है। नाटक तथा काव्य में जिस नायक का वर्णन किया जाता है, उसमें रत्यादिक भाव तो प्रथम से ही सिद्ध होते हैं, परन्तु जब तक दर्शक तथा पाठक के हृदय में सरलता-पूर्वक उनका ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसके लिए वह रस-सम्रधारी कदापि नहीं हो सकते। रस का अस्तित्व उसी समय समझा जायगा जब उसका आस्वादन हो, और जब दर्शकों तथा पाठकों का चित्त सम्पूर्ण विचारों का परित्याग कर केवल उसी आनन्द में तल्लीन हो जाय। पीछे हम इस बात का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि अलौकिक आनन्द तथा रस में सम्पूर्ण आनन्द (हास, शोक, भय) इत्यादि सम्मिलित हैं। अब यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या रस सदैव सुख का ही अनुभव कराता है?—इसके उत्तर में हमें यही कहना पड़ेगा कि हाँ, यदि ऐसा न होता तो लोग ऐसे नाटक अथवा लीलाएँ जो जुगुप्सा की परिपोषक होती हैं कदापि न देखते, क्योंकि सम्पूर्ण संसार का नियम है कि जिस कार्य में सुख होता है उसे लोग करते हैं, और जहाँ दुःख की सम्भावना होती है वहाँ खड़े तक नहीं होते। शोक, हर्ष, भय क्रोध इत्यादि के लौकिक कारणों से लौकिक शोक, हर्ष, भय

और क्रोध होता है, परन्तु काव्य में उन्हीं के साथ अलौकिक विशेषण प्रयुक्त किया जाता है। अतएव उसे हम अलौकिक भावों से उत्पन्न होने के कारण सुख ही मानेंगे। सीताराम के वनवास, हरिश्चन्द्र के दृढव्रत और प्रह्लाद के सत्याग्रह इत्यादि के वर्णन काव्यो में इस भावुकता के साथ वर्णन किए गये हैं कि उनको पढकर अविश्रान्त अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, और यदि यही वर्णन नाटको के पात्रों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं तब तो उनका कहना ही क्या है। वास्तव में बात यह है कि रसास्वादन के लिए दर्शको तथा पाठको की वासना परमावश्यक है। इस वासना के द्वारा ही यह फल प्राप्त होता है कि उपस्थित जनता अपने तथा नायक के बीच कोई अन्तर नहीं समझती। यही सहानुभूति बढकर इस कक्षा तक पहुँच जाती है कि समाज को यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं और नायक एक ही हूँ अथवा अलग-अलग।

ऊपर हम यह वर्णन कर चुके हैं कि रसोत्पत्ति के लिए विभाव कारण हैं, अनुभाव कार्य हैं और सचारी भाव उनके सहायक तथा पुष्टिकर्ता हैं। इसका अभिप्राय यह है कि विभावों के कारण स्थायीभाव इतने प्रबल हो जाते हैं कि विशेष रीति से उनका अनुभव होने लगता है। ऐसी योग्यता आ जाने पर उन्हीं रति आदि स्थायी भावों का ज्ञान रस-रूप से होता है। उस समय उसके जो लक्षण ज्ञात होने लगते हैं, उनका नाम अनुभाव है। सचारीभाव का काम उस रस को दृढ करना अथवा

आस्वादन-सुख को विस्तृत कर देना है, क्योंकि इन चारों के द्वारा रस का बोध होता है। अतएव हम इनको रस-बोध का कारण कह सकते हैं। परन्तु यह कारण इस प्रकार नहीं है जिस प्रकार मकान का कारण ईंट, पाषाण, चूना, काष्ठ और लोहा होता है, क्योंकि ऐसी दशा में इन सब अंगों का ज्ञान पृथक्-पृथक् होता है। विभावकादिकों का सम्मेलन उस पंचामृत की तरह है जो दूध, दही, घृत, मधु और शर्करा के संयोग से बनता है। इस प्रकार पंचामृत को न तो हम दूध कह सकते हैं, और न दही इत्यादि की संज्ञा उसे दे सकते हैं। वह तो उक्त सब वस्तुओं का सम्मिश्रण है जो अपूर्व स्वाद का आस्वादन कराता है। इसी प्रकार विभावकादि का मेल भी एक अपूर्व रस का अनुभव कराता है। रस-पूर्ण होने के लिए इन सभी अंगों की आवश्यकता होती है। परन्तु कभी-कभी काव्य में दो अथवा एक ही भाव मिलता है। ऐसे स्थल पर शेष अङ्ग प्रसङ्ग वश समझ लिये जाते हैं। रस-निरूपण की ये मोटी-मोटी बातें बतलाकर अब हम उसे उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं। यथा—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति-छबि देखी। पलकन्हहूँ परिहरी निमेषी।
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मगु रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

उपर्युक्त चौपाइयाँ उस समय की हैं जब सीताजी ने प्रथम ही रामचन्द्रजी को जनक की पुष्पवाटिका में देखा, जहाँ सहेलियों के साथ देवी को पूजने गई थीं ...

ही सीताजी का मन रामचन्द्रजी के रूप पर मोहित हो गया। अब हम इस उदाहरण पर विचार करते हैं।

प्र० १—लोचन क्यों ललचाने ? उ०—(नायक राम) रूप देखि ललचाने। प्र० २—(सीता के) नयन क्या थके ? उ०—रघुपति छवि देखी। प्र० ३—तो यहाँ सीताजी के मोहित होने का कारण क्या है ? उ०—रामचन्द्रजी का रूप। अतएव रामचन्द्रजी (नायक) आलम्बन-विभाव हुए। प्र० ४—सीताजी के साथ रामचन्द्रजी के प्रेम को उद्दीप्त कौन करता है ? उ०—रामचन्द्रजी का रूप अथवा रामचन्द्रजी के वह अनुपम गुण जो सीताजी ने किसी भाँति पहले सुने थे और जो यहाँ वर्णित नहीं है। बस यही (रूप,गुण) उद्दीपन विभाव हुए। रामचन्द्रजी की छवि देखकर क्या कार्य उपस्थित हुए ? उ० (१)—लोचन ललचाने (हर्ष), (२) नयन थके, (३) पलकन हू परिहरीं निमेषी, (४) अधिक सनेह देह भइ भोरी। इन सम्पूर्ण कार्यो की सहायता से कौन प्रधान कार्य सिद्ध हुआ ? उ०—सीताजी के हृदय में रामचन्द्रजी का अनुराग (रति)। प्र०—इसका अनुभव हमको किस प्रकार हुआ ? उ०—सीताजी के इस कायिक कार्य द्वारा—"लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।"

उपर्युक्त वाक्यों द्वारा सीताजी के प्रेम का अनुभव हुआ। अतएव यह "अनुभाव" और नयनादि का चकित होना, देह का भोरा होना अर्थात् स्तम्भ, मोह और जड़ता इत्यादि जो उक्त अनुभव के सहायक हैं, अ[illegible] दृढ़ या विस्तृत करते हैं, सचारी

या व्यभिचारी भाव है। इस प्रकार जो प्रेम उत्पन्न हुआ उसी का नाम रति है। यही स्थायीभाव है।

दूसरा उदाहरण

पडी शैव्या वहीं पर रो रही थी। फटी दो टूक छाती हो रही थी।
कलेजा हाय! मुँह को आरहा था। भरा था दर्द वह, तडपा रहा था।
"हुआ परवार प्राणाधार छूटे। रहे तुम एक कुल आधार टूटे।
तुम्हारा देखकर मुख जी रही थी। नहीं तो कौन था सुख, जो रही थी।
हुआ सब कुछ छुटे हा! लाल तुम भी। लुटा सब कुछ लुटे हा! लाल तुमभी।
अरे यह है कहां पर सर्प बसता। मुझे भी क्यों नहीं है नीच डसता।
लगाये लाल को छाती चलूं मैं। लिये यह साथ ही थाती चलूं मैं।
जिसे मैं जान ही सा जानती थी। जिसे मैं देखकर सुख मानती थी।
कहाँ है हाय! अब वह प्राण मेरा। निराशा में विपद में त्राण मेरा।
कहाँ हो चल दिये तुम हाय! छौना। खिलाऊँगी किसे मेरे खिलौना।
किसी को दुख नहीं मैंने दिया है। नहीं निज शीश पर पातक लिया है।
रहा है धर्म पर विश्वास मेरा। हुआ क्यों हाय सत्यानाश मेरा।
विधाता! हाय क्या यह पुण्य फल है। जगत में नामता तेरी प्रबल है।
हृदय-धन-प्राणपति पद-पद्म छूटे। छुटी स्वाधीनता सुख-सद्म छूटे।

—सनेही

उपर्युक्त पद्य को पढते ही ज्ञात होता है कि इसमें शोक बीज रूप से स्थित है। इस शोक का कारण शैव्या के पुत्र (रोहिताश्व) का मरण है, अतः यह आलम्बन विभाव है। यह दुःख घर के छूटने, उपस्थित कष्टों के स्मरण इत्यादि " द्वारा और भी उद्दीप्त होता है, इस हेतु यह उद्दीपन

विभाव है। बार-बार रोना हाय-हाय करना इत्यादि कार्य उक्त शोक का अनुभव कराते हे, अत यह अनुभाव है। विधाता की वामता, नैराश्य तथा भाग्य की निन्दा और पश्चात्तापादि द्वारा शोक स्थित हुआ है, इसलिए यह पश्चात्तापादि सचारीभाव और शोक स्थायी भाव है।

तीसरा उदाहरण

समस्त सपा सँग श्याम ज्यों कढ़े। कलिन्द की नन्दिनि के सुअंक से।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे। सभी महाशंकित भीत हो उठे॥
हुए कई मूर्छित घोर त्रास से। कई भगे मेदिनि में गिरे कई।
हुई यशोदा अतिही प्रकम्पिता। ब्रजेश भी व्यस्त-समस्त हो गये॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

यहाँ यशोदा युक्त सम्पूर्ण किनारे पर उपस्थित स्त्री-पुरुषों के कारण भय आलम्बित होता है, इसलिये यह सब आलम्बन विभाव हैं। सम्पूर्ण सर्पों के साथ श्याम का कलिन्दनन्दिनी के अंक से निकलना इस भय को उद्दीप्त करता हे, अत यह उद्दीपन विभाव ह। इसी प्रकार उन लोगों को कम्प होना, मूर्च्छा आना इत्यादि जो इस शोक का अनुभव कराते हे वे अनुभाव ह, और त्रास सचारी भाव है। इन सम्पूर्ण कारण, कार्य और सहायक समूह द्वारा भय स्थिर हुआ है, अत भय स्थायी भाव है।

ऊपर दो-तीन उदाहरण देकर रस सामग्री पर विचार किया जा चुका हे। अब हम उन्हीं भावों का पृथक् पृथक् विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं, क्योंकि रसों की उत्पत्ति के आधार रूप

यहाँ पर कोई स्त्री अपने प्राण प्यारे के गुण तथा रूप का वर्णन कर उसके वियोग के कारण उत्पन्न हुए खेद को प्रकट कर रही है। अत वह पुरुष आलम्बन हुआ।

उपर्युक्त दोनो उदाहरणो में आलम्बन विभाव क्रमश स्त्री और पुरुष है। इनको काव्य-मर्मज्ञ विद्वद्वरो ने नायिका तथा नायक की सज्ञाएँ प्रदान की है।

नायिका— जिस लावण्यवती को देखते ही हृदय-सागर प्रेम की तरङ्गों से तरङ्गित हो जावे, उसे नायिका कहते हैं।

यथा:—

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दुबिम्बानना।
तन्वगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा कला पुत्तली।
शोभा वारिधि की, अमूल्य मणि सी, लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

यहाँ राधिका रानी नायिका है।

इन नायिकाओं के कितने ही प्रभेद है—यहाँ तक कि कई आचार्यो ने इनपर स्वतत्र ग्रथ-रत्न लिखे हैं। परन्तु स्थानाभाव के कारण हम बहुत ही सूक्ष्म रीति से उनका दिग्दर्शन कराते है। इन नायिकाओ के प्रकृति के अनुसार ये तीन भेद हैं—(१) उत्तमा, (२) मध्यमा और (३) अधमा। स्वभावानुसार भी ये तीन ही भेद है—(१) अन्य-सुरति दुःखिता, (२) मानवती, और

(३) वक्रोक्ति-गर्विता। धर्मके अनुसार भी नायिका के ये तीनभेद हैं—(१) स्वकीया, (२) परकीया तथा (३) सामान्या (गणिका)। स्वकीया के, अवस्था के अनुसार, ये तीन भेद हैं—(१) मुग्धा, (२) मध्या तथा (३) प्रौढा। इसके पश्चात् दशा इत्यादि से कितने ही भेद कर डाले हैं, यहाँ तक कि बढते-बढते नायिका-भेद की गणना ६२५२ तक पहुचती है। संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य इन्हीं नायिका भेदों के कारण बदनाम है। लोग कहते हैं कि हिन्दी में केवल नायिका-नायकों के हाव, भाव, कटाक्ष, तथा भुजाक्षेप इत्यादि का वर्णन है। कहीं नायिका मान किये बैठी है और नायक उसके पैरों पर पड रहा है। कहीं नायिका के बिछुओं की झनकार नायक का मन खींचे फिरता है, इत्यादि। इसी प्रकार के अनेक आक्षेप किये जाते हैं, और वह किन्हीं अर्थों में है भी ठीक, क्योंकि इससे समाज को किसी विशेष लाभ के प्राप्त होने की सभावना नहीं है। हाँ, यह आशका है कि कहीं इसके विपरीत विलास न फैले। काव्य करने का मुख्य उद्देश यह है कि सहानुभूति, उपदेश और आदर्श द्वारा समाज को लाभ पहुचाया जाय, परन्तु ज्ञात नहीं होता कि नायिका भेद इस उद्देश-पूर्ति में कहाँ तक सहायक है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह विलासीजनों के मनोरजन की सामग्री अवश्य है। लोग कह सकते हैं कि कवि का कार्य प्रकृति निरीक्षण है, उनमें स्त्री जाति के स्वभावादि से परिचित होकर समाज को उससे परिचित कराना भी तो कवि का काम है। यह ठीक है, परन्तु

इसका इतना विस्तार निरर्थक है। यहाँ हम उपर्युक्त थो से नायिका-भेदों का वर्णन करते है जिससे इस विषय साधारणतया कुछ समझा जासके।

प्रकृति के अनुसार

(१) उत्तमा—अपने प्राण प्यारे के दोष सुनकर भी जो रोष न करे।

(२) मध्यमा—जो अपने पति के अपराधों पर मान सम्मान दोनों करे।

(३) अधमा—जो अपने पति के हित करने पर भी अहित करे।

स्वभावानुसार

(१) अन्य सुरति दु:खिता—अन्य स्त्री के शरीर पर अपने प्यारे के रति-चिह्न देखकर जो स्त्री अपने दुःख प्रकट करे।

(२) मानवती—अपने पति का अपराध दिखाने के लिए मान करनेवाली स्त्री को कहते है।

(३) वक्रोक्ति गर्विता—जो अपने प्यारे के प्रेम व निज रूप का अभिमान करे।

धर्मानुसार

(१) स्वकीया—जो स्त्री मन, वचन तथा कर्म से अपने पति के प्रेम में लीन हो।

(२) परकीया—जो गुप्त रीति से पर-पुरुषानुरागिणी हो।

(३) सामान्या—जो केवल धन के लिए ही हित कर

अवस्था के अनुसार स्वकीया के भेद

(१) मुग्धा—जिसके शरीर अंग-प्रत्यंग में नवयौवनांकुर निकलते आवें।

(२) मध्या—जिसके लज्जा तथा मदन समान हो।

(३) प्रौढा—कुछ लज्जा तथा मदन-पूरित और सम्पूर्ण कामकला में प्रवीण स्त्री।

अब नीचे दो एक उदाहरण द्वारा प्रेम (रति) के आलम्बन-नायिका भेद को साधारण रीति से समझने का प्रयत्न करते हैं —

मुखचन्द प्रकाश हुलास भरी, गुरु संतन को सतकार करै।
ननदीन निहारि हिये हरष बरसौतिन सों तनिको न डरै॥
दृग खंजन से अवलोकि अली पतिसों रति में सब भाव भरै।
कर कंजन ते पग धोय सदा सब सासन सासन सीस धरै॥

उपर्युक्त उदाहरण में नायिका उत्तमा है, क्योंकि उसे अपनी सौति इत्यादि किसी से भी द्वेष नहीं। इसके अतिरिक्त वह सब का सत्कार करती है, अतः स्वकीया है। क्योंकि परकीया गुप्त प्रेम रखती है और सामान्या पैसे की मित्र है। इन दोनों लक्षणों में से एक भी लक्षण इसमें नहीं मिलता। किन्तु ननदों और सासुओं के सम्बन्ध उसके स्वकीयत्व को और पुष्ट करते हैं। अवस्था पर विचार करने से वह प्रौढा ज्ञात होती है, क्योंकि रति में, सम्पूर्ण कलाओं में, कुशल वही हो सकती है। रति के समय,

पुनर्यथा—

नातो नभचर पो विचारि चारु चन्द कुजै,
सजुत निमोद गोद मोद नयठार्‌यो है ।
शभु शीश भूषन विराजे शभु सीस ही पै,
सोतो सब जोग है सुजोगन निचार्‌यो है ।
ईश्वर कहत पे अजोग इतनो ही तीय,
और एक निठुर कठोर मन धार्‌यो है ।
मधुप कहाय कुलै कालिमा लगाय हाय,
वारिज विहाय आय विद्रुम विहार्‌यो है ।

मुखचन्द्र पर कुज अर्थात् मगल विराजमान है , अभिप्राय यह कि 'रद-चिह्न मुख पर दिखाई देते हैं ।' कुचा पर चन्द्र के सदृश नख क्षत है । इन रति-चिह्ना को नायिका ने अपने पति के साथ किये हुए सम्भोग-चिह्न समझकर दुख प्रकट किया है, जो तीसरे और चौथे पद में साफ जाहिर है । अत यह नायिका "अन्य-सुरति दु खिता" है । नायक (मधुप) और नायिका (वारिज) का सम्बन्ध जो अतिम पद में दिया गया है, वह नायिका में स्वकीयत्व भाव प्रकट करता है, क्योकि भ्रमर और कमल का ही वास्तविक सम्बन्ध है, विद्रुम का नहीं । विद्रुम से यहाँ अन्य स्त्री का अर्थ लिया गया है । प्रकृति के अनुसार वह मध्यमा प्रतीत होती है, क्योकि उसने पति के अयोग्य कार्य पर असन्तोष प्रकट किया है । उत्तमा का यह काम नहीं । अवस्था उसकी प्रौढा ज्ञात होती है , क्योकि उसके वचनो से सम्पूर्ण काम-कला से परिचित जान पडती है ।

बस इस प्रकार थोड़ा सा प्रकाश नायिका-भेद पर डालकर अब नायक का वर्णन करते हैं।

नायक—-सुन्दर रूप और गुण विभूषित युवक, जो काव्य, संगीत तथा रस से विज्ञ हो और स्त्रियाँ उसे प्रेम दृष्टि से देखें।

यथा—

मुदित गोकुल की जन-मंडली, जब व्रजाधिप-सम्मुख जा पड़ी।
निरखने मुख की छवि यो लगी, तृषितचातक ज्यों घन की घटा॥
पलक लोचन की पड़ती न थी, हिल नहीं सकता तन लोम था।
छविरता बहुकामिनि यो बनीं, गठित पाहन पुत्तलिका यथा॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

प्रकृति तथा दशा के अनुसार नायक के दो भेद हैं। अर्थात् (१) मानी और दशा के अनुसार (२) प्रोषित।

(१) मानी—जो अपनी प्रेयसी से मान करे।

(२) प्रोषित—निज प्रियतमा के वियोग से संतप्त।

पुनः नायक के निम्नलिखित तीन भेद हैं:—

(१) पति—जो वेदानुकूल नायिका के साथ पाणि-ग्रहण करे।

(२) उपपति—जो अन्य स्त्रिया में अनुरक्त हो।

(३) वैसिक—वेश्यागामी, निर्लज्ज तथा निडर पुरुष।

पति निम्नलिखित पाच प्रकार के होते हैं—

(१) अनकूल—जो अपनी केवल एकही विवाहिता स्त्री से प्रेम रक्खे, अन्य स्त्री का ध्यान भी न करे।

(२) दक्षिण—कई स्त्रियों पर जिसकी समान प्रीति हो।

(३) धृष्ट—जो अपमान होने पर भी नम्र हो, विना संकोच अपराध करे तथा लज्जा से विमुख हो।

(४) शठ—जो छलछिद्र द्वारा अपने दोषों को गुप्त रक्खे। निज कार्य-साधन के निमित्त मृदुभाषी पुरुष।

(५) जो शृङ्गारादि रसानुकूल क्रियाओं का समुचित ज्ञान न रखता हो।

उपपति के निम्नलिखित दो भेद हैं-

(१) वचन चतुर—जो वाक्पटुता द्वारा निज कार्य साधन समर्थ हो।

(२) क्रिया-चतुर—जो कपट तथा छल-क्रिया द्वारा अपना कार्य सिद्ध करे।

अब उदाहरण द्वारा नायक-भेद पर दृष्टिपात करते है।

डोलत है इक संग खरे इक संग ही बोलत हैं मनभायक।
दूसरी बात न जानत ये निसिवासर संग रहैं सुखदायक॥
कौन समान करै इनकी गनिये इनहूँ को सदा खगनायक।
देखि परे खगराजन में इक सारस साँचे सियारम लायक॥

उपर्युक्त उदाहरण पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह नायक पति है, क्योंकि विना नियमानुसार पाणिग्रहण किये कोई भी किसी स्त्री के साथ सदैव नहीं घूम सकता। इसका एक ही स्त्री से प्रेम होने के कारण यह अनुकूल हुआ।

महाकवि देवजी परकीया और सामान्या के सम्पर्क को अन्त ही घृणित माना है। वह कहते हैं —

प्रगट भये परकीय अरु सामान्या के मग ।
गुनहानि धनहानि सुख, थोरो दुख इकग ॥
उत्तम रस शृंगार को, स्वकिया मुख्य अधार ।
ताते पतिनायक कथा, सुख सम्पति को सार ॥

देवजी का यह भी मत है कि वास्तविक प्रेम मुग्धाओं में होता है। मध्या में कभी कभी कलह भी हो जाती है। यही कारण है कि उसका प्रेम निन्दनीय है। इसी प्रकार प्रौढा में रोष, गर्व इत्यादि का बाहुल्य होने के कारण प्रेम उच्च श्रेणी का नहीं होता। अर्थात् शृङ्गार की मुख्य पात्री शुद्ध स्वकीया नायिका ही है और उसमें भी मुग्धा की प्रधानता है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है —

परकीया उपपति निरत, होति प्रेम आधीन ।
पति सम्पति तन विपति में, हारि परै पन पीन ॥
पर रस चाह परकिया, तज आपु गुन गौन ।
आपु ओछि खोटा मिलै खात दुख फल होत ॥
काची प्रीति कुचाल की, बिना नेह रस रीति ।
मार रंग मारू मही, बारू की सी भीति ॥

देवजी का मत अनुकरणीय है। क्या ही अच्छा हो, यदि वर्तमान हिन्दी के नाटक प्रणेता तथा उपन्यास लेखक इस बात पर तनिक ध्यान दें और आवश्यकतानुसार स्वकीया नायिका का ही वर्णन करें। और यदि प्रसङ्गवश कोई अन्य नायिका वर्णित भी हो तो उसका कुफल इस उत्तमता से दिखाया जाय कि समाज को उनसे घृणा हो।

(२) दक्षिण—कई स्त्रियों पर जिसकी समान प्रीति हो।

(३) धृष्ट—जो अपमान होने पर भी नम्र हो, बिना संकोच अपराध करे तथा लज्जा से विमुख हो।

(४) शठ—जो छलछिद्र द्वारा अपने दोषों को गुप्त रक्खे। निज कार्य-साधन के निमित्त मृदुभाषी पुरुष।

(५) जो शृङ्गारादि रसानुकूल क्रियाओं का समुचित ज्ञान न रखता हो।

उपपति के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(१) वचन चतुर—जो वाक्पटुता द्वारा निज कार्य साधन समर्थ हो।

(२) क्रिया-चतुर—जो कपट तथा छल-क्रिया द्वारा अपना कार्य सिद्ध करे।

अब उदाहरण द्वारा नायक-भेद पर दृष्टिपात करते हैं।

डोलत हैं इक संग खरे इक संग ही बोलत हैं मनभायक।
दूसरी बात न जानत ये निसिबासर संग रहैं सुखदायक॥
कौन समान करै इनकी गनिये इनहूँ को सदा खगनायक।
देखि परे खगराजन में इक सारस साँचे सिंगारस लायक॥

उपर्युक्त उदाहरण पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यह नायक पति है, क्योंकि बिना नियमानुसार पाणिग्रहण किये कोई भी किसी स्त्री के साथ सदैव नहीं घूम सकता। इसका एक ही स्त्री से प्रेम होने के कारण यह अनुकूल हुआ।

महाकवि देवजी परकीया और सामान्या के सम्पर्क को बहुत ही घृणित माना है। वह कहते हैं —

प्रकट भये परकीय अरु, सामान्या के। सग।
रसहानि धनहानि सुख, थोरो दु ख इकग ॥
उत्तम रस शृ गार की, स्वकिया मुख्य अधार।
ताके। पतिनायक घनो, सुख सम्पति के। सार ॥

देवजी का यह भी मत है कि वास्तविक प्रेम मुग्धाओं में होता है। मध्या में कभी-कभी कलह भी हो जाती है। यही कारण है कि उसका प्रेम निन्दनीय है। इसी प्रकार प्रौढा में रोष, गर्व इत्यादि का बाहुल्य होने के कारण प्रेम उच्च श्रेणी का नही होता। अर्थात् शृङ्गार की मुख्य पात्री शुद्ध स्वकीया नायिका ही है और उसमें भी मुग्धा की प्रधानता है। परकीया के विषय में देवजी का यह मत है —

परकीया उपपति विरह, हाति प्रेम आधीन।
पति सम्पति तन विपति मे, देगि परे पन पीन ॥
पर रस चाहे परकिया, तजे आयु गुन गोत।
आयु ओटि खाग मिल, खात दूध फल होत ॥
काची प्रीति कुचाल की, बिना नेह रस रीति।
मार रंग मारू मही, बारू की सी भीति ॥

देवजी का मत अनुकरणीय है। क्या ही अच्छा हो, यदि वर्तमान हिन्दी के नाटक-प्रणेता तथा उपन्यास लेखक इस बात पर तनिक ध्यान दें और आवश्यकतानुसार स्वकीया नायिका का ही वर्णन करें। और यदि प्रसङ्गवश कोई अन्य नायिका वर्णित भी हो तो उसका कुफल इस उत्तमता से दिखाया जाय कि समाज को उनसे घृणा हो।

यहाँ तक रति (प्रेम) को आलम्बित करनेवाले नायिका तथा नायक-भेद का वर्णन बहुत सूक्ष्मता से कर अब हम अन्य प्रधान मनोविकारों के आलम्बन विभावों का वर्णन करेंगे।

अन्य मनोविकार के आलम्बन विभाव

कोउ मुखहीन विपुलमुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद-बाहू।
विपुलनयन कोउ नयनविहीना। रिष्ट-पुष्ट कोउ अति तनखीना।

—तुलसीदास(रामचरित मानस)

उपर्युक्त चौपाई को जो पढ़ेगा, हँसेगा। इस हसने का कारण क्या है?—आकृतियों का विपरीत होना अर्थात् दो नेत्रों के बदले किसी के तो बहुत से नेत्रादि हैं और किसी के एक भी नहीं। अत इस हँसी का उत्पत्ति कारण होने से यही मुखादि की विकृति आलम्बन विभाव हुई। साधारणत- जो हसी आने का कारण होगा वही आलम्बन कहा जावेगा, इसके लिए कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि न जाने कब, किसे, किस बात पर, हसी आवे। बहुधा हसने के *आलम्बन वस्तु-मात्र में देखी हुई विकृत अथवा विपरीतता,* व्यंग दर्शन, परचेष्टा का अनुकरण और असम्बद्ध प्रलाप इत्यादि हैं।

× × × ×

सहलन दुर्बल बूढे लोग निपुत्री भये रहे सिर फोरि।

कहैं करि रोदन "बेटा हाय! कहाँ तुम गये कमर को तोरि॥

सहस्त्रन बन्धु दुहाई देत "हाय ! हरि हिये दया है नाहि ।
हमारी उठिगो बन्धु जहान, हमारी हरि गई हा बाहि" ॥

—रायदेवीप्रसाद (पूर्ण)

उपर्युक्त उदाहरण में बूढ़े लोगों को निपुत्री होते पढ और इस कारण सिर फोडते देख पाठकों को शोक होगा। इसी प्रकार सहस्त्रों बन्धुओं को बन्धु विहीन देख तथा उनका अलाप सुन दुःख होगा। इस दुःख का कारण बूढे लोगों के पुत्रों तथा बन्धुओं के प्रिय बन्धुओं की मृत्यु होना ही है। अतः शोक नामक प्रधान मनोविकार का आलम्बन-विभाव प्रियबन्धु इत्यादि की अपार हानि तथा मरण हुआ।

× × × ×

मोह का सकेत फिर कर अनसुना। धर्म का कर्तव्य दानो ने गुना।
देवकी ने शीघ्र रण कंकण दिया। बाँध उसको हाथ में पति ने लिया।
चिह्न देनो साथ ले उत्साह में। जा रहे जयसिंह हैं रन चाह में।
सुध प्रिया की मार्ग में आती रही। किन्तु रन मैदान में जाती रही।
युद्ध में ता और ही कुछ ध्यान है। पूर्ण हिय में देश का अभिमान है।
प्राण है क्या देश के हित के लिये? देश खोकर जो जिये तो क्या जिये।

—कामताप्रसाद गुरु (सहगमन)

उपर्युक्त उदाहरण में, जयसिंह ने मोह को तृणवत् त्याग दिया है। उसकी स्त्री ने रण-कंकण बाँध दिया है। इससे वह और भी उत्साहित होकर जा रहा है। मार्ग में यदि विरह ने अपनी थोडी सी धाक जमाई भी तो वह रन मैदान में काफूर हो गई। इन सम्पूर्ण कार्यों का कारण क्या है?—एकमात्र ...

के लिए युद्ध करना, जिसके सम्मुख जयसिंह प्राण को भी तुच्छ समझता है। इस उत्साह का कारण वैरियों का वह वैभव है जो देश का अहित करने पर उतारू है, जो जयसिंह को असह्य है। यहाँ वही वैभव गुप्तरूप से अपना प्रकाश डाल रहा है। अत रिपु का वही वैभव आलम्बन-विभाव हुआ।

× × × ×

चाहे जा तू अवधपति के बाण से त्राण पाना।
दुष्कर्मी तो हट, तज सभी छोड दे ध्यान मेरा॥
रे दम्भी! हूँ अनल तुझको, राम की पुष्प वेला।
दूँगी तेरा जन-दल जला हार हूँगी उन्हीं का॥

यह सुनकर रावण ने—

भाहे तानी दशन घिस के खड्ग को यों निकाला,
मानो गर्जा जलद बिजली है प्रभा भू जलाती।
पक्षी भागे सब तरु हिले राम के रंग डूबी,
भोली भाली जनक तनया पे न आतंक छाया।

—स्वरचित (सीता-रावण-सम्वाद)

उपर्युक्त पद्य में रावण को इतना क्रोधित करदेनेवाला रिपुणी स्वरूपा सीता ही है। अत यहाँ सीता ही उक्त क्रोध का आलम्बन हुई। इस मनोविकार का आलम्बन रिपुही होता है।

× × × ×

प्रवाहिता-उद्धत तीव्र वायु मे। विधूनिता हो लपटे सशक्तियता।
नितान्त ही थीं बनती भयंकरी। प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा॥
अनन्त थे पादप दग्ध हो रहे। असंख्य गाछें फटती मगन्द थीं।
वन अपार तृन थी। बना महा शब्द मयी बनस्थली॥

अपार प्राणी पशु त्रस्त हो महा। समग्रता से सब ओर भागते॥
नितान्त हो भीत सभी सुपक्षि भी। बने महाव्याकुल थे पला रहे॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

उपर्युक्त पद्य में पशु-पक्षियों को भयभीत कर पलायन करानेवाला कौन है?—वन में लगी हुई प्रचण्ड अग्नि। अतः यही अग्निकाण्ड उक्त भय का आलम्बन विभाव हुआ। भयंकर दृश्य ही इस मनोविकार का आलम्बन होता है।

× × × ×

रिपु आँतन की कुंडली, करि जुग्गिनि चबाति।
पीबहि में पागी मनहुँ, जुवति जलेबी खाति॥

—जगद्विनोद

कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं।
बेताल बीर कपाल ताल बजाय जोगिनि नाचहीं॥
अन्तावली गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम पुरबासिन मनहु बहु बाल गुड्डि उड़ावहीं॥

उपर्युक्त पद्य को पढ़कर ग्लानि के कारण चित्त कुछ और ही तरह का हो जाता है। इस ग्लानि का कारण पीब, मेद, मज्जा इत्यादि हैं। अतः यही आलम्बन विभाव है।

देखरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

इस दोहे को पढ़ते ही चित्त पर आश्चर्य का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। इसका कारण यह है कि "रोम-रो

कोटियों ब्रह्माण्डों का घर है"—यह बात असम्भव ज्ञात होती थी, जो माता ने अब साक्षात् देखी , अतः आश्चर्य हुआ। बस यही असम्भव दृश्य आश्चर्य का अवलम्बन हुआ। असम्भव चरित्र तथा बात भी इस प्रधान मनोविकार के आलम्बन हैं।

× × × ×

काम परयौ दुलही अरु दूलह चाकर क्षार के द्वारेई छूटे।
माया के बाजने बाजि गये अरु भातसवा परभात ही रूटे।
आतसबाजी गई छिन में छुटि सूझत नाहि अजौं अँखि फूटे।
देव देखैयन दाग बने रहे बाग बने ते बरोठहि लूटे।

—देव

उपर्युक्त पद्य को पढ तथा सुनकर चित्त में वैराग्य की स्थिरता होती है। ज्ञात होता है कि ससार माया जाल है। मरने पर कुछ काम न आयेगा। इसलिए उस अखिल विश्व-निर्माता अजर, अजन्म विधाता का भजन करके जीवन्मुक्त हो जाना ही मनुष्य का कर्तव्य है। इस ज्ञान के उत्पन्न होने का कारण सत्सङ्ग तथा गुरू ही है। बिना गुरु के ज्ञान की प्राप्ति नही होती, और बिना ज्ञान के चित्त निर्मल नहीं होता। इसी प्रकार बिना स्वच्छ हृदय के ईश्वर प्राप्त नहीं होता। अत सत्सगति और गुरु ही इस वैराग्य के आलम्बन हैं।

विभावान्तर्गत उद्दीपन-विभाव

ऊपर आलम्बन-विभाव पर विस्तार-पूर्वक विचार किया जा चुका है। अब हम उद्दीपन विभाव पर विचार क॰ करते हैं।

रसहि जगावै दीप ज्यों, उद्दीपन कहि सोय ।

—भावविलास

जिन्हैं विलोकत ही तुरत, रस उद्दीपित होत ।
उद्दीपन सुविभाव है, कहत कविन के गोत ॥

जिन हेतुओं से रस उद्दीप्त होता है उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं । जिस प्रकार स्त्री पुरुष के पारस्परिक प्रेम का बाहुल्य हिन्दी काव्य में दिखाया गया है, उसी प्रकार इस रति के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों से भी ग्रंथ भरे हुए पड़े हैं । कामोद्दीपन का कारण कोई एक या दो वस्तु नहीं हो सकतीं । नीचे 'भानु' कवि-विरचित एक पद्य को भेंटकर मुख्य-मुख्य बारह हेतुओं के नाम दिये जाते हैं ।

सखा[1], सखी[2] दूती[3] सुवन[4], उपवन[5], षट ऋतु[6] पौन[7] ।
उद्दीपनहि विभाव में, वरणत कवि मनि भौन ॥
चन्द्र[8] चाँदनी[9] चन्दनहु[10], पुष्प[11] पराग[12] समेत ।
यों ही और सिंगार सब, उद्दीपन के हेत ॥

कोई-कोई कवि संगीत कला, सुन्दर सुन्दर चित्र इत्यादि अनेकों प्रकार के उद्दीपन हेतु वर्णित कर गये हैं, परन्तु इनका वर्णन विस्तृत करना निरर्थक है, क्योंकि विज्ञ पाठक उन हेतुओं को स्वयं उपर्युक्त परिभाषा द्वारा ही समझ लेंगे । जो कामोद्दीपन में सहायक हो, वह सभी सामग्री उद्दीपन विभाव में परिगणित की जायगी ।

यथा—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषण मन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा विश्वविजय कहँ कीन्हीं।

उपर्युक्त पद्य में स्त्रियों के आभूषणों की ध्वनि ही काम का उद्दीप्त कर रही है। अत: वही उद्दीपन-विभाव है। पुनर्यथा—

मर्दानी स्त्रियां

लहँगे से छूटीं हम सारी से छूटीं।

खाना पकाने की चौका लगाने की, भोजन जिमाने की, त्यारी से छूटीं।
घोड़ा दौड़ावें चाहे टट्टू कुदावें, डोली पिनस की सवारी से छूटीं।
मरदाना कुर्ती, देखो औ फुरती, आदों हो चाल गँवारी से छूटीं।
थियेटर में जायेंगे, लेकुचर उड़ायेंगे, छुट्टी हुई तानेदारी से छूटीं।

—बालमुकुन्द गुप्त

इस पद्य को पढकर हँसी आती है। इस हास्य का आलम्बन मर्दानी स्त्रियाँ हैं। हास्य को उद्दीप्त कराने के लिए अपनी चाल छोड़ दूसरी चाल चलने के लिए कहनेवाले वाक्य हैं। अत यहाँ अनुचित चाल उद्दीपन विभाव है। हास्य को कुरूपता और अनुचित वाक्य उद्दीप्त करते हैं।

× × × ×

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले वचन मनुज अनुहारी।
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ।
अर्द्धरात्रि गइ कपि नहिं आवा। राम उठाइ अनुज उर लावा।
हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु विपिन हिम आतप वाता।

सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई।
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।
जो जनत्यो बन बंधु बिछोहू। पिताबचन नहिं मनत्यो वोहू।
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता।

× × × ×

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

उपर्युक्त उदाहरण में लक्ष्मणजी का मूर्च्छित शरीर, जिसको देखकर रामचन्द्रजी शोकातुर हुए हैं, आलम्बन विभाव है। हनूमानजी का वैद्य की बताई औषधि को लेकर न आना, रात्रि का बीतता जानना, पिता के वचन, लक्ष्मणजी के शील-स्वभाव तथा सहोदर भ्राता का न मिल सकना, रामचन्द्रजी की दुःखित दशाको और भी बढाते हैं। अत ये उद्दीपन विभाव हैं। प्रियबन्धु इत्यादि की दुःखित दशा मृतक का दाहकर्म, उनकी प्रिय वस्तुओं का दर्शन, गुण श्रवण इत्यादि शोक नामक प्रधान मनोविकार के उद्दीपन विभाव है।

× × × ×

जब तेहि कीन्ह राम कै निन्दा। क्रोधवन्त तब भयउ कपिन्दा।
हरि हर निन्दा सुनहि जो काना। होय पाप गोघात-समाना।
कटकटान कपिकुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी।
गिरत दशानन उठेउ सँभारी। भूतल परे मुकुट पटधारी।
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भागि भय मारुत ग्रसे।
कछु तेहि ले निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पवारे।

उपर्युक्त पद्य में राम रावण के मुख से सुनकर अंगद को क्रोध हुआ में भरकर न

क्या-क्या न कह डाला ? अत रावण आलम्बन और श्री रामचन्द्रजी की निन्दा ही इस क्रोधरूपी मनोविकार को उद्दीपन करनेवाली हुई। रिपु की उमंग इस मनोविकार का उद्दीपन विभाव है।

× × × ×

यह जो उठत सब ओर सों, दल प्रबल कल कल घोर।
बस, लील लेहि अजेहि निहि, मम चड कोप अथोर॥
जिमि प्रलय आंधी सों विचचल, जलधि जल थल भूरि।
गिरि गात सन अति छुभित बडवानल हरै चँहु पूरि॥

—सत्यनारायण कविरत्न (उत्तर-रामचरित नाटक)

उक्त पद्य कवि ने लव के मुख से कहलवाया है। जब लव ने अपने हाथ से रामादल को विनाश करके भी पुन. उसका कोलाहल सुना तो वह क्रोध करके उत्साहित होकर उनकी ओर बढता है। इस वीरत्व का कारण रिपु-वैभव है, और सेना का कोलाहल इस वीरत्व को और विस्तृत करता है। अत सेना का कोलाहल उद्दीपन हुआ। मारू बाजे की ध्वनि इत्यादि भी इस मनोविकार के उद्दीपन विभाव है।

× × × ×

एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय।
विकल बटोही बीच ही, पर्यो मूरछा खाय॥

यहाँ भय को उद्दीप्त करनेवाले अजगर तथा सिंह है। अत वही भय नामक मनोविकार के उद्दीपन-विभाव हुए।

× × × ×

आरत गलानि जो बखान करो जात यह,
 माटी मल मूत और मज्जा की सलीती है।
कहै पदमाकर जरा तो जागि भीजी तन,
 छीनी छिन छिन जैसे रेंगुदी की भीती है।
सीतापति राम के सनेह बस बीती जो पै,
 तो तो दिव्य देह यम यातना ते जीती है।
रीती रामनाम ते रही जो बिना काम तो या,
 खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।

—पद्माकर

उपर्युक्त उदाहरण में मल, मूत्र, मज्जा इत्यादि से जो अरुचि पैदा होती है, वही उद्दीपन विभाव है। इन सबकी खलीती माटी आलम्बन है।

× × ×

घन बरसत कर पर धर्‌यो, गिरि गिरधर निशक।
अजब गोप सुत चरित लखि, सुरपति भयो सशक॥

इस उदाहरण में आश्चर्य चकित करनेवाले महाराज कृष्ण आलम्बन विभाव और आश्चर्य को दृढ़ करनेवाला घन का बरसाना है। अतः "घन का बरसाना" उद्दीपन-विभाव हुआ। आश्चर्य को दृढ़ करनेवाले हेतु, गुण की विचित्रता तथा महिमा है।

× × ×

घन वितान रवि शशि दिया, फल भख सलिल प्रवाह।
अवनि सेज पंखा पवन, अब न कछू परवाह॥

उक्त काव्य में शान्ति का आलम्बन साधुपुरुष है और

वितानादि इसको और भी पुष्ट करते है। अत वन-वितानादि उद्दीपन-विभाव हुए।

अनुभाव

यहाँ तक विभाव का वर्णन कर अब हम अनुभाव के विषय में कुछ लिखते है।

जिनको निरखत परस्पर, रस को अनुभव होइ।
इन्हीं को अनुभाव पद कहत सयाने लोइ॥
आपुहि ते उपजाय रस, पहिलें होहि विभाव।
रसहि जगावे जो बहुरि, तो तेऊ अनुभाव॥

जिन्ही मुख्य कारणों से चित्त में रसादि जो भाव उत्पन्न होते है उन्ही भावो को बाहर प्रकट करनेवाले भावों को काव्य-शास्त्र में अनुभाव कहते है। अनुभावो भावबोधक (इत्यमर)। विभावों को यदि कारण कहें तो अनुभाव उनके कार्य होंगे। यदि भाव जो पहले कारण-स्वरूप हो और फिर वही रस का अनुभव करावें, तो उनको भी अनुभाव कहेंगे।

अनुभाव के तीन भेद हैं—(१) सात्विक (२) कायिक और (३) मानसिक।

सात्विक भाव

शरीर के सहज अङ्ग-विकार को सात्विकभाव कहते है। किसी प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु के देखने से शरीर पर जब किसी प्रकार का प्रभाव पडता है तब उस समय की दशा सात्विक भाव है। इसके नव भेद है—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वर-भंग, (५) कम्प, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, (८) प्रलय (९) जृम्भा।

स्तम्भ

प्रसन्नता, आधि व्याधि, लज्जा और भय इत्यादि से सम्पूर्ण अङ्गों की गति रुक जाने को स्तम्भ कहते हैं। यथा —

पर समझ न पाती काम यो थी किसी की।
कुमुद दल निकासी कान्ति-त्यागी बने क्यों ?
मधुप गण निलामो पुष्प मारे मुँद थे।
अनुजत्रय खड़े थे पुत्तली काठ की ज्यों॥

—स्वरचित

जिस समय रामचन्द्रजी ने सीताजी के अपवाद सूचक सम्वाद को श्रवण किया था, उस समय वह 'कि कर्तव्यविमूढ' हो गये थे। शेष तीनों भाई यह दशा देख काष्ठवत् रह गये थे। भय तथा लज्जा के कारण भगवान से कुछ कह न सकते थे, और न कहीं आ-जा सकते थे। उनके सर्वाङ्ग उस समय बेकार से थे। ऐसी ही अवस्था स्तम्भ कहलाती है।

प्रेम प्रमोद विवश सब भ्राता। चलहि न चरण शिथिल सब गाता॥

तुलसीदास (रामचरित मानस)

× × × ×

स्वेद

क्रोध, भय, लाज, हर्ष अथवा श्रम इत्यादि के कारण अंग प्रत्यंग में जल बिन्दु झलक आने को स्वेद कहते हैं। यथा —

मुख पर पसीना आ गया। था श्रम क्षुधा से जा रहा॥
मारे तृषा य आठ थे सूखे पड़े।

थी बात तक भाती नहीं। मुख से गिरा आती नहीं॥
नल ने कहा तब दमन से होकर खड़े॥
—स्वरचित (नल-दमयन्ती-सम्वाद)

यहाँ पर यह स्वेद नल के व्याधिग्रस्त रहने के कारण करुणा को पोषण करने के लिए दिखाया गया है। अत स्थायी भाव का परिपोषक है—साधारण श्रम का द्योतक नहीं। साधारण श्रम का स्वेद इस भेद में गन्तव्य नहीं है।

रोमाञ्च

हर्ष, शीत भय और क्रोध इत्यादि के कारण शरीर में रोम उठ आने को रोमाञ्च कहते हैं। यथा —

समाचार जब लछमण पाये। व्याकुल विलखि बदन उठि धाये।
कम्प पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरण अति प्रेम अधीरा।

यहाँ व्याकुलता के कारण पुलकावली उठी है।

मगल समय सनेह बस, सोचत जिय मम तात।
आयसु देइहि हरषि हिय, कहि पुलके प्रभु गात॥

श्यामल गात रोम भये ठाढे।

बार बार मुख चुम्बति माता। नयन नेह जल पुलकति गाता।

स्वर-भग

हर्ष, भय, मद और क्रोध इत्यादि के कारण स्वाभाविक ध्वनि के विपर्य्यय होने को स्वर-भग कहते है। यथा —

पुलकित तन मुख आव न बचना।
टूटे फूटे वचन उसने क्रोध में यों निकाले।
मुनि को निरख गद्गद् गिरा श्री राम की बस हो गई।

शकुन्तला को ज्ञान न अपना भी रहा।
'आर्य्यपुत्र की'—यही मात्र उसने कहा।
"जय हो"—निकला नहीं गिरा की गति रुकी।
बाल नृप 'वह मुझे प्रथम ही मिल चुकी॥

—मैथिलीशरण गुप्त

कम्प

हर्ष, क्रोध, भ्रम भयादि के कारण अकस्मात् शरीर के काँपने को कम्प कहते हैं। यथा —

चकित भीत अचेतन सी बनी। कँप उठी सिगरी ब्रज-मण्डली।
कुम्लिता करके सुधि कंस की। प्रबल और हुई उर वेदना॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

मुख कान्ति पड़ी पीली पीली। आखें अशान्त नीली नीली।
क्या हाय यही यह कृश काया। या उसकी शेष सूक्ष्म छाया?

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

वैवर्ण्य

मोह, क्रोध, भयादि से शरीर की कान्ति के परिवर्तन को वैवर्ण्य कहते हैं। यथा —

नव उमंगमयी सब बालिका। मलिन और सशंकित हो गई।
अति प्रफुल्लित बालक वृन्द का। वदन-मंडल भी कुम्हला गया॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

अश्रु

हर्ष, क्रोध, शोक, भय तथा धुआँ इत्यादि के कारण नेत्रों से जल प्रवाह होने को अश्रु कहते हैं। यथा —

मञ्जु बिलोचन मोचति वारी। बाली देखि राम महतारी।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोई।
रोते-रोते अरुण उसके होगये नेत्र दोनो।
ज्यों-ज्यों लज्जाविवश वह थी रोकती वारि-धारा।
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनोंमध्य आते।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

युगल नेत्र सु सीप लगा रहे, विमल मुक्त-झड़ी हर बार, या—
अवध नायक को उपहार ले उमड़ प्रेम प्रमोद नहा लसे।

—स्वरचित

प्रलय

किसी विषय, वस्तु अथवा कार्य में इस प्रकार तल्लीन हो जाना कि तन-मन की भी सुधि न रहे, प्रलय है। यथा :—

गोरी गुमान भरी गजगामिन कालिधौं कौ बह कामिनी तेरे।
आई जु ती सुचितैं मुसक्याइ के मोहि लई मनमोहन मेरे।
हाथन पाँय हले न चले अँग नीरज नैन फिरै नहीं फेरे।
देव सो ठौर ही ठाढ़ी चितौत लिखी मनो चित्र विचित्र चितेरे।

—देव (भावविलास)

यों ही बातें विविध करते अश्रु धारा बहाते।
धीरे धीरे यशुमति लगीं चेतनाशून्य होने।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

व्याकुल राय शिथिल सब गाता।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

सुख अनेकों खो चुकी इसका सहती घात नहीं मैं।
सुना न रोना आपने तो आती हूँ आज यहीं मैं।
फड़फड़ यह थी यह गिरी तन की कुछ भी खबर नहीं थी।
इसी समय गम्भीर ध्वनि गगनागत यों सुनी नहीं थी।

—स्वरचित

जृम्भा

किसी प्रेमी के विछोह, मोह तथा आलस्य के कारण क्षण क्षण में मुख के खोलने को जृम्भा कहते हैं। यथा —

आरस सों रस सों 'पदमाकर' था कि पै चल घूमन से किये।
पीक भरी पलकैं झलकैं अलकैं झलकैं छवि छूटि छटा लिये।
सो सुख भाषि सकै अब को? रसिकैं कसिकै मसकैं छतियाँ छिये।
राति की जागी प्रभात उठी अँगरात जम्हात लजात लगी हिये।

—पद्माकर

लखि का श्रमित उनींदवश, शयन करावहु जाय।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

कायिक अनुभाव

शरीर के अंगों द्वारा जो चेष्टाएं की जाती हैं, उन्हें कायिकानुभाव कहते हैं। यथा —

सैनहिं रघुपति लखन निवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे।

सीतहिं चितै कही प्रभु बाता। अहैं कुमार मोर लघु भ्राता।

सीतहिं समय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई।

लखि गुरजन बिच कमल सों, शीश छुवायो श्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हिये लगाई बाम॥

हरषि न बाली लखि ललन निरखि अमिल सँग साथ।
आँखिन ही में हँसि धर्यो शीश हिये पर हाथ॥

मानसिकानुभाव

मन कृत प्रमोदादिक अनुभाव को मानसिक अनुभाव कहते हैं। यथा :—

गोरस को लूटिबो न छीनिबो अगाका गने,
टूटिबो गने न कहूँ मोतिन के माल को।
कहै 'पद्माकर' गुवालिनि गुनीली हेरि,
हरखै हर्स यों करें झूठे-रूठ ग्वाल को॥
ना करनि, ना करति, नेह की निशा करति
साँकरी गली में रग राखनि रसाल को।
दोनों दधिदान को सुकसे ताहि भावत है
जाहि मन आयो झार झगरो गुपाल को॥

सियहिय सुख बरणिय केहि भाँती। जनु चातक पाये जल स्वाँती॥
राम सुभाय चले गुर पाहीं। सिय सनेह बरणत मन माहीं॥
मनहीं मन मनाय अकुलानी। होउ प्रसन्न महेश भवानी॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

कायिक तथा मानसिक अनुभावों के अन्तर्गत काव्य पारीण आचार्यों ने द्वादश हाव और बतलाये हैं। यह हाव सयोग-समय के हैं, इसलिये केवल सयोग शृङ्गार में ही काम आते हैं। और रसों में उनका कोई प्रयोजन नहीं। अत स्थानाभाव के कारण उनके उदाहरण नहीं दिये गये। केवल नाम और परिभाषा लिख देने से ही चतुर पाठक समझ लेंगे। अत परिभाषा-युक्त नाम अङ्कित किये जाते हैं —

(१) लीला—प्रेमवश पति पत्नी के परस्पर एक-दूसरे का वेष धारण करना।

(२) आहार्य—जहाँ पति पत्नी का अथवा पत्नी पति का रूप धारण करे, वहाँ आहार्य-भाव होता है।

(३) विलास—वह भाव जिनके द्वारा प्रियतमा प्रीतम के रिझाने का प्रयत्नकरे।

(८) विच्छित्त—थोड़े ही शृङ्गार से अधिक शोभाशालिनी होकर नायक के रिझाने को कहते हैं।

(४) विभ्रम—सयोग समय में आतुरता के कारण कार्य भूषणादि में विपर्यय होना।

(५) किलकिंचित हाव—भय, हास्य, रस, क्रोधादि का एक साथ उत्पन्न होना।

(६) ललितहाव—सयोग-काल में आभूषणादि से सज्जित सर्वाङ्ग, बोलना, चलना, फिरना और देखना सभी रिझाने-वाले हों।

(७) मोट्टायित—प्यारे के रूप, गुण, शील, स्वभावादि सुन कर प्रेम उत्पन्न होने को कहते हैं।

(८) विब्बोकहाव—सयोग समय मान धारणकर प्रीतम का निरादर करना।

(९) विहृत हाव—लाज के कारण सयोग काल में अपना अभिप्राय प्रीतम पर न प्रकट कर सकना।

(१०) कुट्टमित हाव—सुख के समय बनावटी रोष प्रगट करना।

(११) हेला हाव—संयोग-काल में ढिठाई-पूर्वक नाना विलासकरने को हेला-हाव कहते हैं।

(१२) बोधक हाव—नायक नायिकाओं का परस्पर कुछ संकेता द्वारा अभीष्टार्थ प्रकट करने को कहते हैं।

संचारी या व्यभिचारी भाव

जो भाव सब रसों में संचार करते हैं उनको संचारी भाव कहते हैं। यह स्थायी भावों में विद्यमान रहकर सम्पूर्ण रसों में जलतरङ्गवत् उत्पन्न हो-होकर उन्हीं में विलीन होते जाते हैं, समस्त भावों में संचार करने के कारण संचारी भाव कहलाते हैं। यह रस के सहायक होते हैं। इसके ३३ भेद हैं। उनके नामोल्लेख के लिए हम साहित्य-दर्पण का एक श्लोक उद्धृत करते हैं —

निर्वेदावेगदैन्यश्रम जडता आवेगमोहौ विबोध
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्राऽवहित्थ ।
औत्सुक्योन्माद शंका स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जा
हर्षासूयाविषाद सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्का ॥

अर्थात्—१—निर्वेद, २—ग्लानि, ३—शंका, ४—असूया, ५—श्रम, ६—मद, ७—धृति, ८—आलस्य, ९—विषाद, १०—मति, ११—चिन्ता, १२—मोह, १३—स्वप्न, १४—विबोध, १५—स्मृति, १६—अमर्ष, १७—गर्व, १८—उत्सुकता, १९—अवहित्थ, २०—दीनता, २१—हर्ष, २२—व्रीडा, —ग्रता, २४—निद्रा, २५—व्याधि, २६—मरण,

२७—अपस्मार, २८—आवेग, २९—त्रास, ३०—उन्माद, ३१—जड़ता, ३२—चपलता और ३३—वितर्क।

निर्वेद-संचारी

विपत्ति, ईर्ष्या अथवा किसी खेद के कारण ज्ञान उत्पन्न होने से अपने शरीर तथा सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों को अनित्य समझ उनका तिरस्कार करना निर्वेद संचारी है। यथा —

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि लोपित मंगल मग, विलसत बढ़त मोह माया मलु।
शैलशृङ्ग भव भङ्ग हेतु लखु दलन कपट पाखंड दम्भ दलु।
भूमि विलोकि रामपद अंकित, वन विलोकि रघुवर विहार थलु।
न कर विलम्ब विचारु चारु मति, वरष पाछिले सम अगिले पलु॥

—तुलसीदास

× × ×

तजो मन हरि विमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग।
कहा होत पयपान कराये विष नहिं तजत भुजङ्ग।
कागहिं कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हवाये गङ्ग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अङ्ग।
गज को कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै वहि ढंग।
पाहन पतित बान नहिं वेधत, रीतो करत निषंग।
सूरदास खलकारी कामरि चढ़त न दूजो रङ्ग।

—सूरदास

× ×

मोह मड्यो चतुराई चढ्यो चित गर्व नढ्यो करि मानसो माता।
भूलि परो तन तो मद मंदिर सुंदरता गुन जोवन माती।
सूझि परो कविदेव सबै अब जानि परी बिगरी जग जाती।
नेसुक मो में जो होतो सयान तो होतो कहा हरि सों हित होतो।

—देव

× × ×

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

—रसखानि

× × ×

पूरा ज्ञाता समझ तुझको प्रेम की नीतियों का—
मैं हे प्यारे! कुसुम तुझसे युक्तियाँ पूछती हूँ।
मैं पाऊँगी हृदयतल में उत्तमांगादि कैसे।
जो छूवेगा न मम तन भी श्याम के रंग ही में।
ऐसी हो के कुसुम तुझमें प्रेम की पक्वता है।
मैं होके भी मनुज-कुल की न्यूनता से भरी हूँ।
कैसी लज्जा परम दुख की बात मेरे लिए है।
आ जावेगा न प्रियतम का रंग सर्वांग में भी।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

× × ×

चिंता अश्रु प्रकास करि अपनोई अपमानु।
उपजै नरतनु जहँ मो निर्वेद बखानु॥

—देव

ग्लानि-सचारी

भूख, प्यास तथा रति श्रमादि के कारण शरीर का निर्बल होकर उसके अवयवो में शिथिलता आजाने को ग्लानि कहते है। यथा —

श्यामल कमल से भी अधिक लोहू रहा जिनमें झलक—
पर, प्राण प्यारा के निकट गत भार था।
पाता न इन्दु समानता, उस मुखकमल पर म्लानता—
यह सोचकर खाता हृदय पर तीर था।

—स्वरचित (नल दमयन्ती सवाद)

× × ×

शिथिल गात काँपत हियो, बोलत बनत न बैन।
करी खरी विपरीत कहुँ, कहत रँगीले नैन॥

—बिहारी

× × ×

लेती करवटें ही रही हूँ प्रेम पिय में मैं पगी।
गिन गिन घड़ी निशि तारिकाएँ आँख पलभर ना लगी।
री वायु ने कुछ शान्ति दी सो तू न छोड़े ले रही।
उड़ना अरी बुलबुल यहाँ से क्यों मुझे दुख दे रही।

× × ×

—स्वरचित

भइ गलानि मोरे सुत नाहीं।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

× × ×

रग भरे रति मानत दम्पति, बीति गई रतिया छन ही छन।
प्रीतम प्रात उठे अलसात, चित चिन चाहत धाइ गहौं धन।

मोह में खोयो चतुराई चढ़्यो चित गर्व बढ़्यो करि मानसो मातो।
भूलि परो तन तो मद मंदिर सुन्दरता गुन जोबन मातो।
सूझि परी कविदेव सबै अब जानि परो सिगरो जग जातो।
नेसुक मो में जो होतो सयान तो होतो कहा हरि सों हित हातो।

—देव

× × ×

मानुष हो तो वही रसखानि बसो व्रज गोकुल गोप के ग्वारन।
जो पसु हो तो कहा बस मेरो चरो नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हो तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हो तो बसेरो करो मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

—रसखानि

× × ×

पूरा ज्ञाता समझ तुझको प्रेम की नीतियों का—
मैं ऐ प्यारे! कुसुम तुझसे युक्तियाँ पूछती हूँ।
मैं पाऊँगी हृदयतल में उत्तमाशान्ति कैसे।
जो छूवेगा न मम तन भी श्याम के अंग ही से।
ऐसी, हो के कुसुम तुझमें प्रेम की पक्वता है।
मैं होके भी मनुज कुल की न्यूनता से भरी हूँ।
कैसी लज्जा परम दुख की बात मेरे लिए है।
आ जावेगा न प्रियतम का अंग सर्वांग मेरे।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

× × ×

चिंता अश्रु प्रकास करि, अपनोई अपमानु।
उपजै तत्त्वज्ञान जहँ सो निर्वेद बखानु॥

—देव

श्रम-संचारी

अति रति अति गति तें जहाँ, सुश्रति स्वेद सरसाय।
सो श्रम तहाँ सुभाय ये, स्वेद उसास मनाय॥

—पद्माकर

अति रति अति गति ते जहाँ, उपजे अति तन खेद।
सो श्रम नाम जानिये, निरसहता अरु स्वेद॥

—देव

कै रति रंग थकी थिर ह्वै परयंक में प्यारी परी सुख पाय कै।
त्यों पदमाकर स्वेद के बुंद रहे मुकताहल से तन छाय कै।
बिन्दु रचे मेंहदी के लसैं कर तापर यों रह्यो आनन आय कै।
इन्दु मनो अरविन्द पै राजत इन्द्रवधून के वृन्द बिछाय कै।

श्रम जलकन पलकन प्रगट पलकन थकति उसास।
करी खरी विपरीति रति, परी निसासी पास॥

—पद्माकर

खरी दुपहरी बीच तरुन तरु नगीच
सही परै तरनि के करनि धरी जाति है।
तामें तजि धाम चली स्याम पै बिकल बाम,
काम भर दाम बपु रूपहि बिलोति है।
बड़-बड़े बारनि तें भारनि के भारनि तें,
थाकी सुकुमारि अङ्ग स्वेद रंग भीनि है।
लगत न मल्ली मुखकेली बेली कुंजन में,
चढ़ति उठति डाढ़ी होति धनि होति है॥

—देव

राधिका के हिय हेरि हग हरि के हिय को पिय को पहिरायो।
केती तहाँ तिय ती तिन भोनिन मोतिन सो तिनको तनु तायो।
—देव

× × ×

आवत उदासी दुख लागे और हाँसी सुनि,
दासी उरलाय कहो को नहि दहा किये।
कहै पदमाकर हमारे जान ऊधो उन,
तात को, न मात को, न भ्रात को कहा किये।
कूबरी ककालिन कलंकिन कुरूप तैसी,
चेटकनि चेरी ताके चित्त को चहा किये।
राधिका की कहनत कहि दीजो मोहन सो,
रसिक-शिरोमणि कहायबो कहा किये।
जैसे को तैसो मिलै, तब ही जुरत सनेह।
ज्यो त्रिभग तन श्याम को, कुटिल कूबरी देह।
× × × —पद्माकर

ऊ च निवास नीच करतूती। सहि न सकहि पराई विभूती॥
जिनहि सुहाइ न अवध बधावा।
—तुलसीदास (रामचरित मानस)

× × ×

एक बार मुनिवर कौशिक के तप से सुरपति त्रस्त हुआ।
इन्द्रासन लेले न कहीं मुनि यह विचारकर व्यस्त हुआ।
भेजी तब अप्सरा मेनका उसने ऐसी रूपवती।
जिसे देखकर अपना सयम रख न सके वे महाव्रती॥
—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

धन मद यौवन मद महा, प्रभुता को मद पाय।
तापर मद को मद जिन्है का त्यजि सके सिपाय॥

जग योधा का मोहि समाना।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई, भावहि मनहि करहु तुम सोई।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

हे सारथे! हैं द्रोण क्या, आवें स्वयं देवेन्द्र भी।
वे भी न जीतेंगे समर में आज क्या मुझसे कभी॥

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

पहिनकर अधिकारों के वस्त्र, स्वतंत्र विचरता है प्रत्येक।

—स्वरचित

धृति-संचारी

साहस, ज्ञान और सत्सङ्ग इत्यादि से विपत्ति पड़ने पर भी धैर्य न त्यागने को धृति संचारी कहते हैं। यथा :—

ऊधव मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो श्याम सँग को अवराधे ईस॥
इन्द्री सिथिल भई केसव बिनु ज्यों देही बिनु सीस।
आसा लगी रहत तन स्वासा जीजै कोटि बरीस॥
तुम तो सखा श्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस।
सूरदास वा रस की महिमा जो पूछै जगदीस॥

—सूरदास

सुनु मातु मैं पायो सकल जगराज आज न सशय।

द्वन्द युद्ध देखहु सकल, श्रमित भये अति नाग

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

घट वहन से स्कंध नत थे और करतल लाल।
बढ़ रहा था श्वासगति से वक्षदेश विशाल।
श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद सीकर जाल।
एक कर से थीं सँभाले स्रस्त काले बाल।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

मद-संचारी

धन, यौवन, सौंदर्य्य अथवा मदिरा इत्यादि के सेवन से मद उत्पन्न होकर असंगत वचनावली द्वारा किसी का अपमान करना अथवा अनुचित व्यवहार करना मद कहलाता है। यथा —

आसव सेइ सिंगारे सखीन के सुन्दरि मंदिर में सुख सावै।
सापने में निठुर हरि हेरि हरें ई हरें हरिनी दृग रोवै।
नेह कहै उठि कै विरहानल आनँद के अँसुवानि समावै।
आतुरही भाजि गई सब लाज हँसै अरु मोहन को मुख जोवै।

—देव

धूम निया में सुनारणी लै यनि बैठ दुहूँ मद के मतवाले।
त्यौं पदमाकर झूमैं झुकैं घन घूमि रचैं रसरंग रसाले।
सील को जीति अभीति भये सुगने न भयो कछु शान दुशालें।
श्राष्ट अका अनि ही का पिये मदमनन के फिरे प्रम के प्याले।

—पद्माकर

धन मद योनन मद महा, प्रभुता को मद पाय।
तापर मद को मद जिन्है, को त्यागि सकै मिलाय॥
जग योधा को मोहि समाना।

परम स्वतत्र न सिर प कोइ भावहि मनहि करहु तुम सोइ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

हे सारथे! हैं द्रोण क्या, आव स्वय न्देवेन्द्र भी।
वे भी न जीते गे समर म आज क्या मुझसे कभी॥

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

पहिनकर अधिकारो के वस्त्र, स्वतत्र विचरता है प्रत्येक।

—स्वरचित

धृति-संचारी

साहस, ज्ञान और सत्सङ्ग इत्यादि से विपत्ति पडने पर भी धैर्य न त्यागने को धृति सञ्चारी कहते हैं। यथा —

'ऊधव मन न भये दस बीस।
एक हुता सो गयो श्याम सँग को अवराधै ईस॥
इन्द्री सिथिल भई केसव बिनु ज्यो देही बिनु सीस।
आसा लगी रहत तन स्वासा जीजे कोटि बरीस॥
तुम तो सखा श्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस।
सूरदास या रस की महिमा जा पूछै जगदीस॥

—सूरदास

सुनु मातु मैं पायो सकल जगराज आज न सशय।

अथवा—

सब प्रकार प्रभु पूरण कामा।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

सांवरो रूप रह्यो भरि नैननि बैननि के रस सों श्रुति सानो।
गात में देखत गात तुम्हारेई बात तुम्हारी ये बात बखानो।
ऊधो हहा हरि सों कहियो तुम हौ न यहाँ यह हौं नहिं मानो।
या तन ते निछुरे तो कहा मन तें अनत जु बसो तब जानो।

—देव

या जग जीवन को है यह फल जो छल छाँड़ि भजै रघुराई।
सोधि के संत महंतनहू पदमाकर बात यहै ठहराई।
ह्वै रहै होनी प्रयास बिना अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो विधि भाल में लीक लिखी सो बढ़ाइ बढ़ै न घटै न घटाई।

—पद्माकर

होवे विभिन्न रवि का कर तापत्याग।

देवे मयंक कर को तज माधुरी भी।

तो भी नहीं ब्रज-धरा-जन के उरों में।

उत्फुल्ल मूर्ति मनमोहन की कढ़ेगी।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवितेश लड़ें नहीं।
तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं।
मैं जानती हूं नाथ! यह, मैं मानती भी हूं तथा।
उपकरण से क्या, शक्ति में ही सिद्धि रहती सर्वथा।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

आलस्य-संचारी

बहु श्रमादिक भार ते, कारज कह्या न जाय।
सो आलस्य जहाँ रहै, तन अनमता आय॥

—देव

जागरणादिक तें जहा, जो उपजत अलसानि।
ताही सो आलस कहत जे कोविद रसखानि॥

—पद्माकर

अधिक जगने पर सामर्थ्य होने पर भी उत्साहहीन होने से शरीर में अलसता व्याप्त हो अथवा भूषणादि का भार भी असह्य हो, उसे आलस्य-संचारी कहते हैं। यथा —

ऊधौ आये ऊधौ आये हरि को संदेसो लाये,
सुनि गोपी गोप धाय धीर न धरत हैं।
नारी लगि दौरी उठी भोरी लौं भ्रमति मति,
गनति न जाना गुरु लोगनि दुरत हैं।
ह्वै गइ निकल बाल बालम वियोग भरी,
जोग की सुनत बात गात त्यो जरत है।
भार भये भूषन सँभारे ना परत अङ्ग,
आगे को धरत पग पाछे को परत है।

—देव

गोकुल में गोपिन गोविन्द संग खेली फाग,
राति भरी आलस में ऐसी छवि छलकै।
देह भरी आलस कपोल रस रोरी भरे,
नींद भरे नयनन कछुक झँपे झलकै।

लाली भरे अधर बहाली भरे मुखवर,
कवि पदमाकर विलोकै कौन सलकै।
भाग भरे लाल श्रो सुहाग भरे सब अङ्ग,
पीक भरी पलक अबीर भरी अलकै।

निशि जागी लागी हिये, प्रीति उमगत प्रात।
उठि न सकत आलस वलित, सहज सलोने गात॥

—पद्माकर

रघुवर जाय शयन तब कीन्हा॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

रक्त कमल नयना रने रगे जमावहु नाथ।
कहौ कछु निकसै कछु रमे रानि किहि साथ?

—स्वरचित

विषाद-संचारी

इष्ट प्राप्त न होकर अनिष्ट-सिद्धि होने के कारण जो दुःख प्राप्त होता है उसे विषाद-संचारी कहते हैं। यथाः—

सोच न हमारे कछु त्याग मनमोहन के,
तनको न सोच जो प योंही जरे जाइहैं।
कहै पदमाकर न सोच अब एहु यह,
आइहैं तो आइहै—न आइहै, न आइहै।
योग को न सोच और भोग को न सोच कछु
यही बड़ो सोच सो तो सबनि सुआइहै।
कूबरी के कूबर में बेध्यो है त्रिभंगता,
त्रिभग को त्रिभगी लागे कैसे सुरझाइहै।

—पद्माकर

केलि करें जल में मिल बाल गुपाल तहाँ तट गोधन घेरे।
चोरि सबै हरवा हरवाइ दे दूरि ते गोरि घरयानु को फेरें।
हार हरे हिय में हहरै तिय धीर धरै न करै इकटेरे।
राधिका आछी हेरई हरे हरि के मुख ओर हँसै अरु हेरे॥

—देव

जिस राज्य के हित शत्रुओं से युद्ध है यह हो रहा,
उस राज्य को अब, इस भुवन में कौन भोगेगा अहा!
हे वत्सवर अभिमन्यु! वह तो था तुम्हारे ही लिये,
पर हाय! उसकी प्राप्ति के ही समय में तुम चल दिये!

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

अब न धीर धरत बनत, सुरति बिसारी कंत।
पिक पापी कूकन लग्यो, बगरो बधिक बसंत॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

थी स्मन जब सोकर जगी, पति प्रेम पद्धति में पगी।
आँखों तले उसके अँधेरा होगया।
रोकर लगी कहने तभी, व्याकुल हुए वनचर सभी।
हा! क्या हुआ सर्वस्व मेरा खोगया॥

—स्वचरित, (नल दमयन्ती सम्वाद)

यही कहा उसने कि "कहाँ अब मैं अभागिनी जाऊँ?—
मा धरणी! तू मुझे ठौर दे, तुझमें अभी समाऊँ।"

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

राम राम रट बिकल भुआल॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मति-संचारी

मति, निगम आगमन तें, उपज भलो विचार।
ताही सों मति कहत हैं, सब ग्रन्थन का सार॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

मिथ्या भ्रम होने पर भी सुनीति ज्ञान का होना मति संचारी है। यथा —

बार ही बार नदी के बके मति बोर दै ब्रज विष विष ही को।
मान लें या पदमाकर की कही जो हित चाहत आपने जी को।
शम्भु के जीव को जीवनमूरि सदा सुख दायक है मन ही को।
राम ही राम कहै रसना कमना ? तू भजै रम नाम सही को।

पाये पर न कुसंग के पदमाकर यह डीठि।
परधन खात कुपट ज्यों, विहत विचारी पीठि॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

श्याम के संग सदा विलसी सिसुता में सुता में कछू नहीं जानी।
भूल गुपाल सों गर्व कियो गुन जोवन रूप वृथा अरि मानी।
ज्यों न निगोड़ी तब समझी कवि देव कहा अब जो पछितानी।
धन्य जिये जग में जन ते जिनको मनमोहन ते मन मानी।

—देव

राम विमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवन हारा।
अब तब सिर भुज जम्बुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं॥

अहह नाथ ! रघुनाथ सम कृपासिन्धु को आन।
मुनि दुर्लभ जो परम गति, तुम्हें दीन भगवान॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

यह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारो।
जोग जुगुति अरु मुकुति बिविध बिध या मुरली पर वारो।
नहि तुम ब्रज बसि नंदलाल को बाल बिनोद निहारो।
नाहिन रास रसिक रस चाख्यो ताते डेल सो मारो।

—तुलसीदास (कृ० गी० व०)

है भूख से मरना भला, या काटकर अपना गला।
अच्छा नहीं पर, इस तरह तन पालना।
रस गाविसुत की यह दशा, है याद आती दुर्दशा।
जो श्वपच भोजन से हुई सच मानना॥
माना न गुरुओं का कहा, सकट इसी से सब सहा।
देखो नटन मेरा हुआ छलनी हुआ
इसका सु प्रायश्चित कहो, या दंड या बदला करो।
कृतकृत्य हूँ इससे बड़ा धर्म मैं हुआ॥

—स्वरचित, (कृष्ण-भीष्म-संवाद)

चिन्ता-संचारी

जहां कानहू बात की, चित में चिन्ता होइ।
चिन्ता तासों कहत हैं, कवि-कोविद सब कोइ॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

इष्ट वस्तु पाये बिना, एक आस चितु होय।
स्वास, ताप, वैराग्य जहँ, चिन्ता कहियत सोय॥

—भावविलास

जहाँ किसी बात की मन में चिन्ता होती है या अभिलाषित वस्तु के प्राप्त न होते हुए केवल आशा ही आधार होती

है, उसे चिन्ता कहते हैं। चिन्ता का अनुभव कराने के लिए स्वाँस, ताप और वैवर्ण्य का प्रकाश होता है। यथा :—

जानति नाहिं हरै हरि कान के मेरीयो कौन बधू मन भावै।
मोही सों रूठि के बैठि रहे किधौं कोई कहूँ कछु सोधन पावै।
वैसिय भाँति भट्ट कबहूँ अब क्योंहूँ मिलै कहूँ कोई मिलावै।
आँसुनि मोचति सोचति यों सिगरो दिन कामिनि काग उड़ावै।

—देव

झिलत झकोर रहैं पौनन की जोर रहैं झपट मरोर रहै थार रहैं तन सों।
कहै पद्माकर तकैयन के भेह रहैं नेह रहैं नैननन मेह रहैं दव सों।
बाजत सुबैन रहैं उनमद मैन रहैं चित में न चैन रहै चातकी के रव सों।
गेह में न नाथ रहैं द्वार ब्रजनाथ रहैं कथलौं मन हाथ रहैं साथ रहै सब सों।

कोमल कंजमृणाल पै, कियौं कलानिधि बास
कन को ध्यान रह्यो जो, धरि मित्र मिलन की आस॥

—पद्माकर

चिन्ता कवनिहु बात कर, तात करिअ जनि मोर।
चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

एक दिन पुरुवंश की भी सम्पदा—वृद्धिशीला जो रही अब तक सदा।
सुत बिना योंही पड़ी रह जायगी, कौन जाने राम किसके आयगी!

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

नाना प्रसंग उठते जन-मध्य में थे। जो थे मयंकित सदा करते सबों को।
था सूखता अधर औ कँपता कलेजा। चिन्ता अपार चित में चिनगी लगाती॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

मोह-संचारी

आपुहि अपनी देह को, ज्ञान जबै नहिं होय ।
विरह दुख चिन्ता जनित, मोह कहावत सोय ॥

—पद्माकर

अद्भुत दरसन वेग भय, अति चिन्ता अनि कोह ।
जहँ मूर्छा विस्मरन अरु, जड़तादिक कहु मोह ॥

—देव

जहाँ चित्त में किसी प्रकार की चिन्तादिका के कारण अपने शरीर का ज्ञान न रहे, उसे मोह कहते हैं। इसमें मूर्च्छा विस्मरण इत्यादि होने से मोह का प्रकाश होता है। यथा —

गोउन को सुधि है न कछू बुधि नाईं भलाई में बूड़ि बही है।
त्यों पदमाकर दीन मिलाय क्यों वग वधायन को उमही है।
आपुहि की ना दिखादिख में दशा दोउन की नहिं जानि कही है।
मोहन मोहि रह्यो कब को कब की वह मोहनी मोहि रही है।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

ओरो कहा कोउ बालक है नयो तन जोबन तादि जनायो ।
तेरइ नैन बड़े ब्रज में जिनमों रस कीनो जसोमति जायो ।
डोलतु है मनो मोल लियो करिके न बोलत बोल बुलायो ।
मोहन को मन मानिक सो गुन, सो गुहि तैं उरमो उरझायो ।

—भावविलास

मदमाते तन बीहँसी, दीह दृगन में नेह ।
सुमनमाल मोरी परत, निरमोही के नेह ।

—पद्माकर

सीता और न बोल सकीं, गद्गद कंठ न खोल सकीं।
इधर ऊर्म्मिला मुग्ध गिरी, कहकर "हाय !" धड़ाम गिरी!
लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये, सबने दो-दो बूँद दिये।
माँ ने कहा कि—"हा बेटी! आज यही पर तू लेटी!"
"बहन! बहन" कहकर सीता करने लगी व्यजन सीता।
"आज भाग्य जो है मेरा वह भी हुआ न हा! तेरा!
व्यग्र हुए प्रभु धर्म्मधनी, रही सुमित्रा मूर्ति बनी।
रख गोदी में उसका सिर—बोली यों कौशल्या फिर—

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

दौड़ा ग्वाला व्रज-नृपति के सामने एक आया।
बोला गायें सकल वन को आप की है न जाती।
आँखों से है न तृण गहती है न बच्चे पिलाती।
हा हा! मेरी सुरभि सब को आज क्या हो गया है!

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

मुनि अति विकल मोह मति नाठी।

लीन्ह लाय उर जनक जानकी।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

स्वप्न-संचारी

निद्रावस्था में किसी पदार्थ के ज्ञान को स्वप्न-सञ्चारी कहते हैं। यथा —

सोवत तें सखी जान्यो नहीं वह सोवत ते घर आयो हमारे।
पीतपटी फहिरो लपटी अरु साँवरो सुन्दर रूप सवारे।

"देव" अबै लगि आँखिन ते वह बाँकी चितौनि टरै नहि टार।
सपने में चित चोर लियो वह चोगरी मोर पखावन वार॥
"सोवत आजु सखी सपने "द्विजदेवजू" आनि मिले वनमाली।
जौलों उठी मिलिबे कहँ धाय सुहाय भुजान भुजान पै घाली।
बोलि उठे ये पपीहन तो लगि पीव कहाँ कहि कूर कुचाली।
सम्पति सी सपने की भई मिलिबो ब्रजराज को आजु को आली।
कापि रहे छिन सोवत हूँ कछु भाषिबो मो अनुसारि रही है।
त्यों पदमाकर स्वेद कंचनि स्वेद के बुन्दनि धारि रही है।
नेप दिखा रिवी के सुख मैं तनकौ तनका न सम्हार रही है।
जानति हों सखि सोवत में नँदलाल को नारि निहारि रही है।

सपनेहु सोवन न दई निर्दई दई
त्रिलपत रहिहौं जैसे जल बिनु झखियाँ।
"कुन्दन" संदेसो आयो लाल मधुसूदन को,
सब मिलि दौरीं लन आँगन निनखियाँ।
वही समाचार ना सुखागार संदेसो कछू,
कागद लै कोरो हाथ दीनी लैके सखिया।
छतियाँ सो पतियाँ लगाय बैठी बाचिबे को,
जागो खोलौं स्याम तोलौं खुल गई अँखियाँ।

यह बात तू ना जानती, तो चाव मम मन में रहा।
दरस सुख मैं पा रही हूँ, स्वप्न ही सुख दे रहा।
मैं हूँ पड़ी प्रिय प्रेम में, तू उर्वशी क्यों ले रहा ?
उड़जा अरी बुलबुल यहाँ से, क्यों मुझे दुख दे रही।

—स्वरचित

क्यों करि झूठी मानिये, सखि सपने की बात ।
जु हरि हर्यो मो मन तिया, सो न पाइयत प्रात ।

—पद्माकर

दिनप्रति देखहुँ राति कुसपने —

सपने बानर लंका जारी ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

विबोध-सचारी

निद्रा से उठने की अवस्था का नाम विबोध-संचारी है । यथा —

सापने में गई देखन हौं सुनि नाचत नंद जसोमति को नट।
वा मुसिक्याइ के भाव बताय के मेरोई रोचि रसरो पकरो पट ।
तो लगि गाय रम्हाइ उठी कवि "देव" बधूनि मथ्यो दधि को घट ।
चौंकि परी तब कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुञ्ज न कालिंदी को तट ।

अधखुली कंचुकी उरोज अध आधे खुले,
अधखुले वेष नख रेखन के झलकैं ।
कहै पदमाकर नवीन अधनीवी खुली,
अधखुले छहरि छराके छोर छलकैं ।
भोर जगी प्यारी अध ऊरध इतै की ओर,
भापी झिझि झिरकि उघारि अध पलकैं ।
आंखें अधखुली अधखुली खिरकी है खुली
अधखुले आनन पे अधखुली अलकैं ।

अनुरागी लागी हिये, जागी बड़े प्रभात।
ललित नैन बेनी छुटी, छाती पर छहरात।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

विगत निशा रघुनायक जागे।

उठे लषण निशि विगत सुनि, अरुणशिखा धुनि कान।
गुरु ते पहिले जगतपति, जागे राम सुजान।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

जागे का नहि ग " सुन म उठकर जन खड़ा हुआ था।
था केवल म हीं यहा या यम निस्तर पड़ा हुआ था।

—स्वरचित

स्मृति-संचारी

भूले हुए किसी पदार्थ का स्मरण हो आने का नाम स्मृति सचारी है।

(सुमिरन बीती बात को इस्मृति भाव कहाय।)
समकार सम्पति विपति अधिक प्रीति अति त्रास।
प्रिय अप्रिय सुमिरन सुमृति, इक चित मौन उसास।

—देव

उदाहरण

नीर भरे मृग केसे बड़ दृग स्रवति नीचे निचाइ निचोरनि।
लै ल उसास लिये धरनी धरि ध्यान रहै करि दीठि अडोलनि।
बैठि रहै कबहूँ चुप ह्वै कवि देव कहै कर चापि कपोलनि।
मानस के बिछुरे पर बाल सुने नहि बाल न बोलनि बोलनि।

× × ×

आक्षेप अपमान से उत्पन्न होती है और उस समय स्वेद, कम्प तथा भ्रूभंग इत्यादि की प्रक्रियाएँ प्रदर्शित होती हैं । यथा—

देव मनावत मोहन जू कब के मनुहारि करैं ललचौंहे।
बातें बनाय सुनावैं सखी सब तातों अजौं सीरी रिसौंहे रसौंहे।
नाह सों नेह तजै तरुनी तजि गति चितौति चितौति ससौहै।
मानति नाहिं तिरीछिहि तानति तान सी आँखें कमान सी भौंहें॥

—भाव विलास

जैसो तैं न मोसों कहूँ नेकहू डरात हुतो,
ऐसो अब हौंहूँ तोसों नेकहूँ न डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो ताऊ,
मंड करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं।
चलो चलु चलो चलु, बिचल न बीच ही तें,
कीच बीच नीच तौ कुटुम्ब को कचरिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहिं,
गंगा के कछार में पछारि छार करिहौं।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

गरब सुअंजन ही बिना, कंजन को हरि लेत।
खंजन मद भंजन अरथ, अंजन अँखियन देत।

—पद्माकर

जो उन षोडश वर्ष के राजीव लोचन राम ने,
मुनि मख किया था पूर्ण वधकर राक्षसों के सामने।
पर व्यूह-भेदन आज त्यों ही वैरियों को मार के,
निज तात का मैं हित करूँगा निमल यश विस्तार के॥

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथवध)

बोलो रसिक सुजान फाग अब आकर खेलो।
सर्व समर्पण रूप आँस इस असि की झेलो।
निकलो खोलि कपाट निरख लो नारि नवेली।
फिर न मिलेगी और जन्मभर झुलसी खेली।

—नाथूराम शङ्कर शर्मा (गर्भरंडा-रहस्य)

जिनका कोप विशेष बढा था तपोभग होजाने से,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढाने से।
उन हर के तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात् अग्नि स्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी (कुमारसभव सार)

हिन्दू पति के बैन सुनत छत्री कोपे सब।
अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दौर्यो तब।
लै ले असि दृढ पन कियो, छ्वै छ्वै प्रभु के पाय।
"जौलौ तन, स्वाधीनता तौलौं रखौं बचाय।
सक करिये न कछु"।

—राधाकृष्णदास (प्रताप विसर्जन)

सुनतहि लषण कुटिल भईं भौंहैं। रद पुट फरकत नयन रिसौंहैं॥
जो राउर अनुसासन पाऊँ। कदुक इव ब्रह्मांड उठाऊ॥
× × × ×
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड जनक धनुष किहि तोरा॥
× × × ×
बेगि बताव मूढ नतु आजू। उलटौं महि जहँ लगि तव राजू॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

गर्व-संचारी

बाहुबल, बुद्धि, विवेक, द्रव्य, कुटुम्ब अथवा सौंदर्य आदि को

भुज बल भूमि भूप विनु कीन्ही। निपुल नार महि देनन दीन्ही।

अथवा—

कुम्भकरन से बन्धु मम, सुत प्रसिद्धि सक्रारि।
मोर पराक्रम सुनेसि नहि, जितेउँ चराचर भारि।
—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

उत्सुकता—संचारी

किसी प्रेमी के मिलने की उत्कट लालसा अथवा किसी कार्य्य के सिद्ध करने को निरवलव उद्यत होना उत्सुकता-सचारी है। इसमें प्रेमी के स्मरण से गात में गौरव-युक्त आलस्य का प्रादुर्भाव होता है, और प्रेम-पाश में फसकर देश तथा काल असह्य होते हैं। यथा—

केधों हमारिहि बार बडो भया के रवि को रथ ठौर ठयो है।
भोरते भानुकी ओर चितौति घरी पलते गनते ही गयो है।
यावतु छोर नहीं छिनको दिन कौन अभै लगि जाम गयो है।
पाइये केसिक सॉझ तुरन्तहि देखुरी बोस दुरत भयो है।
—देव

ताकिये तितै तितै कुसुम्भसो कुवोई परै प्यारी परनीन पाउँ धरनि जितै जितै।
कहै पदमाकर सुपोन ते उतालो वनमाली पै चली यो बाल वासर वितै विते।
बारही के भारन उतारि देति आभरन हीरन के हार देत हिलि न हितै हितै।
चादनी के चौसर चहूँधा चौक चादनी मे चॉदनी सी आई चद चॉदनी चितै-चितै

सजे विभूषण बसन सब, सुप्रिय मिलन की हौस।
सह्यो परति नहि वेसहू रह्यो अधघरी द्योस॥
—पद्माकर (जगद्विनोद)

द्वार खरो भयो भावता नेहतें मेहतें आयो उनै अँधियारो।
म चातुर आतुर ह्वे मुरली सुर दे कियो नेकु इसारो।

ह्वा मन भावती मढ़ही मट गइ धरवि चहँ नन्द किनारो।
अंक में लाइ निसंक ह्वै जाइ ब्रजेश उठाय लियो प्रिय प्यारो।

× × ×

लोभी भौंरा तृषित अति ही मुग्धसा हो खड़ा है।
त्यागो लज्जा अधर-रस पी तृप्त होने उसे दो।
इच्छा होती रह रह यही पुष्प माला खिलो सी।
वैदेही हो नित प्रति लगी आप मेरे गले में।

—स्वरचित (सीता रावण-संवाद)

दिन समस्त समाकुल थे रहे, सकल मानव गोकुल ग्राम के।
अब दिनान्त विलोकतहीं बढ़ी, व्रज विभूषण दर्शन लालसा।
सुन पड़ा स्वर ज्यों कल वेणु का, सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया, तुरत ही अनियंत्रित भाव से।
वय वती युवती बहु बालिका, सकल बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से, स्वदृग का दुख मोचन के लिये।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रियप्रवास)

प्रिय दर्शन का उसे यदपि उत्साह बड़ा था।
पर स्वजनों का विरह-ताप भी बहुत कड़ा था।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुजबल रिपुदल जीति।

रामदरस हित सब नर नारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी।

—तुलसीदास (रामचरित मानस

अवहित्थ-सचारी

लज्जा, गारव धृष्टता गोपे आकृति क्रम।
आन कहे आने करे सुअवहित्थ के धर्म॥

—देव

जो जहँ करि कछु चातुरी दशा दुरावे आय।
ताही सो अवहित्थ यह, भाव कहत कविराय॥

—पद्माकर

चातुर्यपूर्वक वास्तविक बात अथवा कार्य को गुप्त रखना, कुछ कहना कुछ करना अवहित्थ सचारी कहलाता है। यह कार्य लज्जा, गौरव तथा धृष्टता से प्रेरित होकर किया जाता है। यथा :—

देखन को वन को निकसी वनिता बहु बानि बनाइ के बागे।
देव कहै दुरि दारि के मोहन आय गये उन ते अनुरागे।
बाल की छाती छुई छल सो बन कुंजन में रस पुंजन पागे।
पीछे निहारि निहारत नारि निहारि हिये के सुधारन लागे।

—देव

भोर जगी जमुनातल भाग म धाय धँसी जल केलि की माती।
त्यो परमाकर पैग चलै उछलै जग तुङ्ग तुरङ्ग निधाती।
टूटे हरा छरा छूटे सबै सरबोर भई अँगिया रँगराती।
को कहतो यह मेरी दशा गहतो न गुविन्द ता मैं बहि जाती।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

निरखत ही हरि हरष के, रहे सुआंसू छाय।
रमत अलि केवल कहो लाग्यो धूमहि धाय।

—पद्माकर

चढत घाट निचर्यो सुपग, भर्यो आइ इन अंक।
ताहि कहा तुम तकि रहीं, यामें कौन कलंक॥
काउ कछु अरु काहुपै, मति लगाइयो दोष।
होन लगो ब्रजगलिन में, होरिहारन को घोष॥

—बिहारी

तन सकोच मन परम उछाहू। गूढ प्रेम लखि परे न काहू॥
सेर्मा धीर, निहँसि उरगोई। चार नारि जनु प्रगट न रोई॥
रचि पचि कोटिक कुटिलपन, कीन्हेसि कपट प्रबोध।
कहेसि कथा सत सौतिकर, जाते बढै बिरोध॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

विरग आया बिछुडने का समय दोनों ओर।
बिछुड कर भी वे परस्पर बन गये चितचोर॥
मार्ग में मिस से ठिठकती ठहरती सी बार।
गई व्यग्र शकुन्तला नृप को निहार निहार॥

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

दीनता-संचारी

विरह अथवा किसी कठिन दुख के असह्य होने पर जो दीनता प्रदर्शित होती है उसे दीनता संचारी कहते हैं। दीन वचन इत्यादि इस दशा का अनुभव कराते हैं। यथा —

रैन दिन नैन दोउ मास ऋतु पावस के,
बरसत बड़े-बड़े बूँदन सो झरियें।
मैन सरजोर मोर पवन झकोरन सों,
आई है उमँगि छिनि छाती नीर भरियें।

टूटी नेह नाव छूटो श्याम सों सनेह गुनु,
ताते कवि देव कहैं कैसे धीर धरिये।
विरह-नदी अपार बूड़त ही मॅझधार,
ऊधौ अब एक बार खेइ पार करिये।

—देव (भाव-विलास)

कै गिनती सी इती विनती दिन तीनक लौं बहुबार सुनाई।
त्यों पदमाकर मोह मया करि तोहि दया न दुखीन की आई॥
मेरो हरा हर हार भयो अब ताहि उतारि उन्हैं न दिखाई।
ल्याई न तू कबहूँ बनमाल गुपाल की सो पहिरी पहराई॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

मुख मलीन तन छीन छवि, परी सेज पर दीन।
लेत क्यो न सुधि सॉवरे, नेही निपट नवीन॥

—पद्माकर

यही कहा उसने कि—कहाँ अब मैं अभागिनी जाऊँ?
माँ धरणी! त मुझे ठौर दे, तुझमें अभी समाऊँ॥

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

छुद्र सी हमारी नाव, चारों ओर है समुद्र,
वायु के झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं।
शीघ्र निगल जाने को नौका के चारों ओर,
सिन्धु की तरङ्गें सौ-सौ जिह्वायें पसारे हैं।
हार सभी भाँति हम अब तो तुम्हारे बिना,
झूठे ज्ञात होते और सब के सहारे हैं।

और क्या कहे अहो ! डुबादो या लगादो पार,
चाहे जो करो शरण्य ! शरण तुम्हारे हैं ।
—सियारामशरण गुप्त

डूब रही पुण्य भूमि आज ब्रजराज ! देखो,
कैसे हा बचेगी जो न आप ही बचाओगे ।
ध्वस हुआ जाता मोरभेयी बश कसरिपो !
नष्ट हुआ गोकुल क्या दूसरा बसाओगे ?
जाते अहो ! मारे ये तुम्हारे मारे प्यारे जन,
माधव ! मुरारे ! कैटभार ! कब आओगे ?
देर जो लगाओगे, न पाओगे किसी को यहाँ,
पीछे पछताओगे, कठोर कहलाओगे ।
—मैथिलीशरण गुप्त (गोवर्द्धन धारण)

बहुत सह चुकी हूँ और कैसे सहूँगी ।
पवि सदृश कलेजा मैं कहाँ पा सकूँगी ।
इस दृषित हमारे गात को प्राण त्यागो ।
दुख विगत नहीं तो निरगे गे मरूँगी॥
—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

चन्द्रहास हरु मम परितापा । रघुपति विरह अनल संतापा ॥
शीतल निशि तव असि वरधारा । कह सीता हर मम दुख भारा ॥
आपन दारुण दीनता कहेउ सबहि समुझाय ।
—तुलसीदास (रामचरित मानस)

हर्ष संचारी

किसी कार्य्य के सिद्ध होने, किसी प्रेमी के दर्शन करने

अथवा उसका कुछ समाचार सुनने से चित्त आनन्दित होने को हर्ष-सचारी कहते हैं। पुलकावली तथा प्रस्वेदादि आनन्द सूचक चिह्न ही इसका अनुभव कराते है। यथा.—

बैठी ही सुन्दरि मन्दिर मे पति को पथ पखि पतिव्रत पोखे।
तो लगि 'आयेरी' आइ कह्यो दुरि द्वार ते देवर दौरि अनोखे।
आनँद में गुरु की गुरुताउ गनी गुन गोरि न काहु के ओखे।
नूपुर पाँइ उठे झनकाइ सुजाइ लगी वन राय झरोखे।

—देव

जग जीवन को फल जानि परयो धनि नैननि का ठहरैयतु है।
पद्माकर ज्यो हुलसै पुलकै तनु सिंधु सुधा क अन्हैयतु है।
मन पैरत सो रस के नद में अति आनँद में मिजिजैयतु है।
अब ऊचे उरोज लखे तिय के सुरराज के राज सो पैयतु है।

तुमहि विलोकि विलोकिये हुलसि रह्यो यो गात।
अँगी में न समात उर उर में मुद न समात॥

—पद्माकर

जानि गौरि अनुकूल, सिय हिय हरष न जाइ कहि।

उदित उदय गिरि मच पर रघुवर बाल पतग।
बिकसे सन्त सरोज उर, हरषे लोचन भृग॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

उछलते शिशु थे अति हर्ष से, युवक थे रस की निधि लूटते।
जरठ को फल लोचन का मिला, निरख के सुषमा सुखखान की।

बहु विनोदित थीं व्रज बालिका, तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़तीं ।
बलि गईं बहु बार यशोमती, लख अनूपमता ब्रजचंद की ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

हँसते हुए फिर पार्थ बोले अन्य विधि वचनावली,
"गोविन्द ! हो तो तुम बड़े ही क्रूर, मायावी छली ।
रवि को छिपाने के प्रथम मुझको सचेत किया नहीं,
आजाय मरने की दशा, ऐसी हँसी होती कहीं ?"
हँसने लगे तब हरि अहा ! पूर्णेन्दु सा मुख खिल गया,
हँसना उसी में भीम, अर्जुन सात्यकी का मिल गया !
यों मोद और विनोद के सब सम्म झोंके झेलते,
भगवान भक्तों से न जाने खेल क्या-क्या खेलते ?

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

व्रीड़ा-संचारी

किसी कारण लज्जा उत्पन्न होने को व्रीडा-संचारी कहते हैं। इसमें मुख गोपनादि की क्रियाएं होती हैं। यथा —

आजु सखी मुख सोइ सुता सखी गाँसिहू सोच सकोच के हाते।
हातो भयो बहु कैसे सकोच बड़े निधि नाह सो नेह के नाते।
कैसो कही रति मानि रही रतिमन्दिर मे मदिरा मदमाते।
मारि दयेरो हरे हिय देव मुदासि रही अगुरी दबि दाँते॥

—देव

कान्ह परी फिर लाजभरी स्याम सुधाह्न तो नैन सों नैन मिला लै।
यों पद्माकर प्रीति प्रतीति में नीति की रीति महा उर साले॥

ये दिन यौवन कैतो इतै सुन लाज इती तु करैगी कहा लै।
नेक तौ देखन दे मुखचन्दसों चन्द्रमुखी मति घूँघट घालै॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

गुरु जन लाज समाज बडि, देखि सीय सकुचानि।
लगी बिलोकनि सखिन तन, रघुबीरहि उर आनि।
गिरा-अलिनि मुख पङ्कज रोकी। प्रगट न लाज निशा अवलोकी।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिनहि बिलोकि बिलोकति धरणी। दुहुँ सकोच सकुचति वर वरणी।
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥

× × × ×

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितै दृष्टि करि बाँकी।
खंजनि मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिनहि सिय सयननि।
अंगद बचन सुनत सकुचाना। रहा बालि बानर मैं जाना।
गहसि न रामचरण शठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

उग्रता-संचारी

हृदय में दया का संचार न होना ही उग्रता-संचारी है। दोष, कीर्तन, चौरता, दुर्जनता और अपराधादि से इसका अनुभव होता है। यथा —

मोहन माइ भये मथुरापति देत महा मद सों मदमातो।
गोकुल गाँव के गोप गरीब हैं बासुदेवरावरहो फरै इहाँ तो।

वहि रहो सपनेहु सुन्यौं कहुँ राजनि सों परजानि को नातो।
कोरे परे अब कूबरी के हरियाते कियो हम सों हित हातो।

—देव

ह्वै रहीं कनौड़ी मति कौड़ी भई गोपी अति,
डौंडी फिरी लौंडी की न लाज धारियतु है।
बने महाराज आज सुनै है समाज-वाद
तातें फरियाद हमहूँ पुकारियतु है।
दरद हरे है तन गरद नियाम श्याम,
अब क्यों करद लै करेजा फारियतु है।
चाहिये कठोरता न ऐसी बरजोर ऊधो,
काकरी के चोरन कटारी मारियतु है॥

कहा कहौं सखि काम को, हिय निरदयपन आज।
तन जारत पारत बिपति, अपति उजारत लाज॥

—पद्माकर

जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥

तुलसीदास (रामचरित मानस)

थे पक्ष के चश्मे लगे, निज स्वार्थ ही में जो पगे।
बने अनेकों थे शिकारी धर्म के।
अन्याय के सब काम थे, लेते सुमति का नाम थे।
भय हीन थे साथी सभी दुष्कर्म के।
कुलराज के आदेश से, पकड़ी हुई आवेश में।

में वस्त्र केवल एक ही धारण किये।
लाई गई उस थान में, जकडी हुई अपमान में।
बठे जहाँ सब न्याय का झडा लिये।
तैलादि से रहते सिचे, सो केश भी थ यम खिंचे।
पर जू न रेंगी थी किसी के कान म।

कुछ पूछने पर रोष था, औ गालियो का कोप था।
यम हो रहे सब चूर थे अभिमान मे।

—स्वरचित (कृष्ण-भीष्म सवाद)

"सुनो, हे राम! कटक आप हूँ मैं,
बहू क्या और, बस चुपचाप हूँ म।

—मैथिलीशरण गुप्त (साकेत)

"बाते कहता प्रह्लाद आज यो ऐसी, यह शिक्षा है विपरीत तुम्हारी कैसी॥
—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

निद्रा-सचारी

चिन्ता आलस्य तथा खेद के कारण जब चित्त में चाह निवास करती है तो वह दशा निद्रा-सचारी कही जाती है। इसमें स्वप्न-दर्शन अवयव-प्रचलनादि की क्रियाएँ नहीं होतीं। यथा :—

सोवत तें सखी जागी नहीं यह सोवत में घर आयो हमार।
पीतपटी कटि सों लपिटी अरु साँवरो सुन्दर रूप सँवार।

देव अरे लगि आँखिन ते यह बाँकी चितौनि टरै नहि टारे।
सापने में चित चोरि लियो अहि चोरी मोर-पखौवन वार।

—देव

उक्त उदाहरण स्वप्न-सचारी के उदाहरण में भी अंकित कया जा चुका है। विचार करने पर इसमें स्वप्न तथा निद्रा-चारी दोनों का ही सम्मेलन ज्ञात होता है। मनुष्य की इन तीन दशाओं का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है— (१) जाग्रति, (२) स्वप्न और (३) सुषुप्ति। यहाँ निद्रा तथा स्वप्न में कोई प्रकार से कोई अन्तर नहीं पाया जाता। परन्तु मीमांसकों ने बाल की भी खाल खींचकर अनेक अन्य अवस्थाओं का अन्वेषण कर डाला है। हम पद्माकरजी के मतानुसार इन दोनों अवस्थाओं में केवल यह भेद मानते हैं कि स्वप्न में तो प्रिय-दर्शनादि की क्रियाएँ या हित और अहित सम्बन्धी कार्यों का दिग्दर्शन हुआ करता है और निद्रा में नहीं होता। परन्तु यह भेद देवजी ने नहीं माने। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वह एक अच्छे वेदान्ती थे, जिसकी सत्यता उनके निर्मित ब्रह्मदर्शन-पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी तथा जग-दर्शन पचीसी के अवलोकन करने पर प्रकट होती है। यथा —

किसी मनुष्य ने कहा कि आज रात को मैं ऐसा सोया कि मुझे कुछ भी होश नहीं रहा। वास्तव में क्या उसकी यह बात सत्य है? नहीं, क्योंकि, यदि उसे कुछ भी होश नहीं रहा तो वह

होश न रहने की बात कैसे कहता है। अर्थात् होश ता दोनों अवस्थाओं (१) स्वप्न तथा (२) निद्रा में रहता है, परन्तु व्यवहार में प्रथम और द्वितीय दोनों में यह भेद माना है जो हमने उपर्युक्त उदाहरण में रेखाओं द्वारा प्रकट कर दिया है। पहला उदाहरण निद्रा का है और दूसरा स्वप्न का।

दूसरा उदाहरण :—

चहचही चुभके चुभी है चौंक चुवा की,
लहलही लॉनी लटै लपटी सुलक पर।
कहै पदमाकर मजानि मरगजी मञ्जु,
मसकी सु आगी है उरोजन के अग पर।
सोई सरसार यो सुगधनि समोई स्वेद,
सीतल सलोने लोने वदन मयक पर।
किन्नरी नरी है कै छरी है छनिदार परी
टूटि सी परी है के परी है परयक पर।
नद नदन नव नागरी, लखि सोवत निरमूल।
उर उघरे उरजन निरखि, रह्यो सुआनन फूल॥

—जगद्विनोद

शीतल पवन के योग से, छायादि शुभ सयोग से।
रानी दमन कुछ देर को थीं सोगई॥

—नल दमयन्ती-सवाद (स्वरचित)

ते सिय राम साथरी सोये।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

व्याधि—संचारी

पीतम के वियोग, काम के प्रकोप अथवा किसी अन्य कारण से ज्वर—रोगादि—संचार को व्याधि संचारी कहते हैं। यथा—

ता दिन ते अति व्याकुल है तिय जा दिन ते पिय पंथ सिधारे।
भूख न प्यास बिना ब्रजभूषन भामिनि भूषन भेष बिसारे।
पावत पीर नहीं कहि देव करोरिक मूरि सबै करि हारे।
नारी निहारि निहारि चले तजि बैद बिचारि बिचारि बिचारे।

—देव

दूरही ते देखत बिथा मैं वा बियोगिन की,
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी।
कहै पदमाकर सुनो हो घनश्याम जाहि,
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ि आवैगी।
सरि सरितान को न सूखत लगेगी देर,
एती कछु जुलमिन ज्वाल बढ़ि आवैगी।
ताके तन ताप की कहौं मैं कहा बात मेरे,
गातहि छुवो तो तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी।
कंथ की अगन अजार मैं, परी बाम तन छाम।
तित कोउ मति लीजियो, चन्द्रोदय को नाम॥

—पद्माकर

देखी व्याधि असाधि नृप, पर्यो धरणि धुनि माथ।
कहत परम आरत वचन, राम राम रघुनाथ॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

दुखदायी हो आज यह, शीतल सुखद समीर।
प्रिया बिना करता व्यथित, मेरा तप्त शरीर॥
मेरा तप्त शरीर न इससे सुख पाता है,
उलटा आग-समान उसे यह झुलसाता है॥
विज्ञोंने यह बात बहुत ही ठीक बताई।
बन जाती है कहीं सुधा भी विष दुखदाई॥
होती ज्यों निशि में विकल कोकी कोक-विहीन।
थी त्योंही वह प्रिय बिना विरह विकल अति दीन।
विरह विकल अति दीन न कल पाती थी पलभर।
दोनो सखियाँ यदपि यत्न में थीं अति तत्पर।
क्षण क्षण में विरहाग्नि धैर्य्य उसका थी खोती।
औषधियों से दूर मानसिक व्याधि न होती।
—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

पुष्प सूझते अग्नि सम, पवन—सर्द है देह जलाता।
नाथ पधारो शीघ्र अब समय खेल है अजब खिलाता॥
—स्वरचित (विचित्र स्वप्न)

मन की कासों पीर सुनाऊ
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चवाई गाऊ।
कठिन दरद कोउ नहिं हरिहै धरि है उलटो नाऊ।
यह तौ जो जानै सोइ जानै क्यों कर प्रगट जनाऊँ।
रोम-रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धुनि रूप लखाऊ।
बिना सुजान शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ।
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निज दशा रोआऊ।
हरिचन्द पीय मिलै तो पग परि गहि पटुका समुझाऊ।
—भारतेन्दु हरिश्चन्द (चन्द्रावली नाटिका)

मरम की पीर न जानत कोय ।
कासों कहूँ कौन सुनि माने बैठि रहौं घर रोय ॥
—भारतेन्दु हरिश्चन्द (चन्द्रावली)

मेरे तन अति बाढ़ी बिरह पीर अब नहि सहि जाई हो ।
अब कोउ उपाय मोहि नहिं लखाय,
दुख कासों कहौं कछु कहि न जाय ।
मनहीं बिरह की अगिनि बढ़ै धुआ न दिखाई हो ॥
बड़ी भारी लाज बैरिन सी आज,
कहो आवत मेरे कौन काज ।
पिय बिन मेरो जियरा तड़पै कछु नाहि बसाई हो ।

चढ़ावत है मो पै काम कमान ॥
—विद्यासुन्दर

कमल नाल विष जाल सम, हार भार अहि भोग ।
मलय प्रलय जल अनल मोहि, वायु आयु हर रोग ॥
—क० म०

मरण–सचारी

शरीर से प्राण वायु के निकल जाने को मरण संचारी कहते हैं। कवि लोग इस सचारी-भाव का शृगार में वर्णन नहीं करते, क्योंकि इस प्रकार रस की हानि होती है। इसलिए मरण का वर्णन केवल इस प्रकार करना चाहिए, जिसमें रस की हानि न हो। यथा—शूर और सतियों काही मरण वर्णन किया जाय। बहुधा मरण के वर्णन में मरणासन्न दशा तक पहुचा के सचेत करा देते हैं। यथा—

राधिके बाढ़ी वियोग की बाधा सुदेव अबोल अडोल डरी रही।
लोगन की वृषभान के भौन में भोरते भारिये भीर भरी रही।
वाके निदान के प्रान रहे कढि औषधि मूरि करोरि करी रही।
चेति मरू करि के चितई जब चारि घरी लौं मरी सी धरी रही।

—देव

जानकी को सुनि आरत नाद सुजानि दशानन की छलहाँई।
त्यों पदमाकर नीच निशाचर धाइ अकाश में आयौ तहाँई।
रावण ऐसे महा रिपु सों अति युद्ध कियो अपने बलताँई।
सोहत श्री रघुराज के काजपै जीन तजै तौ जटायु की नाँई।

—जगद्विनोद

हने राम दशसीस के, दसौ शीस भुज बीस।
लै जटायु की नजरि जनु, उडे गीध गन तीस॥

—पद्माकर

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तन त्यागे दशरथ नृपति, गवने सुरपति धाम।

प्राण तजत प्रगटेसि निज देही। सुमिरिसि राम सहित वैदेही॥

अस कहि योग अग्नि तनु जारा। भयउ सकल मग हाहाकारा॥

रामचरण दृढ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग।

घन समान सो गर्जि अभागा। मरतो बार कपट सब त्यागा॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

कहाँ हो राम हो प्रानों से प्यारे।
यह कह दशरथजी सुरपुर को सिधारे।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द, (दशरथ विलाप)

हग मन्द कर तब यह यशोधन सर्वदा को सो गया।
हा! एक अनुपम रत्न मानों मेदिनी का खो गया।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

दरत देखत शान्ति सदन परताप सिधाये।
पराधीनता मेघ बहुरि भारत सिर छाये।

—राधाकृष्णदास (प्रताप-विसर्जन)

अभी ऊपर कहा जा चुका है कि मरणावस्था के वर्णन में रसाभास समझकर बहुधा मूर्छा का ही वर्णन करते हैं, जैसा कि उदाहरण (१) में देवजी के छन्द से प्रकट होता है, किन्तु कविवर बिहारीलालजी ने इस नियम का उल्लङ्घन करते हुए मरण का ही वर्णन किया है। यथा :—

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्रानन के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखे, मरिबो भयो असीस।

अपस्मार—सचारी

अत्यत दुख अथवा भय इत्यादि के कारण-पृथ्वी पर गिर पड़ने, मुख से फेन निकलने, बारम्बार निस्वास लेने अर्थात् मृगीरोग ग्रसित मनुष्य की सी दशा हो जाने को अपस्मार-

सचारी कहते हैं। इसमें अपवित्र तथा एकान्त स्थल में निवास भी होता है। यथा —

जा छिन ते छिन सावरे रावरे लागे कटाच्छ कटू अनियारे।
त्यों पदमाकर ताछिनते तियसो अँग अग न जात सम्हारे।
हैं हिय हायल घायल सी घन घूमि गिरी परी प्रेम तिहारे।
नैन गये फिर फैन वहे सुख चैन रह्यो नहि मैन के मारे।

लखि निहाल एकै कहत, भई कहूँ भय भीत।
इकै कहत मिरगी लगी, लगी न जानत प्रीत॥

—जगद्विनोद

अस कहि मुरछि परे महिराज।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

कहती हुई बहु भाति यो ही भारती करुणामयी।
फिर भी हुई मूर्छित अहो! वह दुःखिनी विधवा नयी।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

आवेग-सञ्चारी

अत्यत भय अथवा प्रिय व अप्रिय कार्य के देखने वा सुनने से आतुरता के साथ उठ चलना या अचानक भारी भ्रम में निमग्न हो जाने का नाम आवेग-सचारी है। इसी को सम्भ्रम भी कहते हैं। यथा —

देखन दौरी सबे ब्रजबाल सुआये गुपाल सुने ब्रज भू पर।
हार हिये न सम्हारती टूटत वारन किंकिन नूपुर।

भार उरोज नितम्बन को न गहै कटि औ लटिनो दृग दूपर।
देव सुदै पथ आई मनो चढ़ि धाई मनोरथ के रथ ऊपर।

—देव

आई संग आलिनि के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंडुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर यमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
ताही समय मोहन सुबाँसुरी बजाई तामें,
मधुर मलार गाई और बंशीवट की।
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की।
सब ही के गोधन हैं सब ही के ग्वालावाल,
सब ही को परी आय प्रानन की भीर है।
सब ही पर बरसत घोरा धार मेह यह,
सब ही की छाती छेद पारत समीर है।
मेरो ही अनोखो यह बेटा है कि माँगि आन्यो,
बोझिल पहार तेरे कोमल शरीर है।
गिरि याके करते धरीक छिन लेय कोऊ,
सब ही अहीर पे न काहू हरी पीर है।

सुनि आहट पिय पगन की, भभरि भजी यों नारि।
कहुँ कंकन कहुँ किंकनी, कहुँ सुनूपुर डारि।

—जगद्विनोद

का देखाय यह काह दिखावा।

भय-संचारी।

आजु गुपाल जू बाल बधू सग नूतन नूतने कुंज बसे निसि।
जागर होत उजागर नैननि पाग पै पीरी पराग रही पिसि।
चोज के चन्दन खोज खुले जहँ आँछे उरोज रहे उर में धँसि।
बोलत बात लजात से जात सुआये इतोत चितोत चहूँ दिसि।

—देव

ए ब्रजचन्द गोविन्द गोपाल सुनौ कि न केते कलाम किये मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नँद हो नँदनदन जानि लिये मैं।
माखन चोरी के खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरिहू दौरि दुर्यो जो चहो तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं।

शिशिर शीत भय भीत कछु, परि प्रीतम के पाँय।
आपुहि ते तज मान तिय, मिली प्रीति में जाय॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

भा निरास उपजी मन त्रासा।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लगे फिरन सितारे गढ़ धरके।
बीजापुर बीरन के गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाडिम से दरके।

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस हद्द हिन्दुवाने की।

—भूषण

उन्माद-सञ्चारी

प्रिय वियोगादि के कारण चित्त का इतना उद्विग्न होजाना कि विचार शक्ति अत्यत क्षीण होजावे, विना विचारे ही आचरण कर उठे, व्यर्थ हँसे, रोवे अथवा वकवाद करे तो ऐसी दशा को उन्माद सचारी कहते है। यथा —

अरि पै येह आज अकेली गई खरिकै हरिके गुनरूप लुही।
उनहूँ अपनो पहिराय हरा मुसक्याइ कैं गाइ कें गाय दुही।
कवि ?? पर्यो किनि कोउ कछु तब ते उनके अनुराग छुही।
सनही सों यहा कहै वाल वधू यह दवौरी माल गुपाल गुही।
—देव

आपुहि आप पे रूसि रही कबहूँ पुनि आपुहि आप मनावै।
त्यो पदमाकर ताकि तमालनि भेटिने को कबहूँ उठि धावै।
जो हरि रावरो चित्र लखै तो कहूँ कबहू हँसि हेरि बुलावै।
व्याकुल वाल सुजानिन सों करो चाहै कछु तो कछु कहि आवै।
छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलति छिन मोन।
छिन छिन पर छीनी परति, भई दशा धौं कौन?
—पद्माकर

लक्ष्मण समुझाये बहु भाँती। पूँछत चले लता तरु पाँती।
हे खगमृग, हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।
खंजन,शुक,कपोत,मृग, मीना। मधुपनिकर कोकिलाप्रवीना।
कुन्दकली हे दाड़िम दामिनि। हे हे कमल शरद शशिभामिनि।

यहिविधिविलपतखोजतस्वामी। मनहुँ महा विरही अतिकामी।
तुलसीदास (रामचरित

एहो ! वन के रूख कहूँ देख्यौ पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहो वह कितै सिधारो।
अहो कदम्ब अहो अम्ब निम्ब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुन्दर नँदलाला।
अहो कुंज बन लता बिरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों।
अहो जमुना, अहो खगमृग गण, अहो गोवरधनगिरि।
तुम देखे कहु प्रान पियारे मनमोहन हरि।
—भारतेन्दु हरिश्चन्द (चन्द्रावली)

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले।
जा के आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेसा।
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुनादे।
जो ऐसा तू नहिं कर सके तो क्रिया चातुरी से।
जाके रोने विकलपने आदिही को दिखादे।
चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी।
हा हा मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे।
तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु ! तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बना दे।
—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

जड़ता—सञ्चारी

जब किसी हित अथवा अहित के कारण चित्त की वृत्ति

में कर्तव्याकर्तव्य के विचारने की क्षमता नहीं रहती तो उस दशा को जडता संचारी कहते हैं। यथा —

कालिन्दी तट कान्हि भट्ट कहुँ ह्वै गई दोउन भेंटें भली सी।
ठोरही ठाडेचितोत इतौत न नेकऊ एक टकी टहली सी।
देव को देखती देवता सी वृषभान लली न हली न चली सी।
नन्द के छोहरा की छवि सों छिनु एक रही छवि छैल छली सी।

आज बरसाने की नवेली अलबेली वधू,
मोहन बिलोकिबे को लाज काज लेरही।
छज्जा छज्जा झाकती झरोखनि झरोखनि हैं,
चित्रसारी चित्रसारी चन्द्र सम च्वै रही।
कहै पदमाकर त्यों निकस्यो गोविन्द ताहि,
जहाँ तहाँ इकटक ताकि घरी द्वै रही।
छज्जा वारी छकी सी उझकी सी झरोखावारी,
चित्र कैसी लिखी चित्रसारी वारी ह्वै रही।

हलैं दुहूँ न चलैं दुहूँ, दुहुन बिसरिगे गेह।
इकटक दुहूँ न दुहूँ लखैं, अटकि अटपटे नेह॥
—पद्माकर (जगद्विनोद)

मो जड कम्पित स्वेदमय, करमन मन सुददानि।
छिटकि परयो कित जड कँपत, तासु पसीजत पानि॥
—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित-नाटक)

जाइ समीप राम छवि देखी। रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत युगल कर माल उठाई। प्रेम विवश पहिराइ न जाई॥

मुनि मग माझ अचल होइ वैसा।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

चपलता-संचारी

अधिक अनुराग क्रोध तथा विरोध-विवश स्थिरता का न होना ही चपलता-संचारी है। जो मन में आवे, बिना आगा-पीछा सोच कर बैठना ही इसका मुख्य लक्षण है। यथा :—

खेलत मे वृषभान सुता कहुँ जाय धँसी वन कुंजन में है।
डार सों हार तहाँ उरझ्यो सुरझाइ रहीं कनि देन सखी द्वै।
तौ लगि धाय गयो उततैं सुनगीच मनो चित बीच परे च्वै।
छोहरवा हरवा हरवाइ कै छोरि दियो छल सा छतिया छ्वै।

कौतुक एक लख्यौ हरिज्यों पदमाकर यो तुम्हैं जाहिर की मैं।
कोऊ बड़े घर की ठकुराइन ठाडी निवात रहै छिनकी मैं।
झाकति है कबहूँ झझरीन झरोखनि त्यो सिरकी सिरकी मैं।
झाँकति ही खिरकी में फिरे थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी मैं।

चकरी लौं सकरी गलिन, छिन आवत छिन जात।
परी प्रेम के फंद में, वधू बितावति रात।

—पद्माकर

देखन नगर भूप सुत आये। समाचार पुरवासिन पाये।
धाये धाम काम सब त्यागे। मनहु रंकनिधि लूटन लागे।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

यदि बड़े बड़े वीर, रच्छो करे, यह कहा अरु ढोंग भयानको।
कछु न लाभ वृथा बकवाद सों, सरन मारि हरौं तुम्हरी भुजा।

—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित-नाटक)

वितर्क–संचारी

किसी प्रकार का विचार करते ही चित्त में ऐसे भावों का उत्पन्न होना जिनसे कोई एक नियम स्थिर न हो सके, वितर्क-संचारी कहलाता है। चित्त में तर्क-वितर्क का होना ही इसका मुख्य लक्षण है। महाकवि देव के मतानुसार यह संचारी भाव चार प्रकार का होता है, जैसा कि निम्न लिखित उदाहरणों पर विचार करने से सिद्ध होगा।

विप्रतिपत्ति वितर्क

यथा —

यह तो कछु भामिनी कैसो लसै मुख देखत ही दुख जात है द्वै।
सफरी मद-मोचन लोचन ये परिहैं कहुँ मानो चितात ही च्वै।
कवि देव कहैं कहिये युग जो जलजात रहे जल जात में छ्वै।
न सुने तनो काहू कहू कबहूँ कि मयंक के अंक में पंकज द्वै।

—देव

निज मन बहलाया रामने या किया है ?
सचमुच अथवा जानकी दोष पाया ?
तन, मन, वचनों से जो रही कथ दासी—
वह शुभ गुणशीला क्यों सदोषा हुई हाँ।

—स्वरचित (सीता प्रवास)

विचार–वितर्क

काम कमान ते बान उतारिहैं देव नहीं मधु माधव रैहै।
कोकिलऊ कल कोमल बोल बिसारि कै आप अलोप ह्वैहै।

मोहि महा दुख दै सजनी रजनीकर औ रजनी घटि जैहै।
प्रान पियारे तो ऐहैं घरै पर प्रान पयान कै फेरि न ऐहैं।

जो पै कहौं रहिये तो प्रभुता प्रगट होत,
चलन कहौं तो हित हानि नहीं सहनै।
भावै सु करहु तौ उदास भाव प्राणनाथ !
संग लै चलौ तो कैसे लोक लाज वहनै।
केसो "केसोराइ" की सौं सुनहु छबीले लाल !
चले ही बनत जो पै नाहीं राज रहनै।
तुम ही सिखावौ सीख सुनहु सुजान पिय !
तुमहि चलत मोहि जैसी कछु कहनै।

—केशव

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

सुन बुधि मन खोई बात आती न याँ थी,
निज-विधु-मुख नीचा वो किये सोचते थे।
असुरपति हना था कष्ट लाखों उठा के,
रघुकुलपति ने क्या आज ये ही विचारे।
सुदृढ़ धनुष खड़ा मान मारे नृपों के,
परशु-धर हराये मान पाया सभी से।
अहह ! प्रभु दृगों से क्या—इसी को दिखाने,
जनक प्रण उभारा जानकी को वरा था ?

—स्वरचित (सीता प्रवास)

संशय-वितर्क

यह कैधौं कलाधर ही की कला अबला किधौं काम की कैधौं सची।
किधौं कौन के भौन की दीप सिखा सखी कौन के भाल है भाग सचा।
तिहुँ लोक की सुन्दरताई की एक अनूपम रूप की रासि मची।
नर किन्नर सिद्ध सुरासुरहून की बाँचि वधूनि विरंचि रची।

किधौं सो अधपक आम में, मानहु मिल्यो मलिन्द।
किधों तनिक ह्वै तम रह्यो, कै ठोडी को बिन्द॥

तू पति रता कृष्णा बनी, पति भक्ति में रहती सनी।
तेरा डिगा सकता भला सत कौन है।
सीता कहूं अथवा सती, कमला, शची या है रती।
उपमा रही है खोज वाणी मौन है।

—स्वरचित (कृष्णा भीष्म-संवाद)

अव्यवसाय-वितर्क

यह कौन की चम्पक चारु लता यह देखि सबै जन भूलि रहे।
फनि देव इती में कहा बिलसे निन सीफल से घरि धूनि रहे।
तिहि ऊपर को यह सोम मनोतम तोम चहू दिसि भूलि रहे।
चितयें चित चोरत को न तहाँ नवनीत सरोज से फूलि रहे।

घोस गुण गारि के सुगिग्जिा गुमांइन को आयत यहाँ ही अति आनन्द इते रहे।
कहै पदमाकर प्रतापसिंह महाराज देखो दखिवे को दिव्य देवता निते रहें।
गैल तजि बेल तजि फैल तजि गैलन मं हेरत रमा को यो उमापति हिते रहे।
गौरिन में कौन धौं हमारीगुण गोरि यहै शम्भु घरी चारिक लौं चकृत चितै

मोहि महा दुख दै सजनी रजनीकर औ रजनी घटि जैहै।
प्रान पियारे तो ऐहै घरै पर प्रान पयान के फेरि न ऐहै।

जो पै कहौं रहिये तो प्रभुता प्रगट होत,
चलन कहौं तो हित हानि नहीं सहनै।
भावै सु करहु तौ उदास भाव प्राणनाथ!
संग लै चलौ तो कैसे लोक लाज बहनै।
केसो "केसोराइ" की सो सुनहु छबीले लाल!
चले ही बनत जो पै नाहीं राज रहनै।
तुम ही सिखावौ सीख सुनहु सुजान पिय!
तुमहि चलत मोहि जैसी कछु कहनै।

—केशव

लंका निशचर निकर निवासा। इहाँ कहा सज्जन कर वासा॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

सुध बुधि सब खोई बात आती न या थी,
निज शिशु-मुख नीचा यों किये सोचते थे।
असुरपति हुआ था कष्ट लाखों उठा के,
रघुकुलपति ने क्या आज ये ही दिखाने।
सुदृढ धनुष खड़ा मान मारे नृपों के,
परशु-धर हराये मान पाया सभी से।
अहह! प्रभु हमी से क्या—हमी को दिखाने,
जनक प्रण हमारा जानकी को वरा था?

—स्वरचित (सीता प्रवास)

संशय-वितर्क

यह केधा कलाधर ही की कला अथवा किधौं काम की केधौं सचा।
किधौं कोन के भोन की दीप सिखा सखी कौन के भाल है भाग रचा।
तिहुँलोक की सुन्दरताई की एक अनूपम रूप की रासि मची।
नर किन्नर सिद्ध सुरासुरहून को बाँचि वधूनि विरचि रची।

किधौं सो अधपक आम में, मानहु मिल्यो मलिन्द।
किधौं तनिक ह्वै तम रह्यो, कै ठोडी को विन्द॥

तू पति रता कृष्णा बनी, पति भक्ति में रहती सनी।
तेरा डिगा सकता भला सत कौन है।
सीता कहूँ अथवा सती, कमला, शची या है रती।
उपमा रही है खोज वाणी मौन है।

—स्वरचित (कृष्णा भीष्म-संवाद)

अध्यवसाय-वितर्क

कहु कौन की चम्पक चारु लता यह देखि सबै जन भूलि रहे।
कनि देव इती में कहा निलसैं बिन सीफल से घरि धूलि रहे।
तिहि ऊपर को यह सोम मयोतम तोम चहू दिसि झूलि रहे।
चितयें चित चोरत का ए तहाँ नवनील सरोज से फूलि रहे।

धौस गुण गौरि के सुगिरिजा गुसाइन का थानत यहां ही अति आनन्द इते रहैं।
कहैं पद्माकर प्रतापसिंह महाराज देखा देखिबे को दिव्य देवता तिते रहैं।
शैल तजि गैल तजि कैल तजि गैलन में हेरत उमा को यो उमापति हिते रहे।
गालिन में कौन धौं गोरि यहै प्रभु धरी चारिक लौं चकृत चिते रहैं।

सचारी भावों पर कुछ ध्यान देने योग्य बातें

सचारी-भावों के जो उपर्युक्त ३३ भेद भरतादिक आचार्यों ने कल्पित किये हैं, आवश्यकतानुसार उनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी भाषा के परम प्रसिद्ध, प्रेम की साक्षात् मूर्ति उपस्थित करनेवाले देवजी महाराज ने एक चौंतीसवाँ सचारी-भाव छल और भी कहा है। हम उनका कथित छल का लक्षण तथा उदाहरण भी पाठकों की भेंट करते हैं; क्योंकि विचार करने पर यह स्पष्ट विदित हुआ कि उपर्युक्त निर्वेदादि ३३ भावों में कहीं इसका सम्मेलन नहीं है और बहुधा छल का सचार होता ही है। हम नहीं समझ सकते कि उसे किस भेद के साथ मिलावें। यदि अवहित्थ इत्यादि के साथ इसको मिलावें तो भी छल स्पष्ट नहीं होता। अत. देवजी का यह चौंतीसवाँ भेद करना समुचित ही है।

छल—सचारी

लक्षण :—

अपमानादिक करन को, कीजे क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर कपट, सो वरने छल भाव॥

उदाहरण :—

स्याम सयाने कहावत हैं कहा आजु के काहि सयानु है दीन्हों।
देव कहे दुरि टेरि कुटीर में आपनो बैर वधू बदि लीन्हों।
चूमि गई मुख ओचक ही पद ले गई पै इन याहि न चीन्हों।
छैल भले छिन ही में छले दिन ही में छबीली भलो छल कीन्हों।

—देव

कविवर देवदत्तजी ने 'मति-सचारी' को स्पष्ट करने के लिये उसके अन्तर्गत (१) उपालम्भ। (२) अनुनय विनय और उपदेश का भी वर्णन किया है। उपालम्भ दो प्रकार का होता है—(१) कोप से और (२) प्रणय से। 'मति' के प्रबोध के लिये हम इनके उदाहरण भी अकित करते हैं —

उपालम्भ कोप से—(१)

बोलत हो—कत नैन बड़े अरु नैन बड़े बडरान अड़े हो।
जानतिहौ छल छैल बड़े जू बड़े रान के इह गल गडे हो।
देव कहैं हरि रूप बड़े ब्रज भूप बड़े हम पै उमडे हो।
जाउजी जाउ अनीठ बड़े अर ईठ बड़े पर ढीठ बड़े हो।

प्रणय से—(२)

लाल भले हो कहा कहिये कहिये तौ कहा कहूँ कोऊ कहैये।
काहू कहू न कही न सुनी सुहमै कहिये कहूँ काहि सुनैये।
नैन परैं न परे कर मैन न चैन परै जु पै नैन बरैये।
देव कहै नित को मिलि खेलि इतै हित कै चित को न चुरैये।

अनुनय-विनय—

वे बड भाग बड़े अनुराग इतै अति भाग सुहाग भरी हो।
देखो निचारि समौ सुख को तन जोबन जोतिन सो उजरी है।
बालम सो उठि बोलो बलाय लें यो कहि देव सयानी खरी हौ।
हेरत बाट कपाट लगे हरि बाट खरे तुम खाट परी हो।

उपदेश —

कोप से बीच परे पिय सो उपजावत रग में भग सुभारी।
क्रोध निधान बिनोद निधान सुमान महासुख में दुख कारी।

तातें न मान समान अकारज जाको यपानु बडो अधिकारी।
देव कहैं कहिहौं हित की हरि जू सो हितु न कहूँ हितकारी।

—देव

इन सम्पूर्ण व्यभिचारी-भावों का वर्णन कर चुकने पर देवजी शृङ्गार में उनका उपयोग एक छप्पय द्वारा प्रगट करते हैं। यह छप्पय काव्यानुरागी महानुभावों के लिये बडे काम का है। अत. हम उसे नीचे उद्धृत कर सचारी-भावों का वर्णन यहीं समाप्त कर देंगे। यथा छप्पय :—

संकाश्रया भय गलानि धृति सुमृति नींद मति।
चिन्ता विसमय ब्याधि हर्ष उत्सुकता जडगति।
मद विषाद उन्माद लाज अवहित्था जानो।
सहित चपलता ये विशेष सिङ्गार बखानो।
अरु समान मत सम्भोग में सकल भाव बरनन करौं।
आलस्य-उग्रता भाव द्वै सहित जुगुप्सा परिहरौं।
दोहा—आरस ग्लानि निर्वेद श्रम, उत्कंठा जड जोग।
सका शूया धृति समृति, बोधोन्माद वियोग॥

स्थायी भाव।

जो भाव रसों में स्थिर रहते हैं या जिन भावों के स्थिर होने से रस उत्पन्न होते हैं उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। हृदय में रस के अनुकूल जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को स्थायी भाव कहते हैं। येही सम्पूर्ण भावों में शिरोमणि हैं, बिना इनके स्थिर हुए रस परिपूर्ण नहीं होता। इसी कारण काव्य-मर्मज्ञ विद्वज्जन इनको से समता देते हैं।

हम जिन आनन्दों का अनुभव करते हे उनकी गणना में मतभेद है। कोई मानव प्रकृति के अनुसार उनके भेद करता है, तो कोई गुणों के सम्बन्ध से उनके विभाग निश्चित करता है, और कोई तत्त्वों के हिसाव से उनकी गणना कराता हे, परन्तु बहुमतानुसार वह नव हैं जिनको आगे विस्तार-पूर्वक वर्णन करेंगे, उन्हीं नव प्रकार के आनन्दों के अनुकूल नव स्थायी भाव भी हे। उनके नाम इस प्रकार हें —

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) ग्लानि, (८) आश्चर्य, (६) निर्वेद।

रति

नैंक जु प्रिय जन देखि सुनि, आन भाव चित होय।
अति कोविद पति कविन के, सुमति कहत रति सोय॥

—देव

प्रेमी तथा प्रेयसी के मिलने की प्रबल इच्छा से उत्पन्न हुई अपूर्व प्रीति का नाम रति है। यह रति तीन प्रकार की होती है —

(१) उत्तम—सदैव एक ही भाव और एक ही रग से स्थित रहनेवाली प्रीति को उत्तम रति कहते हैं। यथा —

अङ्ग जैा पतङ्ग दहै दीप के समीप जाय,
वारिज बँधाय भृग दरद न मानई।
सुनि के विपची धुनि विधिक कुरग सहै—
सती पति सग देह दुख को न आनई।

मनि हीन छीन फनी वारिसो विहीन मीन,
होइ के मलीन मति दीनता नितानई।
चातक मयूर मन मेह के सनेह ऊधो!
जाहि लगै नेह सोई देह भले जानई।

× × ×

जो दो प्यारे हृदय मिलिके एक ही हो गये हैं,
क्यों धाता ने विलग उनके गात को यों किया है।
कैसे आके गुरु गिरि पड़े बीच में है उन्हीं के,
जो दो प्रेमी मिलित पय औ नीर लौं नित्यश थे!

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

भूषण वसन सब तज दिये, बस हाथ मे माला लिये।
जपती सदा पति नाम को नित नेम से।
तब जान कर यह सब दशा अपनी सुता की दुर्दशा।
भेजे पिता ने गुप्तचर अति प्रेम से।

—स्वरचित (नल-दमयन्ती संवाद)

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। प्रिय बिनु तियहि तरणि ते ताते।
भोग रोग सम भूषण भारू। यम यातना सरिस ससारू।
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी।
मैं सुकुमारि नाथ बन योगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

मध्यम रति

बिना किसी कारण के ही परस्पर स्थिर होनेवाली प्रीति को मध्यम रति कहते हैं। इस प्रेम में हम मित्रों के पारस्परिक प्रेम को परिगणित कर सकते हैं। उदाहरण —

सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहे दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों पदमाकर देखे बनै न बनै कहते अनुराग अबाधा।
प्रेम के मेह हिंडोरनि में सरसै बरसै रस रंग अगाधा।
राधिका के हिये झूलत साँवरो साँवरे के हिय झूलति राधा।

अन्तरधान निरोध भयो हिय सान्त सुभाय ने रंग जमायो।
ऐंठन जाने गई कित को अरु नम्रता ने अति मोह निवायो।
दर्सन सो इनके झट ही यह जानि परै बस काऊ के आयो।
सो ही तीरथ कैसो प्रभाव अनूपम ऐसेनु में निरमायो।

× × ×

यह गूढ़ सुभाउ को कारन कोउ सबै जग में जिय मेल मिलावै।
नहि निर्भर सुन्दर रंग औ रूप पे प्रेम प्रथा निहचै मन आवै।
लखि मित्र पवित्र सरोरुह हीय प्रफुल्लित प्यारी छटा सरसावै।
अरु चन्द्र के होत उदोत द्रवै नित चन्दरकान्त मनी चित भावै।

—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित नाटक)

हुई मुग्ध शकुन्तला भी नृपति वर को देख,
मान देता था जिन्हें अमरेन्द्र भी स विशेष।
इस अनोखे अतिथि को, आतिथ्य में, चुपचाप,
दे दिया उसने हृदय भी धीर अपने आप।

—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

अधम-रति

केवल स्वार्थ वश पारस्परिक प्रेम को अधम रति कहते हैं। सासारिक व्यवहारों में प्राय इसी अधम-रति का प्रचलन है।

आजु मिले बहुतै दिन भावते ! भेटत भेट कछू इस भाखो।
ये भुज भूषन मो भुज बाँधि भुजा भरि के अधरा रस चाखो।
दीजिये मोहि ओढ़ाय जरी पट कीजिये जू जिय जो अभिलाखो।
देन हमें तुम्हे अन्तर पारत हार उतारि इतै धरि राखो।

भेटत ही माँगै भेट पीछे ते गहति फेट,
लेटि-लेटि जात अंग हाथन बगादे हैं।
बसन अमोल कहे भूषन घना रे चार,
चूनरी रँगा दे धीर धरम भगादे हैं।
एरे मतिमंद परे मति गनिका के फंद,
ऐसी व्यभिचारिनि ये प्रेम में दगा दे हैं।
काम को जगा दे व्याधि सिगरी लगा दे दे—
गादे दे मँगा दे फेरै रति में तगा दे हैं।

•

निज तुच्छ सुख के हेतु तजि, गुण राशि नन्द नृपाल को।
अब शूद्र में अनुरक्त ह्वै लपटी सुधा मनु व्याल को।
ज्यों मत्त गज के मरत मद की धार ता साथहि नसे।
त्यों नन्द के साथहि नसी किन निलज अजहू जग बसै।

—मुद्राराक्षस

हास

वस्तु मात्र में देखी हुई विकृति अथवा विपरीतता, व्यंग, दर्शन और परचेष्टा के अनुकरणादि द्वारा जो आह्लादयुक्त मनोविकार स्थिर होता है, उसे हास कहते हैं। हास के तीन भेद हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम।

उत्तम के दो भेद हैं :–

(१) स्मित—मंद मुसक्यान, जिसमें दाँत दिखलाई न दें, केवल कपोलों पर किंचिन्मात्र सिकुड़न पड़े, आँखें कमलवत् विकसित हों, होंठ कुछ हिलने लगें तथा मुख की चेष्टा में एक विशेष प्रकार का माधुर्य प्रगट हो, उसे स्मित-हास कहते हैं।

(२) हसित—जिस हास में मुख, कपोल और आँखें फूली हुई दिखलाई दें और रद-पंक्तियाँ कुछ-कुछ दृष्टिगत होती हों उसे हसित हास कहते हैं।

मध्यम हास के भी दो भेद हैं–

(१) विहसित—जिस हास में हँसने की क्रिया शब्द-युक्त होती है, लोग स्पष्ट रीति से उसका अनुभव कर सकते हैं तथा नेत्र कुछ कुछ सिकुड़ जाते हैं, उसे विहसित-हास कहते हैं।

(२) उपहसित—जिसमें नथने फूल जाते हैं, सिर तथा स्कन्ध सिकुड़ जाते हैं और दृष्टि में कुछ वक्रता आ जाती है, उस हास को उपहसित कहते हैं।

अधम हास भी दो प्रकार का होता है–

(१) अपहसित—जिस उद्धत हास में सिर तथा कंधे स्पष्ट रूप से हिलने लगें और चक्षुओं के कोयों में जलबिन्दु झलकने लगें उसे अपहसित-हास कहते हैं।

(२) अतिहसित—इसमें हास्य के सम्पूर्ण लक्षण तथा उनके प्रतिफल अत्यत स्पष्ट होते है । शरीर कॉपने लगता है, अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है—यहॉ तक कि हॅसते-हॅसते पेट पकडना पड़ता है। इसी को अट्टहास भी कहते हैं—ठठाकर हॅसने से भी यही अभिप्राय है।

इस प्रकार हास के ये छः भेद हुए। उनमें से प्रत्येक का उदाहरण यहॉ दिया जाता है जिससे उनके समझने में कठिनाई न हो ।

स्मित–हास

सतर भौंह रूखे वचन । करति कठिन मन नीठि ।
कहा करौं ह्वै जाति हरि, हेरि हँसौ ही डीठि ॥

—विहारी

रीझहि राजकुॅवरि छवि देखी । इनहि बरहि हरि जानि विसेखी ॥
सोइ करहु जेहि नाव न जाई ।

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

निरखत व्रज वनितान के, सखि मोहन मृदुकाय ।
चीर चोरि सुकदम्ब पै, कछुक रहे हँसिवाय ॥

—जगद्विनोद

अति क्षुब्ध होकर पार्थ ने तब मूॅद ऑखों को लिया,
पर खोलने पर फिर न वैसा दृश्य दिखलाई दिया ।

सुस्मित वदन श्रीकृष्ण को ही सामने देखा खड़ा,
चित्ररथ से वे रह गये करते हुए विस्मय बड़ा।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

हसित—हास

जानै को पान खवावत क्योंहूँ गई लगि आँगुली आठनतीने।
तैं चितयो तबहीं तिहिँ भाँति जु लाल के लोचन लीलि से लीने।
बात कही हरये हँसि के सुनि मैं समुझी वे महारस भीने।
जानति हौं पिय के जिय के अभिलाप सबै परिपूरण कीने।

—केशव (रसिक प्रिया)

तब विदित कर्ण कनिष्ठ भ्राता बाण बरसा कर बड़े।
"रे खल ! खड़ा रह" वचन यों कहने लगा वह अति कड़े।
अभिमन्यु ने उनको श्रवण कर प्रथम कुछ हँस भर दिया।
फिर एक शर से शीघ्र उसका शीश खंडित कर दिया।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

रंग डालते हैं हम तुम पर देखें तुम क्या करते।
आज तुम्हारी वक्र दृष्टि से जरा नहीं हम डरते।
ऐसो, रोको मत, होंठों पर हँसी तुम्हें यह आई।
इसी हँसी के लिये आज की है यह शुभ दिन भाई।

—मैथिलीशरण गुप्त (होली का हर्ष)

सुन कर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आगई।
गम्भीर श्यामल मेघ में विद्युच्छटा सी छागई।

कहते हुए यों-यह न उनका भूल सकता वेश है।
"हे पार्थ! प्रण पालन करो, देखो, अभी दिन शेष है।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

विहसित–हास

काछे सितासित काछनी केशव पातुर ज्यों पुतरीन विचारो।
कोटि कटाक्ष नचै गति भेद नचावत नायक नेह निहारो।
बाजत है मृदु हास मृदंग सो दीपति दीपनि को उजियारो।
देखत हौ हरि देखि तुम्हैं यह होतु है आँखिन बीच अखारो।

हँसने लगे तब हरि अहा! पूर्णेन्दु सा मुख खिल गया।
हसना उसी में भीम अर्जुन, सात्यकी का मिल गया।
थे मोद और विनोद के सब सरल झोंके झेलते।
भगवान भक्तों से न जाने खेल क्या-क्या खेलते।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ-वध)

कृष्णा तभी हँसने लगी—क्षिति पुष्प युत करने लगी।
बस शान्ति सारी भग सी थी होगई।
आश्चर्य युत सब जन हुए, विचलित सभी के मन हुए।
मानो सभी की बुद्धि सी थी सोगई।

—स्वरचित (कृष्णा-भीष्म सवाद)

उपहसित–हास

प्रेम घने रस बैन सने गति नैनन की रस म न भई है।
बाल वय-क्रम दीपति देह विनिक्रम की गति लीलि लई है।

भौंह चढ़ाय सलीन दुराय इतै मुसुकाय उतै चितई है।
केशव पाइहौं आज भले चितचोर झुकालि गुवारि गई है।

—केशव

ज्यों ज्यों पट झटकनि हसति, हटति नचावति नैन।
त्यों त्यों परम उदारहू, फगुवा देत बनै न॥

—विहारी

अप-हसित

तैसी ये जगत ज्योति थीश शीशफूलन की,
चिलकत तिलक चारु तरुणि तेरे भाल को।
तैसी ये दशन पाँति दमकति है केशोदास,
तैसी ये लसत लाल कंठ कंठमाल को।
तैसी ये चमकि चारु चिबुक कपोलनि की,
तैसो चमकत नाक मोती चल चाल को।
हँसि हँसि हँसि नेक चतुर चपल नैनी,
चित्त चकचौंधे मेरे मदनगुपाल को।

—केशव (रसिक प्रिया)

चन्द्रकला चुनि चूनरी चारु दई पहिराय सुनाय सु होरी।
बेंदी लिलाट रची पदमाकर अंजन आँजि समाजि कै रोरी।
लागी जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कंचुकी केसरि बोरी।
हेरि हरै मुसिकाइ रही अँचरा मुख दै वृषभान किशोरी।

—जगद्विनोद

अति-हसित

गिरि-गिरि उठि-उठि रीझ-रीझ लागे कठ,
बीच-बीच न्यारे होत छवि न्यारी-न्यारी सो ।
आपुस में अकुलाइ आधे-आधे आखरनि,
आछी आछी बाते कहै आछी एक ब्यारी सो ।
सुनत सुहाइ सब समुझि परै न कछू,
केशोराइ की सो दुरे देखे मै हुस्यारी सो ।
तरणि तनूजा तीर तरु पर चढ़ि ठाडे,
तारी दै-दै हँसत कुमार कान्ह प्यारी सें ।

आई है एक महावन ते तिय गावत मानो गिरा पगुधारी ।
सुन्दरता जनु काम की कामिनी बोलि कह्यो वृषभान दुलारी ।
गोपिकौ ल्याई गुपालहि वेगि बुलाइ मिलीं उठि सादर भारी ।
केशव भे हत ही भरि अक हँसी सन कीक दै गोप कुमारी ।

सुन कर निज सुत के वचन निलक्षण ऐसे ।
कर अट्ट-हास घन घट नाद हो जैसे ।
बोला यों उद्धत असुर राज उत्पाती,
उन्मत्त सुरापी सर्वलोक-सद्घाती
—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

कविवर केशवदासजी हास के चार भेद मानते हैं—

(१) मद-हास, (२) कल हास, (३) अतिहास और (४) परिहास, उनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) मन्दहास —

विकसहि नयन कपोल कछु, दशन दशन के पास ।
मन्द हास तासो कहै, कोविद केशवदास ॥

(२) कलहास —

जहँ सुनिये कल ध्वनि कछू, कोमल विमल विलास।
केशव तन मन माहिये, वर्णहु करि कलहास॥

(३) अतिहास —

जहाँ हँसे निरशक ह्वै, प्रकटे सुख मुख वास।
आधे आधे वरण पद, उपजि परत अतिहास॥

(४) परिहास —

जहँ परिजन सब हँसि उठे, तजि दम्पति की कान।
केशव कानहुँ बुद्धि बल, सो परिहास बखान॥

केशवदासजी के कथन किये हुए लक्षणों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उन्होंने यहाँ हास्य को शृङ्गार की वेडियो में जकड दिया है, यदि उसे इन वेडियो से मुक्त करा सर्व-व्यापिनी दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होगा कि उनका हास भेद, उपरोक्त हास-भेद से विलग नहीं है। यदि हम कविवर विहारीलालजी, की इस उक्ति "मो मन मोहन रूप मिलि पानी में को लोन" के अनुसार नायक और नायिका को एक ही कल्पित करलें तो केशवदासजी के किये हुए भेद दो भागों में विभाजित हो जावेंगे, उन दोनों भेदों के नाम क्रमश आत्मस्थ और परस्थ होगे। प्रथम में केशवदासजी के मन्द, कल और अति हसित की गणना होगी और दूसरे भाग में परिहास गिना जावेगा। उपर्युक्त आत्मस्थ के तीन विभागो में से प्रत्येक में हमारे वर्णन किये हुए दो दो भाग क्रमानुसार आ जावेंगे। इसी व्यक्तिगत-भाव

अति–हसित

गिरि-गिरि उठि-उठि रीझ-रीझ लागे कठ,
बीच-बीच न्यारे होत छबि न्यारी-न्यारी सो ।
आपुस में अकुलाइ आधे-आधे आखरनि,
आछी आछी बातें कहै आछी एक बारी सो ।
सुनत सुहाइ सब समुझि परे न कछु,
केशोराइ की सों दुरे देखे में हुस्यारी सो ।
तरणि तनूजा तीर तरु पर चढ़ि ठाडे,
तारी दै-दै हँसत कुमार कान्ह प्यारी सो ।

•

आई है एक महावन ते तिय गावत मानो गिरा पगुधारी ।
सुन्दरता जनु काम की कामिनी बोलि कह्यो वृषभान दुलारी ।
गोपिकौ ल्याई गुपालहि वेगि बुलाइ मिलीं उठि सादर भारी ।
केशव मे दत ही भरि अक हँसी सब कीक दै गोप कुमारी ।

सुन कर निज सुत के वचन विलक्षण ऐसे ।
कर अट्ट-हास घन घट नाद हो जैसे ।
बोला यों उद्धत असुर राज उत्पाती,
उन्मत्त सुरापी सर्वलोक-सह्घाती

—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

कविवर केशवदासजी हास के चार भेद मानते हैं—
(१) मद-हास, (२) कल हास, (३) अतिहास और (४) परिहास, उनके लक्षण इस प्रकार हैं .—

(१) मन्दहास —

निकसहि नयन कपोल कछु, दशन दशन के वास ।
मन्द हास तासो कहै, कोविद केशवदास ॥

नाना थामा परम दुखिता सग शोकाभि भूता,
पीछे प्यारे तनय निकलीं गेह मे से यशोदा।

—प्रिय-प्रवास

अब क्या करूँ दीन के बन्धु हरे!
किस का मुझे बाकी भरोसा रहा।
पथ है चहुँ ओर से मेरा घिरा,
गिरा चाहता है काल का वज्र महा।
यह पावक वेग से उग्र हुआ,
इसी ओर बढा चला आता है हा।
जिस की खर ज्वाल से नन्हे अहो,
इन छौनो का है तनु जाता दहा।

—लोचनप्रसाद पाँडेय (मृगी दुःख मोचन),

सखे चन्द्र! तुम अधोवदन बैठे क्यों ऐसे?
उदासीन यह हुआ फूल सा मुखडा कैसे?
कहो मित्र! किसके वियोग से शोकाकुल हो?
जिससे इतने तेजोहत हो, औ व्याकुल हो।

—लक्ष्मीधर वाजपेयी (वियोगीचन्द्र)

क्रोध-स्थायी

शत्रु के किये हुए अपमानादि से जो क्रोध नामक मनो-
विकार चित्त में स्थित होता है, उसे क्रोध-स्थायी कहते हैं।
यथा —

केवल शृङ्गार रस से पृथक कर यदि समष्टि रूप से विचार करते हैं तो दोनों विभाग-कर्मों में कोई भी अन्तर नहीं पाते।

शोक-स्थायी

जब किसी अहित की उपलब्धि तथा हित के विनष्ट होने के कारण चित्त में विच्छेद उत्पन्न होता है, तो उसे शोक स्थायी कहते हैं। यथा :—

मोहि न शोक इतौ तन प्राण को जाय रहे कि लहे लघुताई।
त्यु न शोच घनो पदमाकर साहिनी जो पै सुकंठ की पाई।
शोच इहै इक बाल बधू निज देहिगो अंगद को युवराई।
जो जब बाल बधू वे सुने करुणाकर को करुणा कछु आई।
—पद्माकर

मात को मोह न द्रोह बिमात को सोच न तात के गात दहे को।
प्रान को लोभ न बन्धु बिछोभ न राज को लोभ न मोद रहे को।
श्रीपति एतेपै नेक न मानत श्रीपति-सीय वियोग सहे को।
तारन भूमि में राम कह्यो मोहि सोच बिभीषण भूप कहे को।

× × ×

अपने जनो द्वारा उसे फिर समर से लाये हुए,
तथा पूर्ण निष्प्रभ और शोणित पक से छाये हुए।
सारण! शव के निकट जाकर चरम दुःख सहती हुई,
वह नव वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ!" हा! कहती हुई।
—मैथलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

आते आँसू अति कठिनता साथ रोके दृगों के,
होती पीड़ा हृदय-तल के सैकड़ों सशयों से।

राजभवन निर्मान करि तेरो चिह्न मिटाइ,
जो दुख पावे तेहि सो देहा सबै भुलाइ।
सुखद अावास रचि।

—राधाकृष्णदास (प्रताप-विसर्जन)

वही वीर है जो कर्तव्य विमुख न होवे,
कार्य काल के जो नहिँ बन अाकुल चित खोवे।
क्या है यह जल-राशि कहो यर मार सुखाऊँ,
या कर इसे प्रभाव हीन घट-तुल्य बनाऊँ।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (वीरवर सौमित्र)

उत्साह-स्थायी

रणवाद्यादि शब्दों के श्रवण करने, तथा शत्रुओं के दल को देखने से चित्त में जो उमगें उदीयमान होकर स्थित होती हैं, उन्हीं का नाम उत्साह स्थायी भाव है। यथा —

मेघनाद को लखि लखन, हरखे धनुष चढ़ाय।
दुखित विभीषण द ख रह्यो, कछु फूले रघुराय॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

इत कपि रीछ उत राक्षसनहीं की चमू,
डंका देत बंका गढ़ लंकाते कढ़ै लगी।
कहै पदमाकर उमँड जगही के हित,
चित्त में चटक चोप चाय की चढ़ै लगी।
मानन के चाहिवे के कर में कमान कसि,
धाई धूर धान आसमान में मढ़ै लगी।

रे नृप बालक काल बस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुहीं सम त्रिपुरारि-धनु, विदित सकल संसार॥
बोले चितय परशु की ओरा। रे शठ! सुनेसि प्रभाव न मोरा।
भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महि देवन दीन्ही।
सहसबाहु भुज छेदन हारा। परशु बिलोकि महीप कुमारा।

× × ×

जब तेहि कीन्ह राम की निन्दा। क्रोधवन्त तब भयउ कपिन्दा।
कटकटाइ कपि-कुंजर भारी। दोउ भुज दण्ड तमकि महि मारी।
डोलत धरणि सभासद खसेउ। चले भागि भय मारुत ग्रसेऊ।

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

अगर जीति इन्हे गहि ल्यावो। कै अपने बल मारि भगावो।
बेगि बुझावहु चित्त चिता को। आजु तिलोदक देहु पिता को।
महाराज श्री राम हैं क्रुद्ध तोसो। तजौ देशको कै सजो युद्ध मोसो।

—केशवदास

सदा दन्ति के कुम्भ को जो विदारै। ललाई नए चन्द सी जौन धारै।
जभाई समै काल सो जौन बाढे। भला सिंह को दाँत सो कौन काढ़े।

काल सर्पिणी नन्द कुल, क्रोध धूम सी जौन।
अजहूँ बाँधन देत नहिं, अहो शिखा मम कौन।
दहन नन्द-कुल-बन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप।
को मम क्रोधानल पतँग, भयो चहत अब आप।

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (मुद्राराक्षस)

रहु रहु रे बिरमोघ अमर-गति रोकन हारे,
हम न लेहिंगे साँस बिना तोहि प्राण उतारे।

होती है और उसके द्वारा शरीर सशंकित होता है, उसी दशा का नाम भय है। यथा —

चितै चितै चारों ओर चाकि चाकि परै त्योंही,
जहाँ तहाँ जब तब खटकत पात हैं।
भाजत सो चाहत गँवार ग्वालिनी के कछु,
डरन डराने से उठाने रोम गात हैं।
कहै पद्माकर सुदेरासि दशा मोहन की,
शेषहु महेशहु सुरेशहु सिहात हैं।
एक पाँय भीत एक पाँय मीत काँपै धरे,
एक हाथ छाँवै एक हाथ दधि खात हैं।

—पद्माकर

प्रगल्भी यदु भीरता हत थी। कर रहा भय नृत्य कराल था।
विकट दन्त भयंकर प्रेत भी। विचरते तरु मूल समीप थे।
वमन ज्वालन पूर्वक प्रेतनी। भय प्रदर्शन थी करती महा।
निकलती जिससे अनिराम थी। अनल की अति त्रास करी शिखा।
तिमिर लीन कलेवर को लिये। विकट-दानव पादप थे बने।
भ्रममयी जिनकी विकरालता। चित प्रकम्पित थी करती महा।
अति सशंकित और सभीत हो। मन कभी यह था अनुमानता।
जन समूल विनाशन को खड़े। यह निशाचर हैं नृप कंस के।

—प्रिय प्रवास

करते हुए गर्जन गगन में दौड़ते हैं घन यथा,
हय गज रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।
उड़ने लगी सब ओर रज, होने लगी कम्पित धरा,
मानो न सहकर भार वह ऊपर चली करके त्वरा।

देखतै बनी है दुहूँ दल की चढा चढी मे,
राम दृगहू पे नेक लाली जो चढ़ै लगी।
—पद्माकर (जगद्विनोद)

"हम सजीव हैं—हमें कौन बतलाता मृत है ?
हम में ओत-प्रोत भरा वह वीर-व्रत है।
वीरवरो ! है आज यहाँ पर यही दिखाना,
खेल नहीं है रण-क्षेत्र से हमें हटाना।
है समय सामने कार्य का, पालन करो स्वधर्म का,
अब भेदन करदो शीघ्र ही, शत्रुजनो के मर्म्म का"।
—सियाराम शरण गुप्त (मौर्य विजय)

"हे तात ! तजिये सोच को, है काम ही क्या क्लेश का ?
प्रकटित करूँगा व्यूह में मे द्वार शीघ्र प्रवेश का"।
यो पाँडवो से कह, समर को वीर वह सज्जित हुआ।
छवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लज्जित हुआ।
—मैथली शरण-गुप्त

इसलिये तज निद्य निरुढता। उठ पडो सब लोग सयत्न हो।
इस महा भय सकुल काल में। बहु सहायक जान ब्रजेश को।
इस सरोज सुभाषण श्याम से। बहु प्रबोधित हो जन मडली।
गृह गई पढ मत्र सयत्नता। लग गई गिरि ओर प्रयाण में।
—प्रिय प्रवास

भय-स्थायी

किसी भयावह पदार्थ अथवा दृश्य के दृष्टिगोचर होने, किसी भयंकर व्याधि के आने की आशका होने या किसी अत्यत हानिकर कार्य की सूचना पाने से, मन में जो व्याकुलता उत्पन्न

होती है और उसके द्वारा शरीर सशंकित होता है, उसी दशा का नाम भय है। यथा —

चितै चितै चारों ओर चौंकि चौंकि परै त्योंही,
जहाँ तहाँ जब तब खटकत पात है।
भाजन सो चाहत गँवार ग्वालिनी के कछु,
डरन डराने से उड़ाने रोम गात है।
कहै पद्माकर सुदेखि दसा मोहन की,
शेषहु महेशहु सुरेशहु सिहात हैं।
एक पाँय भीत एक पाँय मीत काँधे धरे,
एक हाथ छींको एक हाथ दधि खात है।

—पद्माकर

जगती वह भीषण शांत थी। कर रहा भय नृत्य कराल था।
विकट दन्त भयंकर प्रेत भी। विचरते तरु मूल समीप थे।
वमन ज्वालन पूर्वक प्रेतनी। भय प्रदर्शन थी करती महा।
निकलती जिससे अनिराम थी। अनल की अति त्रास करी शिखा।
तिमिर लीन कलेवर को लिये। विकट-दानव पादप थे बने।
भ्रममयी जिनकी विकरालता। चित प्रकम्पित थी करती महा।
अति सशंकित और सभीत हो। मन कभी यह था अनुमानता।
ब्रज समूल विनाशन को खड़े। यह निशाचर हैं नृप कंस के।

—प्रिय प्रवास

करते हुए गर्जन गगन में दौड़ते हैं घन यथा,
हय गज रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।
उड़ने लगी सब ओर रज होने लगी कम्पित धरा,
मानो न सहकर भार यह ऊपर चली करके त्वरा।

पीछे युधिष्ठिर को किये आगे चले अर्जुन बली,
लचने लगे फण शेष के मचने लगी अति खलबली।
अन्यत्र अनुगामी बड़ों के सुजन होते सर्वदा,
पर आपदा में दीखते वे अग्रगामी ही सदा।
—जयद्रथ-वध

ग्लानि-स्थायी

किसी पदार्थ के स्पर्श, दर्शन तथा स्मृति से चित्त में जो घृणा उत्पन्न होती है, उसे ग्लानि तथा जुगुप्सा कहते हैं। यथा :—

आवत गलानि जो बखान करों ज्यादा यह,
मादा मल-मूत और मज्जा की सलीती है।
कहे पदमाकर जरा तो जागि भीजी तन,
छीजी दिन रैन जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम के सनेह बस बीती जो पै,
तो तो दिव्य देह यम-यातना तें जीती है।
रीती राम नाम तें रही जो बिना काम तो या,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।
—पद्माकर

पालि लये दधि दूध मही जिन ऊधम ही तिनहूँ सो तिनाने।
साथी महा हय हाथी भुजंग बका वृष मातुल मारि गिनाने।
कूबरी दूबरी जाति न ऊबरी हूबरी बात ! सुसाँची बिनाने।
ज्ञान गहीरनि सों रचि मानी अहीरनि सों घनश्याम घिनाने।
लखि विरूप सूपनखै, रुधिर चर्बि चुचुआत।
सिय हिय में घिनकी लता, भई सु द्वै द्वै पात॥

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत,
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि, खोदि कै मांस उचारत,
स्वान आँगुरिनि काटि, काटि कै खान बिचारत।
बहु चील नोचि लै जाति त्वच मोद मढ्यो सब को हियो।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन को दियो।
जला किसीका पग पूँछ आदि था। पड़ा किसीका जलता शरीर था।
जले अनेकों जलंत असंख्य थे। दिगन्त था आर्त्तनिनाद से भरा।

आश्चर्य स्थायी

स्पर्श, मनन, दर्शन अथवा श्रवण द्वारा किसी अद्भुत वस्तु, दृश्य या चरित्र से चित्त में जो विस्मय उत्पन्न होता है उसे आश्चर्य कहते हैं। यथा :—

देखत क्यों न अपूरब इन्दु मैं द्वै अरविन्द रहे गहि लाली।
त्यों पदमाकर कीरवधू इक मोती चुगै मनो ह्वै मतवाली।
ऊपर ते तम छाय रह्यो रवि की दुति तें न दबै खुल ख्याली।
यों सुनि बैन सखी के विचित्र भये चित्त चित्रित से बनमाली।

—जगद्विनोद

सखी के ये वचन नायक से हैं। नायक इन वचनों से आश्चर्यचकित हुआ। चकित होने का कारण यह है कि ऐसा अपूर्व चन्द्रमा आज पर्यन्त देखा नहीं गया, जिसमें दो कमल विकसित हों। इसी प्रकार ऐसी तोती भी नहीं सुनी गई जिसका आहार मोती हो, और न आज तक ऐसा प्रगाढ़ तम ही प्रदर्शित हुआ, जो सूर्य के प्रकाश के सन्मुख स्थिर रह सके। यहाँ कवि ने इन्दु,

अरविन्द, कीरवधू और तम को क्रमशः नायिका के मुख, नेत्र, नासिका और केशों का सादृश्य दिया है। यही रूपक पाठक तथा श्रोता दोनों ही को आश्चर्य में डालता है।

सेस, महेस, गणेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटै पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

—सुजान रसखान

मुझे सताने मीन भी देखो दौड बिना जल आती।
अर्थी भी है उठ दौड़ती यदि कहीं मुझे लख पाती।
तितली के है गर्भ का। बचा भी अब सिंह दिखाता।
अब्रजदूसाँ भी आज है मुझको निज साइस सिखाता।

—विचित्र-स्वप्न (स्वरचित)

"पापी मनुज भी आज मुँह से राम-नाम निकालते।
देखो भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते॥
आजन्म नीच अधर्मियों के जो रहे अधिराज हैं।
देते अहो। सद्धर्म की वे भी दुहाई आज हैं"॥

—जयद्रथ-वध

निर्वेद-स्थायी।

परिश्रमादि के कारण स्वरूप मनोवांछित फल प्राप्त न होने पर हृदय में जो पश्चात्ताप होकर वैराग्य उत्पन्न होता है, उसे निर्वेद कहते हैं। यथा —

ह्वै थिर मन्दिर में न रह्यो गिरि कन्दर में न तप्यो तप जाइ।
राज रिझाये न कै कविता रघुराज कथा न यथामति गाई।

यो पछितात कछू पद्माकर कासो कहौं निज मूरखताई।
स्वारथहू न कियो परमारथ यो हीं अकारथ वेस निताई।
पदमाकर हौं निज कथा, कासो कहौं बखान।
जाहि लखा ता है परी, अपनी-अपनी आनं॥

—पद्माकर

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो,
प्रीति पतंग करी दीपक सो आपै देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल सुत सो सम्पति हाथ गयो।
सारँग प्रीति जो करी नाद सो सन्मुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सो चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनो नैनन नीर बह्यो।

—सूरदास



अरविन्द, कीरवधू और तम को क्रमश नायिका के मुख, नेत्र, नासिका और केशों का सादृश्य दिया है। यही रूपक पाठक तथा श्रोता दोनो ही को आश्चर्य में डालता है।

सेस, महेस, गणेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।
—सुजान रसखान

मुझे सताने मीन भी देखो दौड बिना जल आती!
अर्थी भी है उठ दौडती यदि कहीं मुझे लख पाती!
बिल्ली के है गर्भ का बच्चा भी अब सिंह दिखाता!
अबूजूदुराँ भी आज है मुझको निज साहस सिखाता!
—विचित्र-स्वप्न (स्वरचित)

"पापी मनुज भी आज मुँह से राम नाम निकालते!
देखो भयंकर भेडिये भी आज आँसू ढालते!!
आजन्म नीच अधर्मियों के जो रहे अधिराज है!
देते अहो! सद्धर्म्म की वे भी दुहाई आज है"!!!
—जयद्रथ वध

निर्वेद-स्थायी।

परिश्रमादि के कारण स्वरूप मनोवाछित फल प्राप्त न होने पर हृदय में जो पश्चात्ताप होकर वैराग्य उत्पन्न होता है, उसे निर्वेद कहते हैं। यथा —

ह्वै थिर मन्दिर में न रह्यो गिरि कन्दर में न तप्यो तप जाइ।
रिझाये न के कविता रघुनाथ कथा न यथामति गाई।

भेदों के नाम

मिलि विभाव अनुभाव पुनि, संचारिन के वृन्द।
परिपूरण थिर भाव यो, सुख-स्वरूप आनन्द॥
ज्यों पय पाय विकार कछु, ह्वै दधि होत अनूप।
तैसेई थिर भाव को, बरणत कवि रस रूप॥
सो रस है नव भाँति को, प्रथम कहत शृङ्गार।
हास्य करुण पुनि रौद्रगनि, वीर सु चारि प्रकार॥
बहुरि भयानक जानिये, पुनि बीभत्स बखानि।
अद्भुत अष्टम नवम पुनि, शांति सुरस वर आनि॥

अर्थात्—विभाव, अनुभाव और संचारी भावो के संयोग से स्थायी-भाव परिपूर्ण होकर रस-संज्ञा को प्राप्त होता है, जिस प्रकार दुग्ध, तक्रादि विकारों के सम्मेलन से जमकर दधि का रूप पाता है, उसी प्रकार विभावादि के योग द्वारा स्थायी भाव जो दुग्ध अथवा बीज के समान है—रस, (दधि अथवा पौधा) रूप हो जाता है। ये रस नव प्रकार के हैं —

(१) शृङ्गार	(४) रौद्र	(७) बीभत्स
(२) हास्य	(५) वीर	(८) अद्भुत
(३) करुण	(६) भयानक	(९) शांत

आनन्द-रस मर्मज्ञ, हमारे भूतकालवर्ती काव्य शास्त्रियो तथा रीति ग्रन्थ प्रणेता आचार्य्यों ने 'रस' के केवल यही नव बड़े बड़े विभाग किये हैं, उन्हीं को "नव रस" कहा जाता है।

५—रस-भेद



ह तो निरूपण हो ही चुका कि 'रस' क्या है? वह किस प्रकार उत्पन्न होता है? तथा उसके लिये किस सामग्री की आवश्यकता है। अब रस-भेद पर कुछ विचार करते हैं। "रस कितने प्रकार का होता है" इस विषय में एकमत स्थिर नहीं है, परन्तु संस्कृत तथा भाषा के अनेक प्रतिभाशाली कवि तथा रीति ग्रंथ लेखक और गण्यमान सज्जन, काव्य में नव-रस ही मानते हैं। हमारे उक्त मत के समर्थन में निम्नलिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है, प्राय. जनसाधारण, "जो काव्य के मर्म से सर्वथैव अनभिज्ञ हैं" के मुख से भी हमने अनेक बार उसका पाठ सुना है —

निधि सो कवि सब निधि बड़े, यामें संशय नाहिं।
पद रस निधि की सृष्टि में, नव-रस कविता माहिं॥

अत हम भी प्राचीन परिपाटी को माननीय तथा अनुकरणीय समझ, प्रथम नव-रस के नाम अंकित करते हैं। इस विषय-सम्बन्धी मतभेद पर हम अन्यत्र प्रकाश डालेंगे।

पद्माकर भट्ट प्रणीत 'जगद्विनोद' नामक नायिका-नायक भेद के ग्रन्थ में, "जो भाषा कविता का एक अमूल्य रत्न समझा जाता है, और जिसे उक्त विषय के पढ़नेवाले सर्व-प्रथम पढ़ते हैं" रस की परिभाषा तथा गणना इस प्रकार प्रदर्शित की गई है:—

जिस प्रकार अपनी योग्यता दिखाई है, वह हमारे नीचे लिखे विचारों से प्रकट हो जावेगी। मनुष्य की बुद्धि कल्पना सृष्टि की निर्माता है। वह प्रतिदिन सहस्रों कल्पनाओं का निर्माण करती है, और सहस्रों को ही विलीन कर देती है। कभी तो वह किसी वस्तु का प्रसार करते-करते उसका सीमान्त कर देती है, और कभी आकुञ्चन करने में अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय इस प्रकार देती है कि मनुष्य उसकी सूक्ष्मता का ज्ञान करने में भी असमर्थ रहता है। मनुस्मृति में जहाँ सृष्टि-निरूपण किया गया है, उसके आरम्भ में ही मनु जी महाराज अंकित करते हैं —

आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

—मनुस्मृति, प्रथम अध्याय, श्लोक ५

अर्थात्—यह विश्व (सृष्टि की आदि में) अन्धकार-युक्त, लक्षणों से रहित, संकेत के अयोग्य तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य सब ओर से निद्रा की सी दशा में था—उसके अनन्तर ही परमात्मा ने यह विचार कर कि "एकोहं बहुस्याम्' अर्थात् मैं एक हूँ सो बहुत होऊँ, या "तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय" अर्थात्—"मैं एक से बहुत प्रजारूप होऊँ"—स्वयं प्रकट होकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण कर डाला। अन्त में मनुजी महाराज अंकित करते हैं :—

रस-भेद की गणना में मतभेद

प्रायः मनुष्य जाति का यह स्वभाव देखा जाता है कि वह अपने ज्ञान को किसी एक अथवा विशेष अवस्था में परिमित रखना नहीं चाहती। वह सर्वदा नूतन तथ्यों के संग्रह करने में अपना गौरव समझती है। यही जिज्ञासा है जो मनुष्य को आत्मोन्नति का सीधा मार्ग बताती है, इसी के द्वारा वह अपने ज्ञान की वृद्धि कर उन्नति की चरम सीमा को पहुंच जाता है। जिसमें यह जिज्ञासा नहीं, यह ज्ञान-लिप्सा नहीं, उसकी उन्नति होना कठिन ही नहीं, वरन असम्भव है। अनन्तकाल से ज्ञान का अविराम स्रोत प्रवाहित हो रहा है। "इसका अन्त कहाँ होगा" यह कौन कह सकता है! पर इसमें संशय नहीं है कि मनुष्य के ज्ञान का विकाश अनुक्षण होता ही जा रहा है। आज-कल जिस प्रकार विज्ञान, पुरातत्व, अर्थशास्त्र, और तर्कशास्त्र इत्यादि अनेक विषयों में एक से एक विलक्षण आविष्कार हो रहे हैं, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र में भी विद्वानों ने अनेक नवीन तथा उत्तम विचारों की सृष्टि कर अपनी विशाल बुद्धि का परिचय दिया है।

जिन महानुभावों को हिन्दी-साहित्य-रत्नाकर की अनुपम तरल-तरङ्गों के साथ प्रवाहित होने का थोडासा भी सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वह भली भाँति जानते होंगे कि काव्य में नव-रस कल्पित किये गये हैं। पर इस विषय में आधुनिक तथा प्राचीन विद्वानों में मतभेद है। भेद करने में नवीन विद्वानों ने

परम देवता रूप दृष्टि आये। इन दस वाक्यों में प्रथम प्रथम दस ही रस कहे गये हैं। अर्थात्—(१) रौद्र, (२) अद्भुत, (३) शृङ्गार, (४) हास्य, (५) वीर, (६) करुण, (७) भयानक, (८) वीभत्स, (९) शान्त, (१०) प्रेम-भक्ति।

ठीक इसी भाव के अनुसार श्रद्धेय बाबा तुलसीदासजी जनकपुर में धनुष-यज्ञ के समय राज सभा में विराजे हुए, महाराज रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी का वर्णन करते हैं —

राज समाज विराजत रूरे। उडुगण महँ जनु युग विधु पूरे॥
जिनके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

ऊपर हमने जो तीन उदाहरण उद्धृत किये है, वह हमारे उपर्युक्त "रस रूप रसेश्वर." वाले सिद्धान्त के अटल बनाने में प्रमाण स्वरूप माने जा सकते हैं। हमारे कवि महाशयो ने अपने काव्यो द्वारा सम्पूर्ण रसो में भगवान का निवास अथवा आभास दिखाया है, इसको दूसरी भाँति इस प्रकार भी कह सकते है कि परमात्मा को ही रस रूप कल्पित किया है। इसी मत के अनुसार यदि हम विचार करते है तो ज्ञात होता है कि वह जगन्नाटक सूत्रधार, परम उदार परब्रह्म परमात्मा एक है, विविध जीव केवल उसके नाटक के पात्र मात्र है, जो उसके एक मामूली से कौतुक से निर्मित हुए हैं, अत रस भी एक ही होना चाहिये। विद्वान लोगों ने अपने इस मत के स्पष्टीकरण के लिये श्रुति के इस,"स एवैकोरस" वचन को उद्धृत किया

केसी प्रति अति राद्र वीर मारो वत्सासुर ।
भय दावा-नल पान कियो बीभत्स बकी उर ॥
अति अद्भुत बचि विरचि मति शान्त सत ते सोच चित ।
कहि 'केशव' सेवहु रसिक जन नव रस में व्रजराज नित ॥

—रसिक-प्रिया

यहाँ कवि ने क्या ही उत्तम रीति से यह समझाया है कि सम्पूर्ण रसों में व्रजराज श्रीकृष्णचन्द्रजी विराजमान हैं, जिसको जिस रस में प्रीति हो, वह उसी रस में श्रीकृष्णचन्द्र को सेवन करे।

इसी प्रकार जिस समय कृष्ण भगवान कंस की मल्लभूमि में पधारे थे, उस समय सब की भावना के अनुसार सब को उनका रूप दिखलाई दिया था। यथा :—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड विदुषां तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥

—श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध अध्याय ४३—१७

यहाँ दस प्रकार के अधिकारी होने से भगवान का रूप दश रस-रूप से दिखाई दिया। मल्लों को वज्ररूप, मनुष्यों को नरों में श्रेष्ठ, स्त्रियों को मूर्तिमान कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को शिक्षा देनेवाला, अपने माता-पिता को बालक रूप, कंस को मृत्युरूप, अज्ञानियों को विकल अथवा विराट्रूप, योगीजनों को परमतत्त्व रूप, और भक्तजनों को

परम देवता रूप दृष्टि आये। इन दस वाक्यों में प्रथम प्रथम दस ही रस कहे गये हैं। अर्थात्—(१) रौद्र, (२) अद्भुत, (३) शृङ्गार, (४) हास्य, (५) वीर, (६) करुण, (७) भयानक, (८) वीभत्स, (९) शान्त, (१०) प्रेम-भक्ति।

ठीक इसी भाव के अनुसार श्रद्धेय बाबा तुलसीदासजी जनकपुर में धनुष-यज्ञ के समय राज सभा में विराजे हुए, महाराज रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी का वर्णन करते हैं —

राज समाज विराजत रूरे। उडुगण महँ जनु युग विधु पूरे॥
जिनके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
—तुलसीदास (रामचरित मानस)

ऊपर हमने जो तीन उदाहरण उद्धृत किये हैं, वह हमारे उपर्युक्त "रस रूप रसेश्वर" वाले सिद्धान्त के अटल बनाने में प्रमाण स्वरूप माने जा सकते हैं। हमारे कवि महाशयो ने अपने काव्यो द्वारा सम्पूर्ण रसों में भगवान का निवास अथवा आभास दिखाया है, इसको दूसरी भाँति इस प्रकार भी कह सकते है कि परमात्मा को ही रस रूप कल्पित किया है। इसी मत के अनुसार यदि हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि वह जगन्नाटक सूत्रधार, परम उदार परब्रह्म परमात्मा एक है, विविध जीव केवल उसके नाटक के पात्र मात्र हैं, जो उसके एक मामूली से कौतुक से निर्मित हुए हैं, अत रस भी एक ही होना चाहिये। विद्वान लोगों ने अपने इस मत के स्पष्टीकरण के लिये श्रुति के इस "रसे एवैकोरस" वचन को उद्धृत किया

है, जिसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण रसों का समावेश एक ही रस में किया जाना चाहिए। इससे यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार आनन्द-रस स्वरूप अर्थात् आनन्द ही जिसके हस्त, पाद, मुख, उदर इत्यादि हैं, और जिसके लिए तैत्तिरीय उपनिषद् २-६-१ में कहा गया है कि उस "रस ही को पाकर यह (आत्मा) आनन्द-मय होता है"। यदि आत्मा एक है, तो रस भी एक ही होना चाहिये। इस प्रकार कोई न कोई रस प्रधान तो अवश्य ही होगा? परन्तु प्रधानता किसे दी जावे?—यह कार्य्य तनिक कष्ट-साध्य है, क्योंकि इसमें बहुत मत-भेद है। किसी के मत में शृङ्गार-रस प्रधान है, कोई वात्सल्य-रस को मुख्य कहता है और कोई इन दोनों से यह आसन छीन कर हास्य-रस को उस पद से विभूषित करना चाहता है। अत हमारा विचार है कि इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न अपनी अल्प बुद्धि द्वारा कहीं आगे चलकर करेंगे, यहाँ केवल इतना कहना अलम् होगा कि बहुमत शृंगार-रस के प्रधानत्व प्राप्त करने ही के पक्ष में है।

रस के दो भेद माननेवालों के विचार

इस प्रकार एक ही रसके माननेवालों की कुछ सम्मतियां का उल्लेख कर चुकने के अनन्तर अब हम रस के मुख्य दो भेद माननेवालों की सम्मतियाँ प्रकाशित करते हैं।

महाराज देवदत्तजी रस के मुख्य दो भेद मानते हैं।

(१) लौकिक (२) अलौकिक। फिर लौकिक के नव, और अलौकिक के तीन भेद बतलाते हैं। अर्थात् मुख्य भेद द

कल्पित कर अन्य नव रसादि को उसके अवान्तर भेदों में परिगणित किया है।

दोनो प्रकार के रसों के लक्षण देवजी यो कहते हे '—

नयनादिक इन्द्रियनु के, जो गहि लौकिक जानु।
आतम मन संयोग तें होय अलौकिक मानु॥

अर्थात्—जिस रस के ज्ञान के लिये नयन इत्यादि इन्द्रियाँ समर्थ हे वह लौकिक रस है, और जिस रस के बोध कराने में उक्त इन्द्रियाँ असमर्थ हे, और केवल आत्मा और मन के संयोग द्वारा ही उसका ज्ञान होता है, उसे अलौकिक रस कहते है।

वास्तव में धर्म-शास्त्र में कृत कर्म-विभाग करते हुए ऋषि मुनियो ने उनके तीन विभाग किये है, वह कर्म चाहे पुण्य कर्म हो और चाहे पाप-कर्म। यथा .—

शुभाशुभ फल कर्ममनो वाग्देह सभवम्।
कर्मजा गत यो नृणामुत्तमाऽधम मध्यमा।

—मनुस्मृति अध्याय १२—३

अर्थात्—मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न शुभाशुभ फल वाले कर्म से मनुष्यो की उत्तम, मध्यम तथा अधम गति होती है। ज्ञात होता है कि कविवर देवजी ने वाणी तथा शरीर से ज्ञात होनेवाले कर्म्मा का एकीकरण कर लिया है, क्योकि यह दोनों विषय इन्द्रियो द्वारा बोध में आ सकते हे। इस प्रकार उक्त दोनो प्रकार उनके लौकिक भेद मे ठीक-ठीक घट जाते हैं। रहा दूसरा भेद—'अलौकिक' वह लक्षण के देखते ही कर्म के मानसिक भेद से मिल जाता है। इस प्रकार 'मनुष्य द्वारा सम्पादित

कर्म-भेद के अनुसार ही यह विभाग किया गया है' ऐसा प्रतीत होता है। लौकिक भेद में नवरस की गणना की गयी है, क्योंकि यह सब नेत्रादि इन्द्रियों के विषय हैं, और अलौकिक के (१) स्वापनिक, (२) मानोरथिक और (३) औपनायकी—तीन भेद हैं। नीचे हम इन तीनों में से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण अंकित करते हैं, जिससे अलौकिक रस भली-भाँति समझ में आ जावे, लौकिक के उदाहरण यहाँ पर अंकित करने की आवश्यता नहीं है, क्योंकि आगे चलकर इन पर विस्तार-पूर्वक विचार किया ही जावेगा।

अलौकिक रस के उदाहरण

स्वापनिक

सोइ गई अभिलाष भरी तियने सपने में लखे नँदनंदन।
देव कछू हँसि बात कही पुलके हुहिये झलके जल के कन।
जागि पडी नव ऊढ वधू ढिग ढूँढति गूढ़ सनेह सनी धन।
सोच सकोच अगोचर तीय त्रसे खिलसै बिहँसै मन ही मन।

मानोरथिक

कालिंदी कूल भयो अनुकूल कहूँ घर बार गिरो नहि घेरो।
मंजुल वंजुल साल रसाल तमालनि के वन लेत बसेरो।
केलि करें री कदम्बन बीच जु कानन कुंज कुटीन में डेरो।
मोहनलाल की मूरति के सँग डोलत माई मनोरथ मेरो।

औपनायकी

झूमक रेन नगीमति के जुवतीन को आज समाज सिधायो।
श्याम को सुन्दर भेष बनाय के आइ बध इक बेनु बजायो।
हास में रास रच्यो कविदेव विलास के ही में हुलास बढ़ायो।
नाचत वाहि सखी लखहो के हिये सुख सिन्धु को पार न पायो।

रस के तीन भेद माननेवालों के विचार

रस के तीन भेद माननेवाले सज्जन दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में वह जिन्होंने मानवी प्रकृति के अनुसार रस-भेद किया जाना स्थिर किया है, और दूसरी श्रेणी में वह जिन्होंने गुणों के अनुसार रस के विभाग किये हैं। हम उक्त दोनों प्रकार के विद्वानों के विचार पृथक् पृथक् अंकित करते हैं।

प्रकृति के अनुसार भेद माननेवालों की सम्मति

यदि हम किसी वस्तु के विभाग करने बैठें तो सबसे पहले इस बात की आवश्यकता होगी कि उस सम्बन्ध को सोचें जिसके अनुसार हमें विभाग करने हैं। जैसे—यदि हमको मनुष्य के भेद करने हैं तो प्रथम यह स्थिर करलें कि यह विभाग हमें देश के अनुसार करने हैं अथवा अवस्था तथा रंग रूपादि के सम्बन्ध से करने हैं। यदि देश के हिसाब से मानवी विभाग करना निश्चित किया है तो भारतीय, चीनी, जापानी, श्यामी तथा अफगानी इत्यादि भेद होंगे, यदि वय के अनुसार भेद किये जावें तो हम

बाल, कुमार, किशोर, युवा तथा वृद्ध इत्यादि नामो द्वारा उन्हीं विभागों की गणना करावेंगे, इसी प्रकार रग, रूपादि के अनुसार एक ही वस्तु के अनेक भेद किये जा सकते है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न के अनुसार उसका जिस भेद से सम्बन्ध होगा उसी के अनुसार उत्तर दे दिया जावेगा। बस, इसी प्रकार यदि हम रस भेद के विषय में जानना चाहें तो प्रथम हमें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि रस का सम्बन्ध मनुष्य से किस प्रकार है। यदि हम उक्त बात पर विचार करते है तो ज्ञात होता है कि कविता तथा रसो का सम्बन्ध मनुष्य की प्रकृति से है। बस अब इस बात का देखना आवश्यक है कि मानव-प्रकृति में किन-किन वस्तुओं की प्रधानता है। वैद्यक-शास्त्र के अनुसार मानवी-प्रकृति में तीन वस्तुओ (१) वात, (२) पित्त और (३) कफ की प्रधानता है। अत. तीन ही रसो से मनुष्य का कार्य चल सकता है, शेष छै रस इन्हीं में आजावेंगे। इस बात के जानने के लिए कि कौन सी प्रकृति के लिए कौन सा रस अनुकूल है प्रथम यह जान लेना उचित है कि उक्त तीनो प्रकृतिवाले मनुष्यो के लक्षण क्या है? अत हम उन लक्षणो को ही पहले अंकित करते है —

वात प्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण,

अल्प केश कृशो रूक्षो वाचालश्चल मानस।
आकाश चारी स्वप्नेषु वात प्रकृति को नर।

—शार्ङ्गधर-संहिता

अर्थात्—सूक्ष्म केश, दुर्बल, रूखा, बकवादी, अस्थिर मन वाला आकाश चारी, स्वप्न देखे, ये वातप्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण हैं।

प्रथम हम वातप्रकृति के लक्षणों से मिलान करके इसके अनुकूल रसों की खोज करते हैं, तो ज्ञात होता है कि दौर्बल्य तथा मन की चंचलता, यह दोनों कार्य शृङ्गार-रस के अनुकूल हैं, बकवादीपन, हास्य-रस से मेल खाता है, आकाश चारी व स्वप्न अद्भुत रस से मिलता-जुलता है, अतः इस एक प्रकृति के अनुसार उक्त तीन रस हुए।

पित्तप्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण

अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमा स्वेदी च रोषणः ।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्त प्रकृति को नरः ।
—शार्ङ्गधर-संहिता

लघु वयस में केश पकें, बुद्धितीव्र, स्वेद बहुत निकले, क्रोधी और अग्नि नक्षत्रादि स्वप्न में देखे यह पित्तवाले मनुष्य के लक्षण हैं। बुद्धि का तीव्र होना, प्रस्वेद का अधिकता से निकलना, यह लक्षण वीर-रस के अनुकूल हैं, क्रोधी होना रौद्र-रस से सम्बन्ध रखता है, और स्वप्न में अग्नि नक्षत्रादि का दर्शन भयानक रस से मिलता है। अतः इस प्रकृति के अनुसार भी तीन ही रस हुए।

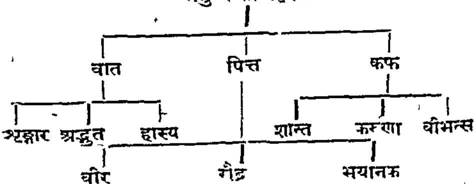
कफप्रकृतिवाले मनुष्य के लक्षण

गम्भीर बुद्धि स्थूलाग स्निग्ध केशो महाबल ।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्म प्रकृति को नर ।

—शार्ङ्गधर-संहिता

गम्भीर बुद्धि, स्थूल शरीर, चिकने केश, अधिक बल और स्वप्न में जलाशय इत्यादि का अवलोकन करे यह कफ प्रकृति-वाले मनुष्य के लक्षण हैं। गम्भीर बुद्धि शान्त रस के अनुकूल है, बुद्धि गम्भीरत्व तथा शरीर का स्थूल होना करुणा रस के पोषक हैं, इसी प्रकार जलाशय इत्यादि वीभत्स रस से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार तीन प्रकार की प्रकृतियों के अनुसार तीन-तीन रस हो गये, जो निम्नलिखित कोष्ठ से प्रकट होंगे। इस प्रकार इन तीनों प्रकृतियों के तीन-तीन रसों में से—शृङ्गार, वीर और शान्त—तीन ही रसों को प्रधान मान शेष दो दो को उनके अवान्तर भेद मान लेने ही से हमारा कार्य चल सकता है।

मानव प्रकृति के अनुसार रसों के विभाग



गुणों के अनुसार रस भेद माननेवालों के विचार

सत्व ज्ञान तमोऽज्ञान रागद्वेषो रजस्स्मृतम् ।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वं भूताश्रित वपु ॥

मनुस्मृति १२—२६

गुण तीन हैं (सत, रज और तम)। यथार्थ वस्तु का जानना सत्त्व का लक्षण और उसके विपरीत न जानना अथवा अज्ञान तम का लक्षण और राग-द्वेष रज के लक्षण हैं। इन सब प्राणियो का आश्रित शरीर इन सत्त्वादि गुणों की व्याप्तिवाला होता है। उक्त तीनो लक्षणों का विस्तार मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है —

(१) सतोगुण—जो प्रीति से सयुक्त और शान्त प्रकाश रूपसा आत्मा में जाना जावे, उसको सत्त्व समझना चाहिए। वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धर्म-क्रिया और आत्मा का चिन्तवन ये सत्त्व गुण के लक्षण हैं। अथवा जिस कर्म की सर्वथा जानने के लिए इच्छा करता है, जिस काम को करता हुआ लज्जित नहीं होता तथा जिस कर्म के करने से उसको आनन्द हो, वह सत्त्व गुण का लक्षण है।

(२) रजोगुण—जो दुख से मिला हुआ तथा आत्मा से अप्रीति करे और सर्वदा शरीरधारियों को विषयो की ओर आक-र्षित करे, उसको रज जाना चाहिए। प्रारम्भ में रुचि

पंचीकरण का कोष्टक

ब्रह्मांड

ब्रह्मांड	क्रम	गौण	पंचीकरण
आकाश	१	वायु	काम
		अग्नि	क्रोध
		आकाश	शोक
		जल	मोह
		पृथ्वी	भय
वायु	२	जल	चलन
		अग्नि	वलन
		वायु	धावन
		आकाश	प्रसारण
		पृथ्वी	आकुंचन
अग्नि	३	अग्नि	क्षुधा
		वायु	तृषा
		पृथ्वी	आलस्य
		आकाश	निद्रा
		जल	कान्ति
जल	४	जल	वीर्य
		पृथ्वी	रुधिर
		आकाश	लार
		अग्नि	मूत्र
		वायु	स्वेद
पृथ्वी	५	पृथ्वी १	अस्थि
		जल २	मांस
		तेज ३	नाड़ी
		वायु ४	त्वचा
		आकाश५	रोम

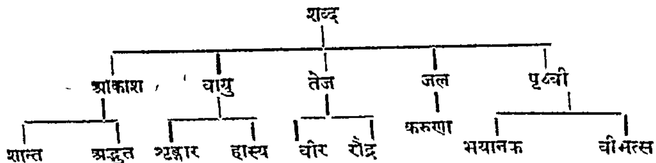
इस प्रकार यदि हम पञ्चीकरण के प्रथम कोष्ठ पर ध्यान देते हैं तो पञ्चतत्वों के अनुसार निम्नलिखित पाँच भेद ज्ञात होते हैं :—

(१) वायु के अनुसार शृङ्गार (हास्य)	(१) जब बुद्धि में हास्य और शृङ्गार रसों का आविर्भाव हो तो वायु तन्मात्रा की प्रधानता होती है, क्योंकि यह रस चचलता की वृत्ति में उत्पन्न होते हैं और वायु भी चंचल है।
(२) अग्नि ,, ,, रौद्र (वीर)	(२) जब बुद्धि म वीर व रौद्र रसो का आविर्भाव हो तो तेज तन्मात्रा की प्रधानता होती है, क्योंकि यह रस बल और तेज बुद्धि की दशा में होते हैं। तेज का भी यही स्वभाव है।
(३) आकाश ,, ,, (शान्त) अद्भुत	(३) जब बुद्धि में शान्त और अद्भुत रसो का आविर्भाव हो तो आकाश तन्मात्रा की प्रधानता जाननी चाहिए, क्योकि ये रस शून्यता और उदासीनता की दशावाली वृत्ति में ही उत्पन्न होते हैं। आकाश भी शून्य व उदासीन है।

(४) जल के अनुसार करुणा (४) जब बुद्धि में करुणारस का आविर्भाव होता है, तो जल तन्मात्रा की प्रधानता समझनी चाहिए। क्योंकि यह रस द्रवीभूत वृत्ति में ही उत्पन्न होते है। जल भी इसी स्वभाव का है।

(५) पृथ्वी ,, ,, भयानक (वीभत्स) (५) इसी प्रकार भयानक व वीभत्सरस में पृथ्वी तन्मात्रा की प्रधानता समझनी चाहिये, क्योंकि भय और ग्लानि की दशा में शरीर सशक और जडीभूत होजाता है, और पृथ्वी भी जड स्वभाववाली है।

नव रस में से पाच रस तो मुख्य हैं, शेप चार उनके साथी है।



नाटकों में प्राचीन कवि आठ रसों से काम चलाते थे, उनका नामकरण प्रचलित रस भेद के समान ही है, केवल नवा रस शान्ति गणना में से छोड दिया है। इसका कारण अनुमान से यह ज्ञात होता है कि शान्त-रस के पुष्ट करने के लिये बहुधा वेदान्त के शुष्क प्रमाणों की आवश्यकता हुआ करती है, जिसके अधिकारी बहुत ही कम दर्शक होते हैं, अत इसे गूढ समझ कर प्रधानता नहीं दी है, केवल गोणरूप से आवश्यकतानुसार उसका वर्णन किया जाता है।

रस के नव से अधिक भेद माननेवालों की सम्मतियां

किन्हीं किन्हीं सज्जनो ने दस रस माने हैं (१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुणा, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत, (९) शान्त, (१०) वात्सल्य।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने रसो के १३ भेद किये हैं, नव तो वही जो प्रचलित हैं, और चार (१) वात्सल्य, (२) सख्य, (३) भक्ति और आनन्द।

नाटको के लिये प्राचीनकाल म रसो की गणना आठ मानी थी, सम्प्रति उन्हीं की गिन्ती बढाकर १८ कर दी गई है, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

नव प्रचलित भेद जो नव रस के नाम से प्रसिद्ध हैं। शेष पॉच इस प्रकार से हैं, (१०) भक्ति व दास्य, (११) प्रेम, (१२) सख्य, (१३) वात्सल्य और (१४) प्रमोद व आनन्द।

इन सब के उदाहरण भारतेन्दुजी ने अपनी "नाटक" नामक पुस्तक में दिये हैं, यह उचित प्रतीत होता है कि हम उनके बताए हुए उदाहरणों को उद्धृत करें, किन्तु "नवरस" के उदाहरण तो हम प्रस्तुत लेख में देंगे ही क्योंकि हमारा मुख्य विषय है, इसलिये यहाँ उनका अंकित करना अनावश्यक है। हाँ, शेष पाँच रसों के उदाहरणों के जानने के लिये हम उन ग्रंथों के नाम अंकित करते हैं जिनमे उनके उदाहरण हैं और जिन्हें हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है —

भक्ति-रस संस्कृत चैतन्य-चन्द्रोदय में, प्रेम चन्द्रावली में, शेष सख्य, वात्सल्य और प्रमोद के कोई उदाहरण नहीं बतलाये।

*रस-भेद पर लेखक के विचार

(१) ऊपर के विषय को पढने पर ज्ञात होता है कि रस भेद में लोगो की दो प्रकार की सम्मतियाँ हैं। पहली श्रेणी में तो

---

*प्रत्येक वस्तु जो प्रकृति से उत्पन्न होनेवाली है त्रिगुणमयी है। आकाश भी त्रिगुणमय है। उसके तम प्रधान अंश का कार्य शब्द है। रज-प्रधान अंश का कार्य्य वाक्-इन्द्रिय है, जो कर्म-इन्द्रिय है और शब्द को प्रकट करती है। और सत्व प्रधान अंश का कार्य्य श्रोत्र इन्द्रिय है जो कि ज्ञान इन्द्रिय है और शब्द का बोधन करती है। इसी प्रकार अन्य भूतों से इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति है। समस्त इन्द्रिय-जन्य कार्य्यों का अनुविधायक मन है, इसलिये श्रोत्र-इन्द्रिय जन्य का भी हुआ। यह मन (अंतःकरण) समस्त पचीकृत भूतों के सात्विक अंश का साधारण कार्य है। इसलिये

वह लोग हैं, जिनके विचार में रसों की संख्या ९ से कम होनी चाहिये और दूसरी श्रेणी में वह लोग हैं जिनके विचार से उन की गणना ९ से कुछ आगे बढ़नी चाहिये, हम नीचे उक्त दोनों सम्मतियों पर अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार विचार करते हैं।

सर्व प्रथम यह कहा गया है कि जिस प्रकार परमात्मा एक है, और उसके निर्मित किये हुए जीव अनेक हैं, उसी प्रकार रस भी एक ही होना चाहिये, क्योंकि रस को काव्यकारों ने परमात्मा ही कल्पित किया है। निसन्देह उनका विचार बहुत ही प्रौढ़ है, हम उनसे सहमत हैं, वास्तव में परमात्मारूप रस एक ही होना चाहिये, किन्तु इसमें हमें कुछ थोड़ा सा कहना है, अथवा यों कहिये कि उन महानुभावों से कुछ प्रश्न करने हैं।

उसकी यावत् गतियाँ त्रिगुणमयी हैं। मन के गुणानुसार शब्द भी मुख्य तीन रसों में ढल जाता है, परन्तु पुन तीन-तीन प्रकार का होकर नव प्रकार की गतियों में आजाता है, जिनको कवियों ने नव-रस कहकर पुकारा है। मन जिस समय जिस गुणवाला होता है उसी के अनुसार शाब्दिक सृष्टि उत्पन्न करता है। यह सृष्टि भी ध्वनियों के संयोग, वियोग करने से ठीक इसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार भूतों के पंचीकरण से जगत की भिन्न भिन्न आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। जब बुद्धि में सत्व गुण वर्तता है उसकी गति ऐसे शब्दों के मनन करने में रहती है, जिनमें करुणा, और अद्भुत रसोंका प्रत्यय होता है। जब रज [illegible] होती [illegible] शब्दों की ओर गति होती है, जिनमें [illegible] तथा की प्रधानता में भयानक,

प्रथम प्रश्न यह है कि जिस प्रकार सृष्टि के उत्पन्न करने, उसका भरण-पोषण करने अथवा उसका संहार करने से एक ही परमात्मा के तीन नाम, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो गये, तो क्या ऐसे ही अवसर पर रस के कई नाम नहीं हो सकते ? मेरी समझ में उत्तर यही मिलेगा कि हाँ, हो सकते हैं। यदि किसी एक ही रस को प्रधान मानने के लिये ही इतना पचडा गाया गया है, और रस के नव भेदों के घटाने-बढ़ाने पर उनका कुछ झगडा नहीं है तो हमें भी इस पर कुछ विशेष कथन नहीं करना है, तर्क द्वारा उनमें से जिसका महत्त्व अधिक हो उसी को प्रधान ठहरावें।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या परमात्मा ने स्वयं नहीं कहा, कि—"एकोहम् बहुस्यामि"। इसका उत्तर इसके अतिरिक्त कि "हाँ कहा है" आप के पास कुछ और भी है ? यदि नहीं तो बतलाइये कि परमात्मारूप रस को क्या उसी बात के कहने का अधिकार नहीं है ? यदि है तो रस भी कई हो सकते हैं।

रस के मुख्य दो भेद माननेवालों में हम कविवर देवदत्तजी को मुख्य मानते हैं। उन्होंने मन अथवा आत्मा और इन्द्रियों के अनुसार यह विभाग किया है, और उन दोनों भेदों के नाम लौकिक तथा अलौकिक रस रक्खे हैं। प्रथम के वही नव भेद हैं, जो सबने माने हैं, और दूसरे के तीनभेद हैं, जिनके उदाहरण हमने यथा स्थानउद्धृतकर दिये हैं। यदि हम उक्त महानुभाव के रस-भेद पर विचार करते हैं, तो यह विभाजन कुछ विशेष

आवश्यकीय नहीं ज्ञात पड़ता। यदि तीनों उदाहरणों पर विचार करते हैं, तो उनका प्रथम उदाहरण शृङ्गार रस के 'स्वप्न दर्शन' (जो वियोगान्तर्गत पूर्वानुराग के चतुर्दर्शन नामक भेद में से एक है) से अच्छी तरह मिल जाता है। दूसरा उदाहरण वियोग की ग्यारह दशाओं में से 'अभिलाषा' से मिलता है। इसी प्रकार तीसरा उदाहरण हास्य रस का परिपोषक है। आत्मा और मन का सम्बन्ध तो सभी रसों से है, फिर समझ में नहीं आता कि देवजी ने यह पृथक्त्व किस गूढ़ अभिप्राय से किया है!

तीन प्रकृति, त्रिगुण तथा पचभूतों के अनुसार कुछ महानुभावों ने रस के तीन या पाँच भेद मुख्य माने हैं। उन्होंने जहाँ तक मुझे ज्ञात है, यह नहीं बतलाया कि उन तीन या पाँच के अतिरिक्त शेष छ या चार का कार्य्य कैसे चल सकता है? उदाहरणत शृङ्गार-रस से हम अद्भुत तथा हास्य-रस का कार्य कैसे चला सकते हैं? उन्हें यह बतलाना चाहिये था, शृङ्गार[1], वीर[2] और शान्ति[3] इत्यादि प्रधान हैं। बने रहें—क्या प्रधान, गौण के स्थान पर काम दे सकते हैं? यदि दे सकते हैं तो समझाना चाहिये था।

जिन महानुभावों ने वेदान्त में पचतत्वों के पचीकरण पर ध्यान दिया होगा, वह भली भाँति जानते होंगे कि प्रत्येक तत्त्व में अपने अर्द्ध भाग के साथ शेष चारों तत्वों के अर्द्ध-अर्द्ध भागों के चतुर्थांश विद्यमान हैं, अत अपना भाग अधिक होने से अपना ही गुण अधिक रहेगा, और शेष का कम, इसी प्रकार

यदि किसी रस का सम्बन्ध किसी प्रकृति, गुण अथवा तत्त्व से अधिक है, तो किसी का कम, इससे कम सम्बन्धवालों का अस्तित्व नष्ट नहीं किया जा सकता। यदि उन्हें नष्ट करें तो पहले उनके कार्य्य का प्रबन्ध करें, सो समझ में नहीं आता। अत: कोई उचित कारण प्रतीत नहीं होता, जिससे हम रसों की संख्या घटाकर तीन या पाँच करें। हाँ इस प्रकार अन्वेषण करके ऐसे महानुभावों ने यह अवश्य सिद्ध कर दिया है कि हमारे रस-विभाजन में हमारे पूर्वजो ने वैदिक तथा आध्यात्मिक रहस्यों को किस अनुपमता के साथ ग्रथित किया है। इस प्रकार हमारा साहित्य अन्य देशीय विद्वानों द्वारा अधिक आदर पावेगा।

जिन महानुभावों ने रस के लिये केवल आठ रस उपयुक्त बतलाये हैं, शान्त को छोड दिया है, उसका उचित उत्तर हम अनुमान से पहले ही अंकित कर चुके हैं। भारतेन्दु-जी शान्त रस के उदाहरण के लिये "प्रबोध-चन्द्रोदय" देखने का आदेश देते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शात-रस प्रयोगात्मक रीति से नाटकों में काम दे रहा है, और दे सकता है। केवल इस रस के प्रयोग करने में इस बात का ध्यान रखना होगा कि उसकी मात्रा केवल थोडी रक्खी जावे, और वर्णन शैली अत्यंत मनोहर, अथच दर्शको तथा पाठको को रुचिकर होवे।

× × × ×

कुछ महानुभावों ने रस के नवो भेदो में एक दसवाँ भेद वात्सल्य और जोडा है। यदि इस पर विचार करते है तो यह शृङ्गार-रस के अन्तर्गत ही सिद्ध होता है। महाकवि देवजी ने प्रेम के पाँच भेद इस प्रकार माने है :—

सानुराग सौहार्द अरु, भक्ति और वात्सल्य।
प्रेम पाँच विधि कहत अरु, कापराय वैकल्य।
—प्रेम चन्द्रिका

यदि इन पाँचों में से जो शृङ्गार के ही अवान्तर भेद हैं, किसी एक अथवा अधिक को पृथक् कर प्रधानता दें तो यह बात युक्तिसगत प्रतीत नहीं होती। अत इस दसवें भेद को अधिक करने की हमें कोई विशेष आवश्यकता अवगत नहीं होती।

अब नाटकों की रस-सख्या पर विचार करना शेष है। उनकी सख्या १३ या १४ कल्पित की गई है। पाँच या चार रस बढाये गये हैं, हमारी समझ में यह सब प्रेम के ही विभाग हैं अत उनकी गणना पृथक् करना व्यर्थ है। आवश्यकतानुसार इनमें से कोई प्रधान भले ही रक्खा जावे इसमें कोई हानि नहीं।

(१) वात्सल्य—वह प्रेम है, जो बडो की ओर से छोटों के प्रति होता है।

(२) भक्ति—वह प्रेम है, जो भक्तजनो की ओर से ईश्वर में होता है। गुरु, पिता आदि पूजनीयो में भी यह प्रेम होता है।

(३) सख्य—यह नवधाभक्ति में से एक भक्ति-भाव ही है, अत भक्ति के ही अन्तर्गत है।

(४) प्रमोद—यह सानुराग प्रेम के अन्तर्गत है।

(५) आनन्द—इस रस का हमें कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हुआ है, न इसकी परिभाषा ही मिल सकी। अत. हम नहीं समझ सकते कि इससे क्या अभिप्राय है। यदि आनन्द से अभिप्राय उस सुख से है जो किसी कार्य के पूर्ण होने पर प्राप्त होता है, तो वह प्रत्येक प्रेम के अन्तर्गत आसकता है। इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि अन्य रसों में भी वह उपलब्ध होता है। केवल आकाश, घटाकाश और मठाकाश का सा अन्तर है। आकाश यदि घट के अन्दर है तो उसका नाम घटाकाश है, और यदि मठ के अन्दर है तो उसी का नाम मठाकाश है। इसी प्रकार आनन्द के विषय में भी समझना चाहिए। फिर इस भेद को पृथक् रखने का कोई कारण नहीं।

उपर्युक्त बातो पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारे अनुभवी पूर्ववर्ती-विद्वानों ने रस के जो नव-भेद रक्खे हैं वह समुचित है। उनके घटाने बढाने से कोई विशेष लाभ नहीं है।



६—सम्पूर्ण रसोंमें शृङ्गार-रस की प्रधानता

अ—प्रधानता के कारण



दि हम हिन्दी-काव्य पर दृष्टिपात करते है तो ज्ञात होता है कि उसमें शृङ्गार-रस का बहुत आधिक्य है, प्रायः सभी प्रतिभाशाली, प्राचीन कवियो ने उसे अपनी कवित्व-शक्ति द्वारा प्रधान सिद्ध किया है। यथा —

भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल सिंगार।
जो सम्पति दम्पतिन की, जाको जग विस्तार।

देव (कुशल विलास)

सकल मार सिंगार है, सुरस माधुरी धाम।
स्यामहि के वनन बरन, दुख हरन अभिराम।

—देव (भाव विलास)

नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सब को केसवदास हरि, नायक है शृङ्गार।

—केशव (रसिक-प्रिया)

नव रस मे शृङ्गार रस, सिर कहत सब कोइ।
सुरस नायिका नायकहि आलम्बित है होइ।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

रस-राज श्री शृङ्गार रस मे केलि प्रेम प्रकाश है।

—सुधानिधि

इत्यादि अनेक उदाहरणों द्वारा यह फलित होता है कि हमारे भूतकालवर्ती कवियों ने उसे सर्वोच्च पद पर सुशोभित किया है। परन्तु, उनके ऐसा करने का कारण क्या है? क्या वास्तव में यह रस उतने ही महत्त्व का है जितने का ठहराया गया है अथवा घूँस-पाखंड द्वारा उसने अपना कार्य-साधन किया है?"—इत्यादि अनेक शकाएँ उपस्थित होती है। कोई तो प्राचीन कवियों के अनुगामी बन उनकी ही हाँ में हाँ मिलाते हैं और कोई उनके विपक्षी बन "शृङ्गार" को लाखों कोरी कोरी सुनाते हैं। ऐसा होना कोई आश्चर्य-जनक घटना नहीं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की रुचि और विचार भिन्न-भिन्न हैं, फिर कैसे सम्भव हो सकता है कि सब एक ही बात को मान लें। इतना होने पर भी यह अवश्य कहा जावेगा कि प्रत्येक बात अपनी आत्मीयता में कोई न कोई द्रष्टव्य और वैचित्र्यपूर्ण रहस्य अवश्य रखती है। आज से दस-बीस वर्ष पूर्व हम लोग अपनी ग्राम्य चौपालों में कुछ वयोवृद्ध कहानी कहनेवालों के मुखोद्भूत "उड़न-खटोले" काष्ठाश्व अथवा महाराज विक्रमादित्य के बत्तीस पुतलियोंवाले तख्त की बातों की समालोचना किया करते थे, और इन किस्सों को बिना सिर-पैरवाला समझ उन पर अट्टहास किया करते थे, इसी प्रकार रामायण तथा महाभारत के पात्रों के बल-वैभव इत्यादि पर भी सन्देह होता था। परन्तु आज वह दिन आगया है कि वैज्ञानिक तथा तत्त्वदर्शी लोगों ने हमारे सम्मुख वही बातें जो भ्रमोत्पादक थीं साक्षात् रूप में उपस्थित कर दिखाई हैं—वही बातें आज हमें

आश्चर्य-चकित कर अपने पूर्वजों के उस कौशल के विषय में जो उन्होंने आज से बहुत ही पहले कर दिखाया था और हमें जिसके अस्तित्व तक में शंका थी, मुक्तकंठ से साधुवाद देने के लिये प्रोत्साहित करती है। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि हमारी सम्पूर्ण बातें जो अब प्रचलित हैं अथवा पूर्व में प्रचलित थीं, ठीक हैं, परन्तु इसके साथ में यह भी सम्भव नहीं कि वह सब निराधार ही हों। वास्तव में बात यह है कि हम अपनी विज्ञता के तुच्छाभिमान और अपने वृथा अनुमान के सन्मुख या तो दूसरे की बात सुनना ही नहीं चाहते या इतने भोलेभाले बन बैठते हैं कि यदि कोई हम से कहता है कि "तुम्हारे कान कौआ ले गया!" तो बिना अपने कानो के देखे भाले ही कौए के पीछे दौड़ने लग जाते हैं। "हिन्दी काव्य" विषय पर यूरोपियन महानुभावों यथा डा० ग्रियर्सन इत्यादि की की हुई समालोचनाओं पर हम लोगों का विश्वास इतना जम गया है, कि बिना समझे-बूझे ही हम उन्हें स्वीकार कर बैठे हैं। यही कारण है कि हम अपनी परम पूजनीया सर्वोत्कृष्ट गुण सम्पन्ना, मातृ भाषा सुरसरि के काव्यामृत का पान किये बिना ही उसे दूषित तथा विषयुक्त समझ, केवल उसमें मज्जन करने के सौभाग्य से ही वंचित नहीं रहते, किन्तु उसके दर्शन लाभ से भी अपने नेत्र सुफल नहीं करते।

"जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी ढूढन गई, रही किनारे बैठ"।

उक्त शृङ्गार-काव्य ने युवकों का सत्यानाश कर डाला, परन्तु अभी तक किन्हीं महाशय द्वारा इस कथन के स्पष्टीकरण में कोई उचित प्रमाण प्राप्त नहीं हुए, जिनसे उक्त रस से सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले कुप्रभावों का दिग्दर्शन होता।

यह बात प्रत्येक मनुष्य को माननी पडेगी कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, प्रचार तथा विनाश के लिये कार्य्य-कारण का न्याय निश्चित है। फिर कोई कारण नहीं कि हमारी मातृ-भाषा में शृङ्गार-रस की प्रधानता के लिये वह सिद्धान्त लागू न हो। कभी-कभी हम लोगो को यह कहते हुए देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की उन्नतावस्था में शृङ्गार-रस के आधिक्य का कारण तत्सामयिक राजा महाराजाओं की विलास-प्रियता ही है, केवल उनके प्रसन्न करने के लिये ही उनके आश्रित भाट, चारण इत्यादि इस प्रकार की काव्य-रचना किया करते थे। इस पर अभी कुछ विचार न करके, प्रथम यह जानना उचित प्रतीत होता है कि हिन्दी-काव्य की सृष्टि कब हुई ? उस समय देश की सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक अवस्था क्या थी ? तब यह भली-भाँति समझ में आजावेगा कि शृङ्गार-रस की धाक हिन्दी भाषा पर कैसे जमगई ?

विद्वानों का मत है कि हिन्दी की उत्पत्ति प्राय अब से १२ सो वर्ष पूर्व हुई। यह वह समय था, जब संस्कृत-काव्य का ह्रास तथा भारतवर्ष की राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं में कौतूहलोत्पादक परिवर्तन हो रहा था। हिन्दी भाषा के कवि

प्राय भाट और चारण होते थे। वह अपनी काव्य शक्ति द्वारा अपने आश्रयदाताओं की गुणावली का गान करते थे, अथवा अपनी ओजस्वनी कविताद्वारा योद्धाओं को युद्ध कार्य में प्रवृत्त कराते थे। उस समय हिन्दी का सम्मान कौन करता? किसी को क्या ज्ञात था कि उसका भविष्य क्या होगा? इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी काव्य में ओजस्व और बल आना अवश्य आरम्भ होगया था, परन्तु विशेष उल्लेखनीय कोई भी बात न थी। हिन्दू राज्य की सत्ता के शैथिल्य के साथ ही हिन्दी-काव्य-कमलाकर भी अस्ताचल की ओर पदार्पण करने लगा था। यद्यपि कदाचित् ही ऐसा कोई दर्बार होगा जिसमें भाट या चारण न हों, किन्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय कोई नहीं दृष्टिगत होता।

विक्रम की नवीं शताब्दी से लेकर भारत में जो कुछ परिवर्तन हुआ उस पर विचार करना परमावश्यक है, क्योंकि उसका यथोचित ज्ञान हुए बिना हिन्दी-साहित्य की उन्नति तथा उसके रूप का ज्ञान होना असम्भव है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का सम्बन्ध उस देश या जाति के साहित्य से होता है, फिर भला यही नियम भारत के लिये चरितार्थ न हुआ हो, यह कैसे हो सकता है? अत हम नीचे कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करते हैं जिनसे हिन्दी का घना सम्बन्ध है।

अभी भारत में मुसलमानो ने पदार्पण नहीं किया था, पौराणिक धर्म उन्नति करता जाता था। उसके व्यापक होने के लिये, प्राय सभी आवश्यकीय लक्षण उसमें स्फुरित हो गये

बौद्धों द्वारा वैदिकधर्म के कर्म-कांड की जड हिलाई जा चुकी थी। उस जड को सुदृढ बनानेवाले गुप्त-वंशी राजाओं के प्रयत्न सर्वतोभावेन् निष्फल हो चुके थे। परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म से भी लोगों को अश्रद्धा हुई, उस पर महाराज शंकराचार्य्यजी के चलाये हुए वेदान्त मत ने विजय प्राप्त की, किन्तु तद्वर्ती सन्यस्त तथा वैराग्य के आदर्श कठिन तथा दुरूह होने के कारण लोगों से सध न सके। अन्त कुछ समय के अनन्तर ही वैष्णव-धर्म चेता और उसका इतना प्रभाव पडा कि तत्कालीन अन्य धर्म भी इस वृहद् सागर की उत्ताल-तरङ्गों के साथ प्रवाहित होने लगे।

नवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की राजनैतिक स्थिति भी अत्यत शोचनीय रही। प्राय बडे-बडे हिन्दू-राज्यों का विध्वंस हो गया। छोटे-छोटे राजा रह गये। उन्हें पारस्परिक झगडों से ही अवकाश न मिलता था। तुर्कों ने देश पर अपना आधिपत्य जमाना प्रारम्भ कर दिया था,—यहाँ तक कि तेरहवी शताब्दी तक उनका प्रभुत्व समस्त उत्तरी भारत और दो-तिहाई दक्षिणी भारत पर स्थिर होगया। इस कारण हिन्दुओं की राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ ही साथ उनकी धार्मिक तथा सामाजिक स्वाधीनता भी मिट्टी में मिल गई। उनके रीति रिवाज, रहन-सहन इत्यादि अन्य व्यवहारों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य पर भी बुरा प्रभाव पडा। कुछ दिनों तक तो उसके नष्ट प्राय हो जाने का ही भय रहा। गुण-ग्राहकता का

तो कहीं नाम भी न था। ऐसे दुर्गम समय में बड़े-बड़े सहृदय सज्जनों को भी साहस न होता था कि साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करें। बंगाल में अन्य प्रान्तों की बनिस्बत मुसलमानों की नीति कुछ नर्म थी, राजस्थान तथा दक्षिण में हिन्दुओं का वास्तविक प्रभुत्व था, इस कारण केवल इन्हीं स्थानों पर हिन्दू-साहित्य की कुछ सेवा होती रही।

यहाँ पर हिन्दी-साहित्य के विषय में कुछ विचार प्रकट करने हैं। अतएव उससे सम्बन्धित कुछ ऐतिहासिक विचारों को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि आगे ऐतिहासिक विचारों द्वारा ही फल निकालना होगा।

रामायण, महाभारत तथा पुराणादि के पढ़नेवाले महाशय भली-भाँति जानते हैं कि भगवान् के अवतार लेने का कारण "धर्म की ग्लानि" और "दुष्कृतों की प्रबलता" का होना ही है। भगवान् स्वयं कहते हैं —

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—भगवद्गीता अध्याय ४

राक्षसों के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी, विधाता को अपना दुख सुनाने गई। पृथ्वी तथा देवताओं की दुर्दशा देख विधाता को दया आई। उन्होंने अपनी तथा देवताओं की ओर से

ईश्वर से प्रार्थना की, प्रार्थना स्वीकार हुई और नवीन युग व सूत्रपात हुआ। सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तव हिन्दुओं पर अगणित विपत्तियाँ आईं। तब पहले की भाँति उन्हें अशरण-शरण परमात्मा की ही शरण लेनी पड़ी। रघुवंश कुमार-सम्भव और माघ इत्यादि साहित्य-ग्रन्थों में यह भाव भरे पड़े हैं। मनुष्यों के हृदय में इसी प्रकार के भाव स्थान पा रहे थे। अतएव उन्हें मर्य्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी महाराज तथा योगिराज श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र अत्यत रुचिकर हुए, और उन्हीं वर्णनों में उन्हें साक्षात् आशादेवी के दर्शन होने लगे। यही कारण है कि मनुष्यों की प्रवृत्ति भागवत-धर्म की ओर सहज ही में झुक गई।

ऐसे कष्ट के समय में उत्तरी-भारत को दक्षिण से श्रीशङ्कराचार्यजी की सहायता प्राप्त हो चुकी थी—रामानुजादि वैष्णव-धर्म्माचार्यों ने भी उन्हें सहायता दी। इसी समय में उत्तर का पठान साम्राज्य नष्ट हुआ, मेवाड़ की उन्नति हुई। जनता में सिद्धान्त ग्रहण करने की योग्यता हुई। ऐसे समय में दक्षिण से महाराज रामानन्द जी बंगाल होते हुए मध्यप्रदेश में उपदेश करने लगे। धर्म के महत्त्व को सर्वसाधारण के लिए सरल बनाने को गोरखनाथजी ने हिन्दी में उपदेश देना आरम्भ किया। रामानन्दजी ने भी हिन्दी का सहारा लिया। उनके शिष्य कबीरदासजी ने तो इस भाषा द्वारा ज्ञान का स्रोत प्रवाहित कर दिया। महात्मा तुलसीदासजी ने रामचरित

मानस की सृष्टि की। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराष्ट्र से आकर महाप्रभु वल्लभाचार्यजी मथुरा के पास ठहरे। अनुपम विद्वान होने के कारण आप की बडी भारी प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने कृष्णभक्ति का उपदेश दिया, ब्रजवासियो के मस्तिष्क-क्षेत्रों में प्रथम से ही यह बीज वपन हो चुका था, उक्त महात्मा जी के अनुपम उपदेश-सुधा को प्राप्त कर वही बीज अकुरित होकर उन्नति करने लगा। वल्लभाचार्यजी के उपदेशों से ब्रज-वासी प्रेम गद्-गद् होगये। उनके भाव काव्य के रूप में प्रकट होगये। ब्रज के स्त्री पुरुष भावुक तथा सहृदय थे, उनकी भाषा अत्यत मधुर एव रसीली थी, इसी प्रकार उनकी जीवन-चर्या भी अत्यत ललित तथा अनुकरणीय थी। फिर भला कविता के लिये इससे भी अच्छा और स्थान कौन मिलता। भगवान कृष्ण की जन्म भूमि यही तो थी, यहीं तो भगवान बाल क्रीडा करते थे, यहीं तो उनके रस रास का क्रीडा-स्थल था। वास्तव में हिन्दी साहित्य की उन्नति और काव्य की सरसता ब्रजवासियों की भावुकता का ही फल है। इसके पहले हिन्दी में दो चार कवियों और काव्य पुस्तको को छोडकर और था ही क्या ?

हिन्दी कविता की वृद्धि का कारण मेवाड-राज्य की उन्नति तथा सम्राट अकबर का ब्रज के समीप आगरे में अपनी राजधानी स्थापन करना है। सम्राट को काव्य का स्वय शौक हुआ, उसके देखा देखी अन्य पदाधिकारी भी काव्य की ओर झुके। दूसरे देशों के निवासी भी यहाँ का आमोद उठाने

को आने लगे। कहाँ तक कहें, बडी चहल-पहल हुई। कवियों क
मान इतना बढा कि वे लोग राजसी सज-धज से रहने लगे
जब लोगो ने देखा कि मनोविनोद के साथ ही साथ काव्य द्वार
आर्थिक लाभ तथा सम्मान भी होता है तो प्राय. सभी क
ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया।

हिन्दी-काव्य और उसकी व्युत्पत्ति पर विचार कर चुकं
के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक है कि वह काव्य
कैसा है।

साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा कई प्रकार से की
है, जिसके विषय में यथा स्थान लिखा भी जा चुका है। ध्यान
पूर्वक विचार करने पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि
भाव-लहरी, पद-लालित्य तथा सुन्दर शब्दावली की गूढ़ और
मृदुमैत्री से ही काव्य की उत्पत्ति हो जाती है। कवियों ने
भाव-भेद तथा रस-भेदों की गणना कराई है, परन्तु वास्तव में
उनको गिनना आकाश के तारों को गिनना है। सहृदय तथा
तरङ्गित हृदयों में यह पात्र के अनुकूल उत्पन्न होते हैं। उनका
वाक्यबद्ध करना केवल कवियों का ही काम है, किन्तु जातीय-
साहित्य का उद्भव तभी होता है, जब एक ही काल में बहुत से
व्यक्तियों के हृदयान्तर्गत समान भावों की जागृति होती है। यह
दशा किसी विशेष समय की सामाजिक, आत्मिक, राजनैतिक
तथा अन्यान्य सर्व व्यापक कारणों के मिलने से उत्पन्न हो जाती
है। अतएव जातीय-साहित्य तथा काव्य काल क्रम के अनुसार

स्थिर किया जाता है। संसार की सम्पूर्ण जातियाँ उनका कार्य-क्रम और ऐतिहासिक सचरण एक सा नहीं होता। सन पुष्प लतादि के रग रूप व गुण एक से नही होते। इसी प्रकार उनकी गध भी समान नहीं होती। ठीक यही हाल जातियों के साहित्यों का है। किसी देश के साहित्य का बुरा-भला होना उस देश के जन साधारण की अवस्था पर निर्भर है। यह पहले ही वर्णन कर दिया गया है। १५ वीं तथा १६-वीं शताब्दी में भागवत धर्म का प्रावल्य था, परन्तु भक्ति-मार्ग के वैष्णव-धर्म की प्रबलता थी। यही भाव मनुष्यों के हृदयों में गुजायमान हो रहे थे। उन्ही भावों का विकाश कवियों की अमृतमयी वाणी द्वारा हुआ। परमात्मा की उपासना ही हमारे काव्य की जननी है, उसका प्रेम ही हिन्दी-काव्य का मूल है। प्रेम ही शृगार का मूल कारण है। जो लोग इस रस के काव्य को भोग-विलासिता का प्रतिविम्ब समझते हे वे भगवद्भक्तों की शृगार-मय उपासना तथा उनके भावो की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते। हम पहले ही कह चुके है, कि अरविन्द घोष ने व्यासजी के काव्य के भावों को समझकर उनकी कितनी प्रशसा की है। यदि अन्य सज्जन भी उनका अनुकरण करे तो लोगों को आदिकवि के महाकाव्य भागवत में व्यभिचार की छाया न दिखायी दे। खेद है, ऐसे महर्षि के मनोहारी व रोमांच कारी काव्य को व्यभिचार और भाग-विलासता का प्रतिपादक समझ लोग दृष्टि तथा ज्ञान दोष से दूषित होते है। समय की

उपर्युक्त बातों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि "शृङ्गार-रस" को लोगों ने इतना हौआ बना रक्खा है जितना वह है नहीं। उससे भय उत्पन्न होने की भी आशंका नहीं है। यदि हम प्रेम तथा शृङ्गार-रस का बहिष्कार कर दें तो क्या किसी भी भाषा की कविता में सरसता तथा माधुर्य रह सकता है? कदापि नहीं। मनुष्य के हृदय में प्रेम से बढ़कर कोई भाव नहीं, और सौंदर्योपासना से बढ़कर कोई उपासना नहीं। कुत्सित विचार तथा स्वार्थपरता इस प्रेम को कलुषित बनाती है, कुपात्रों द्वारा वही प्रेम भयानक तथा आसुरी भेष धारण कर लेता है। परन्तु ऐसी दशा में वह प्रेम, प्रेम न रहकर विषय-वासना के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। इस भेद को हिन्दी-भाषा के कवीश्वरों ने भली भाँति समझा था। यद्यपि उन्होंने नायिका-भेद में परकीयादि नायिकाओं का वर्णन किया है, परन्तु वह विषय वैज्ञानिक तथा काव्य के अन्य अङ्गों की पूर्ति के लिये ही है, अनुकरण के लिये नहीं। हमारे कवियों ने बार-बार चिल्लाकर हमें सचेत किया है, जैसा कि नीचे लिखे उदाहरणों से विदित होगा। यदि इस पर भी हम न चेतें तो उनका क्या दोष है।

विषयीजन व्याकुल विषय, देखें विष न पियूष।
सीठी मीठी सी बहै, जूठी यदपि मयूष।
यह विचार प्रेमीन को, विषयीजन को नाहिं।
विषय निकाने जनन की, प्रेमी छियत न छाहिं।

जप तप व्रत ऋतु नेम सों, प्रेमी जन न रखात।
पूरन प्रेम प्रसन्न मन, ब्रह्मानन्द समात।

यदि कृष्णभक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो परकीयादि नायिकाएँ गोपों की मदमाती गोपियाँ हैं, भगवान् ने उनके साथ रास-क्रीड़ा की है। अतः कवियों ने भी अपनी कीर्तन-शैली के अन्तर्गत इस विषय को स्थान दिया। इस पर राजा परीक्षित को शंका हुई, तब महात्मा शुकदेवजी ने उत्तर दिया :—

यत्पादपंकजपरागनिषेव तृप्ता,
योगप्रभाव विधुताखिल कर्मबन्धा।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्य माना,
स्तस्येच्छयाऽऽत्त पुष कुतएव बन्ध ?

यह विषय बहुत ही उत्तम है, इसकी रक्षा करना हमारा धर्म है। हिन्दी-कवियों ने अपने काव्य के नायिका-नायिकाओं को स्पष्ट रीति से बतला दिया है। इस पर भी यदि किसी की समझ में न आवे तो उनका क्या दोष है ? देखिये न—

सत्य रसायन कविन को श्रीराधा हरि सेव।

× × × ×

माया देवी नायिका, नायक पूरुष आप।
सबै दम्पतिन में प्रगट, देव करै तिहि जाप।
—देव कवि

× × × ×

बरणि नायिका-नायकन, रच्यो ग्रन्थ मतिराम।
लीला राधारमण की, सुन्दर यश अभिराम।
—मतिराम

या अनुरागी चित्त की, गति जानत नहि कोय।
ज्यो-ज्यो बूड़ै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जल होय।
तजि तीरथ हरि राधिका, तनु दुति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग।

—बिहारी

एक परकीया नायिका का प्रेम विषयक सवैया और सुन लीजिये। शुद्ध प्रेम का कितना बढ़िया उदाहरण है :—

क्यो इन ऑखिन सो निरसंक ह्वै, मोहन को तन पानिय पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै इहि, गॉव बसै कहु कैसक जीजै।
होत रहे मन यो मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजे।
ह्वै बनमाल हिये लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै।

—मतिराम

उपर्युक्त विचारों द्वारा शृंगार-रस का महत्त्व भलीभॉति ज्ञात हो गया। अब इस बात पर विचार करना शेष रहा कि शेष नव-रसों पर इसका प्रभुत्व किस प्रकार जमा हुआ है, और शेष रसों का समावेश इसमें किस प्रकार हो सकता है। प्रथम यह और देख ले कि पाश्चात्य विद्वान् हम से भिन्न मत क्यो रखते हैं ?

पाश्चात्यो ने मनुष्य और प्रकृति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानी हैं, किन्तु हमारे यहॉ दोनो एक हैं। मनुष्य श्रेष्ठता पर हमारे धर्मशास्त्रों ने इतना जोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति को दबना पड़ा है। अत जब कभी हमारे कविगण

नैसर्गिक और प्राकृतिक वर्णन करने बैठते हैं, तब उनका अभिप्राय नायिका और नायक अथवा स्त्री-पुरुष के गुणों को और भी उत्कर्षित कराने और प्रकृतिवत् मानसिक भावों का तारतम्य दिखाने का होता है, उसे मनुष्य की दूसरी प्रियतमा अथवा नायिका की सौत बनाने का कदापि नहीं। इसके लिए हिन्दी-कविता तथा उसके कवि दोनों ही निर्दोष हैं, क्योंकि यह हमारे मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का स्वाभाविक फल है।

अब हम भारत के जल-वायु के सम्बन्ध से शृङ्गार-रस पर विचार करते हैं, क्योंकि मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बडा भारी प्रभाव पडा करता है। जो देश शीत प्रधान है, वहाँ के लोगों को अपनी शरीर-रक्षा की निरन्तर चेष्टाएँ करनी पडती हैं। वहाँ के निवासियों को अपनी जीवनोपयोगी सामग्री के एकत्रित करने ही में सारा समय व्यतीत करना पडता है। यही कारण है कि सांसारिक बातों में वे फस जाते हैं—उन्हें ससारी पदार्थों से इतना मोह हो जाता है कि वह जीवन का मुख्य उद्देश्य सांसारिक ऐश्वर्य्य प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। इसके अतिरिक्त जिन देशों की दशा इसके प्रतिकूल है, वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, ओढने, पहनने का सम्पूर्ण सामान प्रस्तुत कर दिया तो फिर हाथ-पाँव चलाने की आवश्यकता ही क्या है। हमारी पूजनीया मातृ-भूमि प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकाड क्रीडा-स्थल है। यहाँ

सम्पूर्ण ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की प्रचुरता है, भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इन पदार्थों की चिन्ता तो यहाँ के निवासियों को रहे ही क्यों? बस सम्पूर्ण बातों से चित्त हट कर ईश्वरोपासना और तत्सम्बन्धी अन्य विचारों की ओर उन की प्रवृत्ति हुई। जीव, जीवात्मा और परमात्मा के भेद समझने में उन्होंने अपना समय व्यतीत किया, और परमात्मा की भक्ति के नये-नये मार्ग खोज निकाले, अथवा यों कहिये कि नवधाभक्ति की सृष्टि की, ईश्वरीय प्रेम प्रसून विकसित हुआ, और उसके सौरभ से समस्त भारत सुगंधित होगया। यही प्रेम शृङ्गार-रस का मूल हुआ। परन्तु यहाँ उसकी दो शाखाएं हो गईं। प्रथम तो ईश्वर सम्बन्धी प्रेम में उन्मत्त पुरुष-स्त्रियों के तत्सम्बन्धी गुणगान, और दूसरी शाखा में विलास प्रिय लोगों (जो इन्द्रिय लोलुप थे) के विचार। इस दूसरी शाखा ने ही लोगों को हिन्दी के साहित्य को हानिकर कहने का अवसर दिया। कुछ भी हो, यह कहना पड़ेगा कि भारत-भूमि शृ गार-रस के अनुकूल है। यहाँ का जल वायु हर प्रकार उसका परिपोषक है। फिर यदि यहाँ इस रस का प्राधान्य हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अब तक जो विचार प्रकट किये गये वह भाषा तथा देश के सम्बन्ध से हुए। अब सर्व देशीय सिद्धान्त के अनुसार विचार करना उचित है। जब हम संसार की ओर दृष्टि उठाकर देखते

हैं तो उसमें स्त्री जाति की ही प्रधानता पाते हैं। सुकुमारता, सरसता, माधुर्य और मनोहरतादि गुण स्त्री-प्रकृति में ही सन्निवेशित है। ससार की सभी भाषाओं में स्त्री जाति का आदर है। अरवी भाषा के "सवः मुअल्लिका" नामक सात कविताओं का समूह जो मक्का के मन्दिर में सुवर्णाक्षरों में लिखकर लटकाया गया था, उनमें "अमर इलकैस" की कविता सर्व प्रथम थी। उसमें इसने अपनी तथा अपनी प्रेयसी की ही रामकहानी सुनाई है, उसकी स्त्री का नाम उनैजा है। हम नीचे उस की कविता का एक नमूना उद्धृत करते हैं :—

अला रुब्बा योमिन काना मिन हुन्ना सालेहिन,

वला सय्या मा योमिन ने दोरत जुल-जुली।

भावार्थ—देख ! तुझे बहुत से ऐसे दिन प्राप्त हुए हैं, जिनमें तूने मनोहारिणी स्त्रियों के साथ विहार किया है। विशेषत' दारत जुल-जुल (तालाब का नाम) सम्बन्धी दिन तो बहुत ही अच्छा था।

उपर्युक्त उदाहरण आपने देखा, किसका कहा हुआ है? यह है अर्वी भाषा के कालिदास, महाशय इलकैस का, और उसमें आपने उस समय के व्यतीत होने का पश्चात्ताप किया है जिनमें अनेक भोग-विलास किये थे।

विशेष कहाँ तक कहें, प्रेम वस्तु ही ऐसी है कि यदि इसे ससार से पृथक् कर दें तो लोगों को यहाँ रहना ही दुर्लभ हो जाय। स्वय परमात्मा तक इसके फदे से नहीं बचे हैं। फारसी भाषा के प्रसिद्ध कवि हाफिजजी कहते हैं :—

इश्क अव्वल दरदिले माशूक पैदा मी शवद ।
गर न सोजद शमा के परवाना शैदा मी शवद ।

भावार्थ —प्रेम प्रथम माशूक (ईश्वर) के हृदय में पैदा हुआ, यदि मोमबत्ती प्रथम स्वय न जली होती तो परवाना उस पर मोहित न होता ।

पाठक ! कवि का आशय कितना गवेषणापूर्ण है ? उसने प्रेम की जड को खोद निकाला है ! वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि के प्रेमाधार एकमात्र ईश्वर में प्रेम का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो आज यह सृष्टि ही न होती ।

प्रेम कोई सरलता से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है। प्रेम करना लोहे के चने चवाना है, प्रेम का मार्ग अत्यत दुरूह है। प्रेमी प्रेम में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपने ही को भूल जाता है। शुद्ध प्रेम चाहे मानुषी हो, चाहे ईश्वरीय सराहनीय है। कवि यदि ऐसे प्रेम का आधार लें तो उसमें हानि ही क्या है। यदि कही प्रेम में स्वार्थपरता ने अपना अधिकार जमा लिया हो तो कवि का कर्त्तव्य है कि काव्य द्वारा पाठकों पर ऐसा प्रत्यक्ष प्रभाव डाले कि उनको ऐसे प्रेम से घृणा हो ।

शुद्ध प्रेम के विषय में फारसी भाषा के अद्वितीय कवि "शेख सादी" साहब कहते हैं :—

ऐ मुर्ग सहर इश्क ज परवं यया मोज ।

सम्बन्ध नहीं है। इसी (इन्द्रियलोलुपता) ने तो लोगों को हिन्दी में छिद्रान्वेषण करने का अवसर दिया है। यथा :—

"जानि परै न कछू मन की मिलिहो कवहूँ कि हमें ठगती हो"।

× × ×

"कहो प्राण प्यारी क्या योंहीं हाथ मला करें"।

× × ×

फूलन सो बालकी बँनाय गुही बेनीलाल,
भाल दीन्हीं बेंदी मृगमदकी असित है।
अँग-अँग भूषण बनाये व्रज भूषणजू,
बीरी निजकर सो खवाई करि हित है।
ह्वै कै रस-बस जब देवी को महाउर को,
सेनापति श्याम गह्यो चरण ललित है।
चूमि हाथ लाल के लगाय रही आँखिन सो,
अहो प्राणपति यह अति अनुचित है।

× × ×

"मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे,
लट उलझी है नेक बेसर सुधारि दे"।

यद्यपि उपर्युक्त उदाहरणों में से, दो तो श्रीकृष्णजी सबधी ही हैं, परन्तु फिर भी ऐसे काव्य के बाहुल्य से विशेष लाभ न समझकर हमारे कविगणों ने यह समझा कि ऐसे पद्यों की रचना विषय प्रवण लोगों की प्रसन्नता के ही लिये है, तब उन्होंने ऐसे विषयी तथा कुसंग-प्रिय लोगों को सचेत करने के लिये उनकी खबर निम्नलिखित पद्य जैसे कोड़े लगाकर ली।

भाँडन कौं भोज औ कलावत को कर्न जैसे,
विप्रन को वेणु से उरोज रस लेने को।
चेडिन ये विक्रम राम जनी को जयचन्द,
मुगलों को चतुर्भुज भारी मौज करिवे को।
कहै अवसेरी मसखरन को मग जैसे,
चलत विपरीत धिक्कार ऐसे जीवे को।
निपधिन के रहत दुई बातन की तगी,
एक ईश्वर निमित्त औ कवीश्वर के दीवे को॥

परवर्तीकाल के कवियों ने ही इस प्रकार की कविताएँ अधिक कीं, जो हिन्दी पर दोषारोपण करा सकती हैं। हम यह नहीं कहते कि पूर्वकाल के कवियों ने शृङ्गार का वर्णन नहीं किया, और न शृंगार-रस की बुराई करते हैं, किन्तु यह अवश्य कहेंगे कि हमारे पूर्व कवि शृंगार-रस के पीछे नहीं पड़ गये, और न उसमें उलझ ही गये। उनकी कविताएँ अत्यंत स्वाभाविक, सरल तथा भावपूर्ण होती थीं। नन्ददासजी की एक कविता सुनिये —

"चिरियन के चौंचिहात दुलही उठि प्रात जागी,
धीरे धीरे आय के जसुदा के पाय लागी।
जसुदा असीस दई अचल अहिवात तेरो,
सुन्दर जोरी निहारि हिय सिरात मेरो।
सुख की करनि, दुख की हरनि कीरति की जाई,
बड़े भाग महू ऐसी पाई॥"

इन्हीं महाशय का एक दूसरा पद्य और लीजिये, जिसमें गोपियाँ ऊद्धव को सम्बोधित कर कहती है :—

"जो सुत नाहिन हतो कहो किन माखन खायो ?
पॉइन बिन गो सग कहो बन-बन को धायो ?
ऑखिन में अजन दियो, गोबरधन लियो हाथ,
नन्द-जसोदा-पूत है, कुवर कान्ह ब्रजनाथ ॥

कितने स्वाभाविक, मनोहर अथच सुबोध वर्णन है ! बनावट तो पास होकर नहीं फटकी। यदि कविगण विशेषकर चमत्कार की ओर ध्यान न देकर उपयोगिता की ओर भी ध्यान दें, और समयानुसार दाम्पत्य प्रेम के भाव भी प्रकट करें तो इसमें कोई बुराई नहीं। यह भाव इतना महत्त्वपूर्ण है कि कठिन से कठिन समय में भी लुप्त नहीं हो सकता। फिर इसके परित्याग करने की सम्मति कौन दे सकता है ? आवश्यकता केवल इस बात की है कि वर्णन सुरुचि-सम्पन्न और मनोहर हों, साथ ही उनकी एक सीमा भी रहे।

यदि कालिदास के ग्रन्थो में दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरूरवा, शकुन्तला, प्रियवदा आदि प्रेम-चरित्र अकित न होते तो क्या वे ससार में इतना नाम पा सकते थे ? इसी प्रकार यदि शेक्सपियर के ग्रन्थ मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो-जूलियट, मिरंडा और देसदेमोना इत्यादि के चित्रों से चित्रित न होते तो आज क्या संसार में इतने आदरणीय हो सकते थे ?—कदापि नहीं। वास्तव में बात यह है कि सम्पूर्ण भाषाओं में इस दाम्पत्य प्रेम

की आवश्यकता है, और इसी कारण सभी भाषाओं में शृगार-रस की कविताएँ प्रस्तुत हैं, केवल भेद इतना ही है किसी में कम हैं और किसी में अधिक है। चाहे चीनी, जापानी, ईरानी, फारसी इत्यादि पूर्वीय भाषाओं पर दृष्टिपात कीजिये और चाहे फ्रान्सिसी, जर्मनी, लैटिन आदि पाश्चात्य भाषाओं की ओर देखिये, शृगार-रस का प्राधान्य सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होगा।

हमारे यहाँ के कुछ लोग जिन्हें अँग्रेजी साहित्य का कुछ भी ज्ञान है, और जिन्होंने उस भाषा के विद्वानों द्वारा हिन्दी-भाषा पर की हुई समालोचनाओं को पढ़ा है, वह हिन्दी-भाषा में शृङ्गार-रस होने के कारण उससे बेतरह रुष्ट होते हैं। स्यात् उस समय वह इस बात पर विचार नहीं करते कि अँग्रेजी-साहित्य में भी ऐसे वर्णनों की कमी नहीं है। हम उदाहरण के लिए यहाँ अंग्रेजी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के "रोमियो-जूलियट" में से दो-एक उदाहरण उद्धृत करते हैं।

(1) Romeo—
See ! how she leans her cheek upon her hand.
O ! that I were a glove upon that hand
That I might touch that cheek

(2) Romeo—
With love's light wings did I overperch these walls,
For Stony limits cannot hold love out,

इन्हीं महाशय का एक दूसरा पद्य और लीजिये, जिसमें गोपियाँ ऊद्धव को सम्बोधित कर कहती हैं :—

"जो सुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो ?
पाँइन बिन गो-संग कहो बन-बन को धायो ?
आँखिन में अंजन दियो, गोवरधन लियो हाथ,
नन्द-जसोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रजनाथ ॥

कितने स्वाभाविक, मनोहर अथच सुबोध वर्णन हैं ! बनावट तो पास होकर नहीं फटकी। यदि कविगण विशेषकर चमत्कार की ओर ध्यान न देकर उपयोगिता की ओर भी ध्यान दें, और समयानुसार दाम्पत्य-प्रेम के भाव भी प्रकट करें तो इसमें कोई बुराई नहीं। यह भाव इतना महत्त्वपूर्ण है कि कठिन से कठिन समय में भी लुप्त नहीं हो सकता। फिर इसके परित्याग करने की सम्मति कौन दे सकता है ? आवश्यकता केवल इस बात की है कि वर्णन सुरुचि-सम्पन्न और मनोहर हो, साथ ही उनकी एक सीमा भी रहे।

यदि कालिदास के ग्रन्थों में दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरूरवा, शकुन्तला, प्रियंवदा आदि प्रेम-चरित्र अंकित न होते तो क्या वे संसार में इतना नाम पा सकते थे ? इसी प्रकार यदि शेक्सपियर के ग्रन्थ मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो-जूलियट, मिरंडा और देसदेमोना इत्यादि के चित्रों से चित्रित न होते तो आज क्या संसार में इतने आदरणीय हो सकते थे ?—कदापि नहीं। वास्तव में बात यह है कि सम्पूर्ण भाषाओं में इस दाम्पत्य-प्रेम

(३) जूलियट अपने प्रेमी रोमियो से कहती है कि मेरे माता-पिता आप के लिये बहुत भयानक हैं। इस पर रोमियो कहता है —"नहीं, नहीं—मुझे उनका कुछ भय नहीं। मेरे लिये तो तुम्हारे नयनबाण उनके बीस बाणों से भी अधिक आघात पहुचानेवाले प्रतीत होते हैं"।

पाठक! विचारिये, कविवर शेक्सपियर ने प्रेम का महत्त्व किस अनुपमता के साथ प्रदर्शित किया है। प्रेमी तथा प्रेमिका के वार्तालाप में एक-दूसरे के प्रेम की पराकाष्टा कर दी है। रोमियो अपने अस्तित्व को मिटाकर अपनी प्रेयसी जूलियट का दस्ताना बनना चाहता है, या यों कहिये कि दस्ताने द्वारा अपनी प्रेयसी के कपोल-स्पर्श से उसको ईर्ष्या होती है। रोमियो द्वारा नेत्रों का क्या ही उत्तम वर्णन कराया गया है, जिसको देखकर हमें अपनी हिन्दी-भाषा का अत्युत्तम दोहा स्मरण होता है —

तनक ककरी के परे, नैन होत बेचैन।
वे बपुरे कैसे जियें, जिन नयनन में नैन॥

फिर ऐसी अवस्था में विचारे रोमियो के लिये जूलियट के नेत्रों द्वारा अनुभव किये हुए कटाक्ष बीस बर्छियों से भी अधिक घातक प्रतीत हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

हमने नमूने के लिए अंग्रेजी-भाषा के एक प्रसिद्ध कवि के नाटक में से एक स्थल से कुछ शब्द उद्धृत कर दिये हैं।

में भी अपने को रक्षित न रख सका, क्योंकि उसकी छाती फाड़ी गई। सुवर्ण अपने शरीर को अग्नि में भस्म करने चला गया। चन्द्रमा कभी तो तेरे भय से थोड़ा थोड़ा क्षीण होता है और कभी तेरे कटाक्षों से क्रोध कम हुआ समझ बढ़ता जाता है। 'बेचारे की बुरी स्थिति है'। केशवदास कहते हैं कि अब कृष्ण रहे, सो तो तुझ में अनुरक्त ही हैं, फिर बताओ अब यह क्रोध किस पर है—(जो भृकुटी चढ़ी हुई है, ओठ फड़क रहे हैं, इत्यादि)।

यहाँ कवि ने शृंगार-रस से रौद्र-रस की सिद्ध की है।

प्रियाजू को वीर रस

गति गजराज साजि देह की दिपति बाजि,
हाव रथ भाव पति राजि चल चाल सों।
लाज साज कुलकानि शोच पोच भवभानि,
भौंहें धनु तानि बान लोचन बिशाल सो।
केशोदास मदहास असि कुच भट भिरें,
भेंट भये प्रति भट भाले नख जाल सो।
प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लें,
जीति रति-रण आजु मदन-गुपाल सो।

कवि ने यहाँ सेना का रूपक बाँधा है। राधिका जी से सखी का कथन है कि हे सखी, रति रणक्षेत्र में चलकर आज कृष्ण महाराज पर विजय लाभ प्राप्त करो, इस युद्ध के लिये सेना की आवश्यकता होगी सो गतिरूपी हस्ती, सौंदर्य्य रूपी अश्व, हाव रूपी रथ, तथा भावरूपी पदातियों द्वारा चतुरंगिणी

अनेकस्थलों से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो शृङ्गार-रस के महत्त्व को पूर्णतया प्रकट कर सकेंगे।

अब हम नीचे कुछ उदाहरण 'केशव' की 'रसिक-प्रिया' नामक पुस्तक में से उद्धृत कर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वह इनके इस सम्पूर्ण वर्णन को पढ़कर चित्त प्रसन्न करें। इस में इस कवि-पुङ्गवने शृङ्गार रस को मूल ठहराकर अन्य रसों की उससे उसी प्रकार सिद्धि की है, जिस प्रकार मूल पदार्थ ईख से किसी भी मिष्टान्न की सिद्धि हो सकती है।

मियाजू को रौद्र-रस

केहरी की हरी कटि करी मृग मीन फणि,
शुक पिक कज खजरीट वन लीनो है।
मृदुल मृणाल बिम्ब चम्पक मराल बेल,
कुकुम अरु दाडिम को दूनो दुख दीनो है।
जारत कनक तन तनक-तनक शशि,
घटत बढत बधुजीव गध हीनो है।
केशोदास दास भयो कोविद कुँवर कान्ह,
राधिका कुँवरि कोप कौन पर कीनो है।

यहाँ सखी की उक्ति नायिका से है, वह कहती है कि तूने केहरी की कटि की शोभा अपहरण करली। हाथी, मृग तथा मीन इत्यादि तेरे भय से वन में जा छिपे। कोमल कमल तथा बिम्बा-फल इत्यादि तेरे शरीर की अन्य उपमाओं ने भी वन की ही शरण ली। बेचारे अनार को तो तूने दूना दुख दिया; क्योंकि वह वन

को दुखदाई हुए हो। आप तो बड़े ही सीधे हैं, इसीलिए तो शिक्षा देकर मुझे सुधारने की ठानी है। किन्तु यह तो बतलाइए कि कभी सीधे (प्रसन्नता) में भी उन्होंने मुझसे सीधी तरह बातचीत की है, जो ऐसे में करेंगी। यदि आपको विश्वास नहीं होता तो जरा छिपकर देखो, उसने कामदेव के धनुष की तरह अपनी भौंहें चढ़ा रक्खी है।

यहाँ कवि ने श्रृंगार-रस में भयानक-रस का समावेश किया है।

कृष्ण को अद्भुत-रस

माखन के चोर मधुचोर दधि दूध चोर,
देखति हो देखत ही हियो हरि लेत है।
पुरुष पुराण अरु पूरण पुराण ई है,
पुरुष पुराण सुकहत किहि हेत हैं।
केशोदास देखि-देखि सुरन की सुन्दरि पै,
करतीं विचार सब सुमति समेत हैं।
देखि गति गोपिका की भूलि-जाति निज गति,
अगतिन कैसे धौं परम गति देत हैं।

पुरुष-पुराण (लोमशादिक ऋषि) और पूरण पुराण (भारतादिक) इनको परब्रह्म कह कर वर्णन करते हैं, सो इसका कारण समझ में नहीं आता, क्योंकि मैं तो इन्हें दधि दूध तथा माखन और मिष्टान्न को चुराते हुए देखती हू। केशवदास कहते हैं कि देवताओं की स्त्रियाँ बड़ी बुद्धि लड़ा लड़ाकर विचार कर रही हैं कि जो कृष्ण व्रज वनिताओं की सुन्दर, मस्त चाल को

सेना बनाकर ठाठ-बाट से चलो। लाज की बातचीत, कुल की मर्यादा तथा मिथ्या शोच के भय का नाश करके भृकुटीरूपी धनुष पर नेत्ररूपी तीर चढ़ा लो। हास रूपी खड्ग तुम्हारे पास है, और भेंट होने पर कुचरूपी भट, नखरूपी प्रतिभट के भालों के आघात सहन करेंगे। बस प्रेम का कवच तथा साहस रूपी सहायक समेत चलो।

यहाँ शृंगार-रस में वीर-रस का समावेश किया गया है।

कृष्ण को भयानक रस

रिस में निरस बोल बिषते सरस होत,
जाने सो प्रबल पित्त दाखें जिन चाखी है।
केशोराइ दुख दीने लाइक भयेऽब तुम,
आजु लहु जी में जाकी आखें अभिलाखी है।
सूधे हो सुधारिबे को आये सिखवन मोहि,
सूधेहू में सूधी बातें मोसो उन भाखी है।
ऐसे में हौं कैसे जाउ दुरिहू धो देखो जाइ,
काम की कमान सी चढ़ाइ भाह राखी है।

यहाँ नायक ने प्रथम स्वयं ही अपराध किया पुन. सखी से कहा कि तू जाकर नायिका का मान छुडा, इस पर सखी कहती है कि "रिस में रस की बातें विष के समान होती है।" इस बात को वह समझ सकते हैं जिन्होंने पित्त की प्रबलता में द्राक्षा (मुनका) को चखा है। केशवराइ कहते हैं, आज तक जिसकी आँखें जी में (तुम्हारे दर्शनो की) अभिलाषिनी हैं, तुम अब उसी

परीक्षित को ज्ञान सिखाया—यहाँ तक कि उसी के द्वारा परीक्षित ने मोक्ष पाई।

कविवर देवदत्तजी का मत है कि नवरसों में से शृङ्गार, वीर तथा शान्त तीन ही प्रमुख है, शेप छ रसो में हास्य, भयानक, रौद्र, करुणा और अद्भुत तथा वीभत्स क्रमश. दो-दो करके उन्हीं तीन के अनुगामी हैं। इसके पश्चात् वीर तथा शान्त अपने-अपने साथियो सहित शृङ्गार के साथी होते हैं, अत शृङ्गार-रस ही रसराज है।

ऊपर के विस्तृत वर्णन में से यदि हम सूक्ष्म रीति से शृङ्गार-रस की प्रधानता के कारण जानना चाहें तो मुख्य-मुख्य कारण इस प्रकार होंगे .—

१—समष्टि सम्बन्ध से अथवा व्यापक या सर्वदेशीय भाव से

(अ)—सम्पूर्ण सृष्टि में स्त्री जाति की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि जो लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं उन्होंने भी माया के सम्बन्ध से उसे अलंकृत किया है। अत उससे सम्बद्ध स्त्री-जाति से विभूपित शृङ्गार-रस मुख्य माना गया।

(ब)—प्रेम सृष्टि का आधार स्तम्भ है। प्रेम ही के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। वही प्रेम (रति) शृङ्गार-रस का स्थायी है। इसी कारण शृङ्गार रस प्रधान हुआ।

(स)—सम्पूण भापाओं में से यदि प्रेम तथा शृगार रस सबधी कार्यो को पृथक् कर लें तो उनमें कुछ शेप ही न रहे।

देखकर स्वय अपनी स्थिति को भूल जाते हैं, सो कहो पापियों को कैसे तारते हैं।

यहाँ कवि ने कृष्ण का अद्भुत रस दिखाया है—गोपियों के प्रेम (शृङ्गार) से इस रस की सिद्धि की है।

उक्त कवि ने एक शृङ्गार-रस से ही सम्पूर्ण रसों की सिद्धि की है, नायिका तथा नायक के सम्बन्ध से प्रत्येक के दो-दो तीन-तीन उदाहरण भी अकित किये हैं, जिनको पढकर चित्त अत्यन्त प्रसन्न होता है। स्थानाभाव के कारण केवल नमूने के लिए, नायिका और नायक के दो-दो उदाहरण ही अकित किये हैं। पाठक उन्हीं से समझ सकते हैं कि इस एक ही (शृङ्गार) रस से अन्य की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है। इस कवि-वर ने तो शृङ्गार का महत्त्व इतना बढाया है कि किसी वर्ण तथा आश्रम में इसका साथ नहीं छोडा है। शृङ्गार-रस के वर्णन के अन्त में कवि स्वय कहता है :—

इहि विधि स्याम शृङ्गार-रस, बहु विधि वरणो लोइ।
चारि वर्ण चहुँ आश्रमन, कहत सुनत सुख होइ।

यहाँ पर शका उपस्थित हो सकती है कि सन्यास और शृङ्गार का क्या साथ है?—इस पर एक विद्वान ने अपनी सम्मति इस प्रकार दी है, कि जिनको मोक्ष की आकांक्षा है वही तो रसानन्द के मुख्य महत्त्व को समझेंगे—विषयी पुरुष क्या जानेंगे। यह वही रस है, जिसके द्वारा शुकदेव ने राजा

भाषा के विचार से

जिस हमारी हिन्दी काव्य का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारतवर्ष पर विदेशी लोगों की दृष्टि पड रही थी। उसकी सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्थिति बहुत भयानक दशा में थी। उस समय लोगों ने ईश्वर से प्रार्थना करना आरम्भ किया—ईश्वरोपासना की ओर देश निवासियो का ध्यान गया। परन्तु यह कार्य सरल न था। इसलिए भागवत-धर्म द्वारा यह दुर्गम मार्ग सुगम किया गया। ईश्वर की उपासना, उसको साकार मानकर, अथवा यो कहो कि ईश्वर (विष्णु) को स्त्री-पुरुष कल्पित करके, नवधा भक्ति द्वारा करने लगे। वैष्णव-धर्म्म प्रबल हुआ। भक्तों के हृदय-स्रोतों में से राधिकाकृष्ण तथा सीताराम रूपी अमृत प्रवाहित होने लगा। अपने इष्ट देवों को नायिका नायिक मान कर कवियों ने उनकी लीलाओं का वर्णन करना प्रारम्भ किया। और यही कारण श्रृङ्गार-रस के प्रधान होने का हुआ।

यहाँ तक श्रृङ्गार-रस के विषय में जो सम्मतियाँ उल्लिखित हुई है, उनमें अधिकतर उसके पक्ष की ही है। अत: आगे हम कुछ सम्मतियाँ इस रस के विपक्षी सज्जनो की भी अंकित करते हैं। प्रसङ्ग वश उन सम्मतियो पर कुछ आलोचना करना भी आवश्यक होगा। अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार हम यह कार्य भी करेंगे। श्रृङ्गार-रस के विरुद्ध मत वाले सज्जनों के विपक्ष में

सम्पूर्ण भाषाओं पर इसका समान अधिकार है, अत. वह प्रधान है।

(द)—एक शृंगार-रस ही ऐसा रस है जिससे सम्पूर्ण रसों की उत्पत्ति हो सकती है, तथा उसी में उनका लय हो सकता है। यह गुण इस रस में परमात्मा का है, और परमात्मा एक है। उससे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार यह रस प्रधान हुआ और शेष रस उसी से उत्पन्न हुए।

२—एक देशीय भाव से

(अ)—देश के सम्बन्ध से (१) हमारा देश उष्ण है। यहाँ के जलवायु तथा मानवी प्रकृति के लिए शृंगार-रस अनुकूल है। जो देश शीत प्रधान होते है, वहाँ के निवासियों को अपनी प्राण-रक्षा की सामग्री ही की चिन्ता अधिक रहती है, इसके विरुद्ध जलवायु के लिए इतनी आवश्यकता ऐसी सामग्री की नहीं होती। इस पर भी यहाँ छ ऋतुएँ, सब प्रकार के खाद्य पदार्थों का बाहुल्य उनकी उस निर्द्वंद्वता में सहायक है। फिर भी ऐसे देश में इस रस का प्राधान्य न हो, तो कहाँ हो?

इस देश में विदेशी लोगों का पदार्पण नहीं हुआ था, सब प्रकार से ऐश्वर्य्य तथा सुख-सामग्री से यह मातृभूमि समृद्धशालिनी थी। ऐसी अवस्था में शृङ्गार-रस का साम्राज्य उपस्थित होना अवश्यम्भावी था।

× × ×

रचयिता है श्रीयुत नरसिंह-चिन्तामणि केलकर बी० ए०, एल्-एल्० बी०"।

"नागरी-प्रचारिणी पत्रिका" अगस्त सन् १९१५ ई० भाग २० संख्या २ पृष्ठ सं० ३६-३७ में अंकित है —

"संस्कृत-साहित्य में (और हिन्दी-साहित्य में भी) सारी शक्ति केवल शृङ्गार-रस के लिये ही खर्च कर दी गई है। यदि यह कहा जाय कि संस्कृत का काव्य और शृङ्गार दोनों मिलकर एक हो गये हैं तो अत्युक्ति न होगी। नव रसों के अनुक्रम में शृङ्गार-रस ही सब से पहले स्थान पर विराजमान दिखाई पड़ता है। यद्यपि इस बात का कोई सबल आधार व प्रमाण नहीं है कि सब रसों का क्रम केवल उनके महत्व की दृष्टि से ही लगाया गया है,,तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि शृंगार-रस को केवल संयोग से ही पहला स्थान मिल गया है। सुभाषित रत्न-भाण्डागार में संस्कृत साहित्य के सब प्रकार के पद्यों का जिस प्रकार समावेश किया गया है, उसे देखते हुए शृङ्गार के महत्व की ही कल्पना होती है। भाण्डागार में शृङ्गार-रस के अङ्गों और उपांगों के १८८ पृष्ठों में हजारों पद्य दिये गये हैं। पर उसी में हास्य रस को केवल ५६ श्लोकों में ही छुट्टी मिल गई है, और वीर-रस के केवल ५१, और करुण रस के केवल ४१ श्लोक दिये गये हैं। इससे प्रकट होता है कि शृंगार-रस को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। शृंगार-रस को प्रधान रस मानने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि कुछ लोगों ने श्रुति के "स एवै-

कुछ अंकित करने से हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि हम उनके विचारों की किसी प्रकार से अवहेलना करते हैं हम तो केवल अपने विचार प्रकट करते हैं। यह अधिकार सभी को है। किसी बात को मानना न मानना सहृदय पाठकों के ऊपर ही निर्भर है। दूसरी विनय यह है कि शृङ्गार-रस की प्रधानता से लेखक का अभिप्राय यह नहीं है कि शृङ्गार-रस से ही पुस्तकें रँग डाली जावें, और अन्य-रसों की कविताएं हों ही नहीं। न किसी के कहने से किसी मुख्य रस की कविताओं का बाहुल्य हो ही सकता है। क्योकि यह कार्य समय के हाथ में है, जैसा समय होगा उसी के अनुकूल काव्य-रचना होगी। शृङ्गार-रस की कविताओं से केवल यह अभिप्राय लिया है कि स्त्री-पुरुष का ऐसा प्रेम जो जन साधारण के लिये आदर्श-स्वरूप अनुकरणीय तथा लाभकारी हो, अवश्य वर्णन किया जाय—इससे केवल मनोरंजन ही न होना चाहिए। आवश्यकतानुसार सभी प्रकार की कविताएं वाञ्छनीय है।

शृङ्गार-रस पर सामयिक विद्वानों के विचार

पहले नागरी प्रचारिणी-पत्रिका सन् १९१५ ई० व १९१६ ई० के सम्मिलित अङ्कों में निकली हुई "हास्य-रस" नामक लेख-माला की कुछ सम्मतियां का उल्लेख यहाँ किया जाता है। इस लेख-माला का विचार शृङ्गार-रस के स्थान पर हास्य-रस को प्रधान बनाना है। उक्त लेख-माला "सुभाषित-आखि-विनोद" नामक एक मराठी ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है, जिसके

दशवें स्थान पर किया है, वहाँ उसे बढ़ाकर और इधर कुछ ऊँचे स्थान पर लाना चाहिए। कुछ लोग शृङ्गार-रस को प्रथम स्थान देने का यह कारण बतलाते हैं कि साधारणत उसकी व्याप्ति समस्त सजीव जगत में पाई जाती है। हास्य रस की तरह वह केवल मनुष्य के बाटे ही नहीं पडा है। पर बात यह है कि रस का महत्त्व सारी सजीव सृष्टि के सबन्ध से न देखना चाहिए, बल्कि सारी सजीव सृष्टि में अग्रगण्य माने जानेवाले मनुष्य के सम्बन्ध से निश्चित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, हास्य-रस प्राय मनुष्य जाति में ही पाया जाता है, अन्य प्राणियो में नहीं। और जिस प्रकार अन्य सृष्टि से अलग मनुष्य को मिली हुई बुद्धि श्रेष्ठ है उसी प्रकार और उसी कारण से हास्य रस को भी श्रेष्ठ मानना पडता है, और सारी सृष्टि में पाया जानेवाला शृगार-रस उससे कम महत्त्व का ठहरता है। रस विचार अथवा साहित्य शास्त्र का कर्त्ता यदि केवल मनुष्य ही है और केवल वही उसका आनन्द ले सकता है तो केवल उसी में पाये जाने वाले हास्य को यदि कोई रस-विचार अथवा साहित्य-शास्त्रों में सब से पहला स्थान दे तो उसका यह कृत्य कुछ अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त एक दूसरी युक्ति और है। लोग कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में शृङ्गार-रस सम्बन्धी जैसी स्पष्ट इन्द्रिय है वैसी और किसी रस के सम्बन्ध की नहीं है, और इसीलिये शृङ्गार-रस ही सब से श्रेष्ठ है। पर यह युक्ति भी ठीक नहीं है और इसका कोई अर्थ ही है, मन भी एक ही

को रस." वचन का अर्थ साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से यह लगाया है कि, सब रसों का समावेश केवल एक रस में होना चाहिए, और वह एक रस शृंगार-रस है। पर जहाँ तक पता लगता है, कहीं सयुक्तिक रीति से यह नहीं दिखलाया गया है कि एक-मात्र शृंगार-रस में शेष रसों का समावेश या लय किस प्रकार हो सकता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि मानव-सृष्टि की परम्परा चलाने के लिये रति-भाव आवश्यक है, और रति-भाव ही शृंगार-रस का स्थायी-भाव है, इसलिये शृंगार-रस को पहला स्थान मिलना चाहिए। पर यह युक्ति भी ठीक नहीं है। क्योंकि मानव सृष्टि की परम्परा चलाने के लिए अर्थात् प्रजोत्पत्ति करने के लिए जिस प्रकार रति-भाव आवश्यक है, उसी प्रकार प्रजा-संरक्षण के लिए "वात्सल्य" भाव भी आवश्यक होना चाहिए। प्रजोत्पत्ति होने के उपरान्त भी यदि प्रजा-संरक्षण न होगा तो सृष्टि परम्परा नहीं चल सकती। और प्रजा-पालन जैसे—महान् कार्य की सिद्धि के लिए रति-भाव की जरासी स यता की भी आवश्यकता नहीं होती। केवल यही नहीं स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति के कारण सन्तति की कामना कुछ अंशों में विरोध या नाश होता है। इससे सिद्ध केवल अपत्य-प्रेम या वात्सल्य-भाव ही अधिक होकर सृष्टि का क्रम चलाने में मुख्य सहायक दृष्टि से देखा जाय तो शृंगार की अपेक्षा व महत्त्व का ठहरता है, और बहुतों ने

मात्र सदा सुख या आनन्द प्राप्त करने, हास्य के अनेक प्रकारो में से किसी एक प्रकार का हास्य उत्पन्न करने और दुख या करुणा-रस का अनुभव करानेवाली बात दूर करने के प्रयत्न में ही लगा रहता है। और इन सब बातों की सिद्धि के लिए उसे पहले वीर-रस का अनुभव करना पडता है, अर्थात् अपने शरीर में उत्साह उत्पन्न करना पडता है। वीर-रस का उपयोग केवल योद्धाओं और समर-भूमि में लडनेवालो के लिए ही नहीं है, बल्कि मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहार में भी वीर-रस का आविर्भाव दिखलाई पडता है। शृगार-रस का आनन्द जीवन की कुछ विशेप स्थिति में ही लिया जा सकता है, पर करुणा और हास्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ—शृंगार-रस की कविता का आनन्द मनुष्य को लडकपन या बुढ़ापे में नहीं मिल सकता, शृंगारिक मनोभावों की जागृति केवल युवा वस्था में ही हो सकती है, और जब तक मनुष्य में भावों की जागृति हो सकती है तभी तक वह उन भावों के सबधी रसों के अनुभव करने का पात्र रहता है। पर करुणा और हास्य रस का अनुभव मनुष्य को बाल्य, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होता है। हम लोग नित्यप्रति देखते है कि हास्य-रस की बातें पढ़ या सुनकर छोटे-छोटे बच्चे भी हँसते हैं और करुणा रस की बातें सुन या पढ़कर वही बालक रोनेलग जाते हैं। वृद्ध मनुष्यो पर करुणा-रस का प्रभाव तो शीघ्र पड़ता ही है, पर उनमें से बहुत से आनन्दी और दिल्लगीबाज़ भी देखने में आते हैं। भयानक, रौद्र, अद्भुत आदि रसो का अनुभव

केवल इन्द्रिय ही नहीं वल्कि वह सब से श्रेष्ठ इन्द्रिय है और उसी को हास्य-रस की इन्द्रिय कह सकते है। "आहारनिद्रा भय, मैथुनानि सामान्य मेतत्पशुभिर्नराणां" आदि सर्वमान्य वचन से यह वात स्पष्ट है कि अन्य सब इन्द्रियों की क्रियाओं की अपेक्षा मन-इन्द्रिय और उसकी क्रिया का अधिक महत्त्व है। एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर यह वात मालूम हो जायगी कि मनुष्य मात्र को शृंगार का अनुभव केवल कुछ नियमित काल तक ही होता है। परन्तु हास्य आदि अनेक रसों का अनुभव जन्म भर होता रहता है। नव अथवा दस रसों का यदि महत्त्व की दृष्टि से ठीक-ठीक अनुक्रम लगाना हो तो हास्य और करुणा-रस ही सब से पहले आवेंगे, उनके उपरान्त वीर-रस रहेगा, और उसके उपरान्त क्रम से वात्सल्य, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स आदि को स्थान मिलेगा। चाहे मनुष्य मात्र के जीवन में होनेवाली भाव-जागृति के विचार से देखिए अथवा उससे होनेवाले आनन्द और रस के उपयोग की दृष्टि से देखिए, हास्य, करुणा और वीर ये तीनों रस, शृंगार-रस की अपेक्षा, अधिक महत्त्व के प्रमाणित होंगे। क्योंकि प्राय. हास्य और शोक में ही मनुष्य मात्र का अनुभव वँटा हुआ है। आनन्द उत्पन्न करने वाला पदार्थ प्राप्त करने और दुःख उत्पन्न करनेवाली वात टालने में ही मनुष्य मात्र की सारी प्रवृत्ति रहती है। और इस प्रवृत्ति के विजयी होने में सदा उस वीर-रस की सहायता की आवश्यकता हुआ करती है, जिसका स्थायी-भाव "उत्साह" है। मनुष्य

मात्र सदा सुख या आनन्द प्राप्त करने, हास्य के अनेक प्रकारो में से किसी एक प्रकार का हास्य उत्पन्न करने और दुख या करुणा-रस का अनुभव करानेवाली बात दूर करने के प्रयत्न में ही लगा रहता है। और इन सब बातों की सिद्धि के लिए उसे पहले वीर-रस का अनुभव करना पडता है, अर्थात् अपने शरीर में उत्साह उत्पन्न करना पडता है। वीर-रस का उपयोग केवल योद्धाओं और समर-भूमि में लडनेवालो के लिए ही नहीं है, बल्कि मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहार में भी वीर-रस का आविर्भाव दिखलाई पडता है। शृगार-रस का आनन्द जीवन की कुछ विशेष स्थिति में ही लिया जा सकता है, पर करुणा और हास्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ–शृगार-रस की कविता का आनन्द मनुष्य को लडकपन या बुढ़ापे में नहीं मिल सकता, शृगारिक मनोभावों की जागृति केवल युवावस्था में ही हो सकती है, और जब तक मनुष्य में भावों की जागृति हो सकती है तभी तक वह उन भावों के सबधी रसो के अनुभव करने का पात्र रहता है। पर करुणा और हास्य रस का अनुभव मनुष्य को बाल्य, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होता है। हम लोग नित्यप्रति देखते हैं कि हास्य-रस की बातें पढ़ या सुनकर छोटे-छोटे बच्चे भी हँसते हैं और करुणा रस की बातें सुन या पढ़कर वही बालक रोनेलग जाते हैं। वृद्ध मनुष्यो पर करुणा-रस का प्रभाव तो शीघ्र पड़ता ही है, पर उनमें से ... आनन्दी और दिल्लगीबाज भी

करने के लिए ऊपर लिखी हुई किसी प्रकार की मर्यादा या सीमा की आवश्यकता नहीं; पर इन सब रसों का अनुभव बहुत ही थोड़े प्रसङ्गों पर होता है। पर यदि यह कहा जाय कि हास्य और करुणा-रस का अनुभव मनुष्य को पग-पग पर हुआ करता है तो कुछ अनुचित न होगा। इन रसों का अधिकार छोटे, बड़े, अमीर, गरीब सब पर और सब स्थितियों में बना रहता है। यदि करुणा और हास्य रस पर कुछ विचार-पूर्वक ध्यान दिया जाय तो जान पड़ेगा कि मनुष्य को करुणा-रस की अपेक्षा हास्य-रस का अनुभव ही अधिक होता है। करुणा रस से हृदय के आर्द्र होने के लिए किसी सीमा तक अपनी हानि होने की आवश्यकता होती है और वह हानि अपनी किसी प्रिय वस्तु की होनी चाहिए। दूसरों की हानि देखकर भी दुःखी होनेवाले लोग संसार में हैं, पर यह बात सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसी प्रकृति के लोग संसार में बहुत ही कम हुआ करते हैं। परन्तु हास्य-रस के सम्बन्ध में वह बात नहीं है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एक प्रकार की असंबद्धता दिखलाई पड़ने के कारण हास्य-रस की उत्पत्ति होती है। संसार में यह असम्बद्धता प्रायः पग-पग पर दिखलाई पड़ती है, और वह असम्बद्धता चाहे अपने से सम्बन्ध रखती हो और चाहे पराए से, पर उसे देखकर मनुष्य का मनोविनोद अवश्य होता है। इस प्रकार विचार करने के उपरान्त यह बात लोग स्वीकार कर लेंगे कि हास्य-रस को इस समय जितना

महत्त्व दिया जाता है, वह उससे कहीं अधिक महत्त्व का पात्र है।

उपर्युक्त विचारों पर ध्यान देने से सब से प्रथम यह शका उठती होती है कि "सम्पूर्ण रसों का समावेश अथवा लय एक ही शृङ्गार-रस में कैसे हो सकता है ?"

इस शका के निवारण करने के लिए अपने धार्मिक ग्रन्थों की सहायता लेना युक्ति-सगत प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्य अनुकरण का दास है, और उसके लिए प्रकृति से उत्तम कोई अनुकरण नहीं। अत ऐसा ही उदाहरण क्यो न लिया जाय। यह तो प्रथम ही अंकित किया जा चुका है कि इसका सब से उत्तम उदाहरण ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश होना ही है, जिसका स्पष्टीकरण मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में किया गया है, और हमने यथावसर उसका थोडा सा दिग्दर्शन करा भी दिया है। अब यह और देखना चाहिए कि किसी वस्तु की उत्पत्ति मूल पदार्थ से किस प्रकार होती है, तथा फिर वही वस्तु अपने वास्तविक रूप में कैसे आ जाती है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समुद्र का जल, सूर्य की उष्णता से आतप्त होकर वाष्प रूप में परिवर्तित होता है, पुन मेघमाला के रूप में दर्शन देते हुए वही जल बरसता है, और वही जल, नदी, नाले इत्यादि के द्वारा सागर में पहुच अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर लेता है। ठीक यही दशा और भी बहुत से पदार्थों की है। बराबर ऐसे ही परिवर्तन उनमें होते रहते हैं। इस परिवर्तन , ` थोडा सा विचार करने पर

पता चल सकता है, किन्तु कुछ उदाहरण उत्पत्ति और विनाश के ऐसे भी हैं कि जिनका परिचय हमें सहज में नहीं होता। यथा हमने एक घडे का निर्माण किया तो इस कार्य के करने में आकाश की उत्पति होगई, (आकाश-पोल)। अब यदि हम उसी घडे को फोड दें तो वही आकाश पुन उसी आकाश में मिल जावेगा जिससे उसकी उत्पत्ति हुई थी। यहाँ पर आकाश, आकाश से उत्पन्न भी होगया और उसमें विलीन भी,होगया। किन्तु हमको इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ। एक तीसरा नियम इसी परिवर्तन का और भी है जिसका उदाहरण ईख से नाना प्रकार के मिष्ठान्न की सिद्धि होना कहा जा सकता है।

शृंगार-रस से शेष रसों के विकाश तथा लय के लिए उक्त तीनों ही सिद्धान्त लागू हैं, हम उन तीनों के द्वारा अपने विचार प्रकट करते हैं :—

(१)—ईश्वर ने ज्योंही सृष्टि उत्पन्न कर मनुष्य की उत्पत्ति की, त्यों ही उसने दाम्पत्य प्रेम का प्रादुर्भाव कर दिया, क्योंकि विना इस कृत्य के वह अपने मनोरथ की सिद्धि नहीं कर सकता था। इस प्रेम की सहायता के लिये उसने मनुष्य तथा स्त्री में हाव, भावादि की उत्पत्ति की, और हास या आमोद-प्रमोद का विकाश उस रति-भाव के प्रकाशन के सहायक स्वरूप प्रदर्शित कर दिया। साथ में आवश्यकतानुसार दूसरे रस भी विकसित हुए। प्रथम स्त्री-पुरुष को शृंगार-रस का

अनुभव होना तो ऐसा प्रत्यक्ष है कि प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उक्त प्रेम द्वारा सन्तानोत्पन्न होना भी प्रत्यक्ष है। फिर क्रमशः आगामी सन्तति का उत्पन्न होना, पोषित होना तथा उसका अन्त्येष्टि का क्रम बराबर लग ही जाता है। और यह कार्य इसी प्रकार अनन्तकाल तक होता रहेगा। इसको हम दूसरी प्रकार से यों भी कह सकते हैं कि प्रथम उत्पन्न हुए शृङ्गार-रस द्वारा पुनः शृङ्गारादि रसों की सामग्री उत्पन्न होगई और यह क्रमशः यों ही होती जावेगी। इस प्रकार रसोत्पत्ति अन्य रसो से नहीं हो सकती। रसोत्पत्ति का यह नियम "जल" वाले उदाहरण से सब प्रकार मिलता-जुलता है।

(२)—आकाश के सदृश प्रेम भी सम्पूर्ण सृष्टि में व्यापक है, वही "प्रेम" अथवा "रति" सम्पूर्ण मानवो के हृदयो में स्थित है। उसी के द्वारा हास्यादि अनेक रसों का विकाश तथा लय होता है। प्रश्न होता है "कैसे ?"—सुनिये। प्रेम उसी वस्तु से होता है जो चित्त को रुचिकर होती है, और हँसी उसी वस्तु को देखकर आती है जो रुचि के अनुकूल हो—चाहे वह कोई दृश्य हो, चाहे घटना अथवा बात। इसी प्रकार करुणा भी अपने प्रेमी के वियोगादि में ही होना सम्भव ै। वैर भी प्रेम से ही उत्पन्न होता

है—यहाँ यह शका उपस्थित की जा सकती है कि चूहा-बिल्ली, अथवा कुत्ता-बिल्ली यह तो जन्म से ही एक दूसरे के शत्रु हैं। इसका उत्तर यह है कि वह दोनों चौपाये अवश्य हैं किन्तु आकृति, रग, रूपादि में विशेष अन्तर है। मनुष्यों में वह अन्तर इस प्रकार नहीं है; इसलिये इनमें जब तक किसी प्रकार का सम्बन्ध न होगा, या यों कहो कि परिचय या प्रेम न होगा वैर-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि अपने परम मित्र की सहायता की आवश्यकता हुए बिना कोई किसी की सहायता नहीं करता, मित्र का शत्रु भी अपना ही शत्रु है, इसे इस प्रकार भी कह सकते है कि प्रेम के कारण वैर करना पडा। वैर के साथ ही रौद्र, भय, ग्लानि इत्यादि का सम्बन्ध है, अत: इस एक ही प्रेम से सम्पूर्ण रसों की उत्पत्ति होती जाती है, पुनः वही सब पानी के बुलबुले के समान उस रस में मिलते जाते हैं। लय के लिये उदाहरण लीजिए। किसी प्रेमी को अपनी प्रेयसी के वियोग के कारण अत्यत आकुलता हो रही है, यदि वह उस समय उसे मिल जाय तो वही करुणा शृंगार में लय हो जायगी अथवा नहीं?—अवश्य हो जावेगी। इसी प्रकार एक उदाहरण और लीजिये। प्रेमी तथा प्रेमिका वाटिका में उपस्थित है, पुष्प, सखा, सखी इत्यादि अनेक उद्दीपक सामान भी

उपस्थित हैं। परस्पर हास्य तथा आमोद व प्रमोद में वह समय व्यतीत हो रहा है, तो कहिये कुछ समय पश्चात् वह हास्य शृंगार-रस में विलीन हो जावेगा, अथवा नहीं ? अवश्य हो जावेगा। इसी प्रकार दूसरे रसो के विषय में भी समझियेगा।

(३)—जिस प्रकार मूल वस्तु ईख से अनेक मिष्टान्नों की सिद्धी होती है, उसी प्रकार शृंगार-रस से भी अन्य रसो की उत्पत्ति होती है। इसके लिए यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि महाकवि "केशवदासजी" के "रसिक प्रिया" नामक ग्रन्थ के कुछ उदाहरण हमने यथा स्थान अंकित कर दिये हैं, जिन महानुभावो को इस विषय में कुछ विशेष देखना हो, वह उक्त ग्रन्थ से देख सकते हैं।

इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए हम यह उचित समझते हैं कि दो एक उदाहरण और दे ... जिससे शृंगार से अन्य रसो की उत्पत्ति तथा ... और समझ में आजाय।

—प्रथम उदाहरण रामायण का ... जये

रामचन्द्रजी

कारण उक्त

भाव महाराज

हैं। इनको

है—यहाँ यह शका उपस्थित की जा सकती है कि चूहा-बिल्ली, अथवा कुत्ता-बिल्ली यह तो जन्म से ही एक दूसरे के शत्रु हैं। इसका उत्तर यह है कि वह दोनों चौपाये अवश्य हैं किन्तु आकृति, रंग, रूपादि में विशेष अन्तर है। मनुष्यों में वह अन्तर इस प्रकार नहीं है, इसलिये इनमें जब तक किसी प्रकार का सम्बन्ध न होगा, या यों कहो कि परिचय या प्रेम न होगा बैर-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि अपने परम मित्र की सहायता की आवश्यकता हुए विना कोई किसी की सहायता नहीं करता, मित्र का शत्रु भी अपना ही शत्रु है, इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रेम के कारण बैर करना पड़ा। बैर के साथ ही रौद्र, भय, ग्लानि इत्यादि का सम्बन्ध है, अत. इस एक ही प्रेम से सम्पूर्ण रसों की उत्पत्ति होती जाती है, पुनः वही सब पानी के बुलबुले के समान उस रस में मिलते जाते हैं। लय के लिये उदाहरण लीजिए। किसी प्रेमी को अपनी प्रेयसी के वियोग के कारण अत्यत आकुलता हो रही है, यदि वह उस समय उसे मिल जाय तो वही करुणा शृंगार में लय हो जायगी अथवा नहीं ?—अवश्य हो जावेगी। इसी प्रकार एक उदाहरण और लीजिये। प्रेमी तथा प्रेमिका वाटिका में उपस्थित हैं, पुष्प, सखा, सखी इत्यादि अनेक उद्दीपक सामान भी

उपस्थित हैं। परस्पर हास्य तथा आमोद व प्रमोद में यह समय व्यतीत हो रहा है, तो कहिये कुछ समय पश्चात् . यह हास्य श्रृंगार-रस में विलीन हो जावेगा, अथवा नहीं ? अवश्य हो जावेगा। इसी प्रकार दूसरे रसों के विषय में भी समझियेगा।

(२)—जिस प्रकार मूल वस्तु ईख से अनेक मिष्टान्नों की सिद्धी होती हैं; उसी प्रकार श्रृंगार-रस से भी अन्य रसो की उत्पत्ति होती है। इसके लिए यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि महाकवि "केशवदासजी" के "रसिक प्रिया" नामक ग्रन्थ के कुछ उदाहरण हमने यथा स्थान अंकित कर दिये हैं, जिन महानुभावो को इस विषय में कुछ विशेष देखना हो, वह उक्त ग्रन्थ से देख सकते हैं।

इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए हम यह उचित समझते हैं कि दो एक उदाहरण और दे दिये जायं जिससे श्रृंगार से अन्य रसो की उत्पत्ति तथा लय का प्रश्न कुछ और समझ में आजाय।

(१)—प्रथम उदाहरण रामायण का लीजिये —

रामचन्द्रजी तथा जनकनन्दिनी के पारस्परिक दर्शन के कारण उक्त दोनो नायक तथा नायिकाओं में श्रृङ्गार-रस के भाव महाराज जनक की वाटिका में ही प्रस्फुटित हो चुके हैं। इनको देखकर जनकपुर निवासी स्त्री-पुरुष सभी हार्दिक

कामना रखते हैं कि उक्त सम्बन्ध जो सर्वथैव योग्य है, ईश्वर अवश्य करे, किन्तु धनुष-संधान का कार्य्य दुस्तर समझ और सीताजी को इस प्रकार योग्यवर पाने में असफलता होती हुई जानकर वे करुणा से द्रवीभूत होते हैं, राजा जनक भी किसी राजासे धनुष न टूटा जानकर करुणोत्पादक शब्द कहते हैं। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार से करुणा उत्पन्न हुई। राजा जनक की बातों में अनौचित्य समझ लक्ष्मण को क्रोध हुआ, रामचन्द्र ने उन्हें शान्त किया, फिर धनुष तोड़कर जयमाल पहनी। राजा लोग धनुष टूटने का शब्द सुनकर भयभीत हुए, साथ ही रामचन्द्रजी द्वारा इस असम्भव कार्य्य की सिद्धि देखकर वह लोग चकित भी हुए, उन्हें अपनी निर्बलता पर ग्लानि भी हुई। परशुराम संवाद में लक्ष्मणजी को कहीं कहीं हास्य का अवलम्बन भी लेना पड़ा। और इस प्रकार अकेले शृङ्गार-रस से ही अन्य कई रसों की उत्पत्ति होगई, और इन सम्पूर्ण कार्य्यों के पश्चात् उक्त सम्पूर्ण रस, शृङ्गार-रस में विलीन होगये। फिर शृङ्गार-रस से अन्य रसो की उत्पत्ति तथा उसमें उनके लय होने के उदाहरण महाराज रामचन्द्रजी के सम्पूर्ण जीवनकाल में उद्भूत होते रहे।

(२)—देवजी का कथन है कि वियोग, शृंगारान्तर्गत पूर्वानुराग की व्युत्पत्ति, श्रवण, दर्शन तथा स्मरण तीन प्रकार से होती है। नीचे प्रेम-सागर में अंकित कृष्णलीला के एक वर्णन उद्धृत किया जाता है, जिससे रुक्मिणीजी को

श्रवण द्वारा कृष्ण पर प्रेम हुआ था और पुन उस शृङ्गार-रस से अनेक रस उत्पन्न होकर उसी में लय हो गये थे।

"इसी बीच एक दिन नारदजी कुंडनपुर में आये और रुक्मिणी को देख श्रीकृष्णचन्द्र के पास द्वारिका में जाय उन्होंने कहा कि महाराज ! कुडनपुर में राजा भीष्मक के घर एक कन्या रूप, गुण, शील की खान, लक्ष्मीजी के समान, जन्मी है, सो तुम्हारे योग्य है। यह भेद जब नारद मुनि से सुन पाया, तभी से रात-दिन हरि ने अपना मन उस पर लगाया। महाराज इस रीति करके तो श्रीकृष्णचन्द्रजी ने रुक्मिणी का नाम सुना। और जैसे रुक्मिणी ने प्रभु का नाम और यश सुना सो कहता हू, कि एक समय देश देश के याचको ने जाय कुडनपुर में श्रीकृष्णचन्द्र का यश गाया, जैसे प्रभु ने मथुरा में जन्म लिया; गोकुल, वृन्दावन में जाय, ग्वालबालों के सङ्ग मिल, बालचरित्र किया, और असुरों को मार, भूमि का भार उतार, यदुवंशियो को सुख दिया था, तैसे ही गाय सुनाया। उनमें से एक याचक किसी ढब से राजा भीष्मक की सभा में जाय प्रभु का चरित्र और गुण गाने लगा। उस काल —

चढ़ी अटा रुक्मिणि सुन्दरी। हरि चरित्र ध्वनि श्रवणन परी॥
सुनि के कुमरि रही मनलाय। प्रेम-लता उर उपजी आय॥
अचरज करै भूलि मन रहै। फेर उमंगि कर देखन चहै॥
भई मगन विह्वल सुन्दरी। याकी सुधि-बुधि हरि गुण हरी॥

यों कह श्रीशुकदेवजी बोले कि पृथ्वीनाथ! इस भांति श्रीरुक्मिणीजी ने प्रभु का यश और नाम सुना तो उसी दिन से रात-दिन आठ पहर चौसठ घडी सोते-जागते, बैठते, खडे, चलते-फिरते, खाते-पीते, खेलते उन्हीं का ध्यान किये रहे और गुण गाया करै। नित भोरही उठि, स्नान करि, मट्टी की गौरि बनाय, रोरी, अक्षत, पुष्प, चढाय, धूप-दीप कर मनाय, हाथ जोड, शिर नाय, उसके आगे कहा करै—

मोपर गौरि कृपा तुम करौ। यदुपति पति दै मम दुख हरौ॥"

—लल्लूलाल (प्रेम-सागर)

यहाँ पर श्रीकृष्णजी तथा रुक्मिणीजी परस्पर एक दूसरे के रँग-रूप और गुण-शीलादि को श्रवणकर एक दूसरे के प्रेम-पाश में बद्ध होगये है, और इस प्रकार शृङ्गार-रस का प्रादुर्भाव हो चुका है। अब आगे ध्यान दीजिये। कृष्ण का विवाह जब रुक्मिणी के साथ निश्चित न होकर शिशुपाल के साथ होना निश्चय हुआ, तो रुक्मिणीजी ने बडे करुणोत्पादक शब्दों में श्रीकृष्ण को पत्र लिखा, जिससे कृष्ण का चित्त द्रवित हुआ, अर्थात् नायिका-नायक ने जब एक-दूसरे का सदैव को वियोग होना समझा तो शृङ्गार-रस से करुणा का उद्गमन हो गया। इस चरित्र के पाठकों का चित्त जो कुछ समय पूर्व शृंगार-रस का अनुभव कर रहा था, वही अब उसके स्थान पर करुणा सागर में प्रवाहित होने लगा। फिर कृष्ण का देवी के मन्दिर में पहुँचना तथा रुक्मिणी को उनके दर्शनों से प्रसन्न होना, संयोग शृंगार के प्रकाशक हैं। उस समय रखवालों के हाथ से अपने आप ही

चित्र पटादिक के छूट पडने में अद्भुत रस का ज्ञान होता है। फिर यादव और असुरों का युद्ध हुआ। रुक्म ने कृष्ण को अहीर, माखन-चोर इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया। कृष्ण ने रुक्म को पकडकर रथ के पीछे बाँध दिया। युद्ध में भीषण मार-काट हुई, शोणित की सरिता प्रवाहित हुई। कृष्ण की विजय पर रुक्म को लज्जा आई और उसमें एक साथ ही विरक्त भाव उत्पन्न होगया। गृहस्थाश्रम को त्याग वैराग्य लेने पर उतारू हुआ। इस प्रकार अकेले शृंगार-रस से शेष रसो की उत्पत्ति होगई। फिर कृष्णने रुक्मिणी से विवाह किया। पिछले कार्य्य सब भूल गये और इस प्रकार अकेले शृंगार-रस में ही सम्पूर्ण रसों का लय होगया।

इसी प्रकार शकुन्तला इत्यादि नाटकों के बहुत से स्थलों से ऐसे उदाहरण दिये जासकते हैं जो हमारे कथन को सत्य सिद्ध करने के लिये प्रमाण स्वरूप हो सकते हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण ऐसा करने में हम असमर्थ हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह तो रामायणादि ग्रन्थों का गुण है कि उनमें यत्र-तत्र नव रस संचारित हैं, इसमें शृंगार रस से ही नव रस संचारित होने की कोई बात नहीं। एक प्रकार से यह अशुद्ध है, क्योंकि मुख्य नायिका तथा नायक के अनुभव किये हुए एक मुख्य समय के वर्णनो ही से तो कवियों ने अपने ग्रन्थ रत्नों को सुशोभित किया है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि यह गुण उक्त ग्रन्थों का है, घटना क्रम का

चौथी शका यह है—

"लोग कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में श्रृंगार-रस सम्बन्धी जैसी स्पष्ट इन्द्रिय है, वैसी और किसी रस के सम्बन्ध की नहीं है, और इसीलिए श्रृंगार रस सब से श्रेष्ठ है। पर यह युक्ति भी ठीक नहीं है और न इसका कुछ अर्थ ही है। मन भी एक मानवी इन्द्रिय है। केवल इन्द्रिय ही नहीं बल्कि सर्व-श्रेष्ठ इन्द्रिय है और उसी को हास्य-रस की इन्द्रिय कह सकते हैं। मन इन्द्रिय व उसकी क्रिया का महत्त्व अधिक है।"—इससे लेखक महोदय की यह धारणा है कि हास्य-रस ही प्रधान है। श्रृंगार-रस की इन्द्रिय स्पष्ट होने के विषय में हमारा भी वही विचार है जो लेखक महोदय का। वास्तव में यह बात कुछ अर्थ नहीं रखती। मन अवश्य ही एक मानुषी इन्द्रिय है, और सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ भी है, परन्तु उस पर जितना अधिकार हास्य-रस रखता है उतना ही श्रृंगारादि अन्य रस भी तो रखते हैं। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि उस पर हास्य का ही जन्म-सिद्ध अधिकार है। फिर भला हम उसको अकेले हास्य-रस के लिए ही किस प्रकार प्रयोग में ला सकते हैं, और जब यह अकेले हास्य-रस की इन्द्रिय ही नहीं, तब इससे सम्बन्ध मिलाकर सर्व प्रधान बनने का इच्छुक हास्य-रसकिस प्रकार प्रधानता पा सकता है?

शृङ्गार-रस पर लेखक के विचार

उपरोक्त कथन से हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम अन्य रसों के द्वेषी हैं। और इसके साथ ही यह भी नहीं कहा

जा सकता कि जिन आचार्य्यों ने शृंगार रस को प्रधानता दी है, उनकी दृष्टि में शृंगार-रस का आदर ही न था। यदि कोई ऐसा विचार करे तो यह उसकी भूल समझी जावेगी। शृंगार-रस की प्रधानता के जो जो कारण हैं वह प्रथम ही अंकित किये जा चुके हैं, और यह दिखलाया जाचुका है कि लोगों का शृंगार-रस पर दोषारोपण करना वृथा है। इसका कारण केवल यही है कि उन्होंने शृंगार रस को व्यभिचार का दर्वाजा समझ रक्खा है, पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। सुवर्ण निर्मित पात्र में चाहे सुधा भरो और चाहे विष, इससे सुवर्ण का महत्त्व कम नहीं होता, इसी प्रकार शृंगार द्वारा चाहो तो ऐसे शुद्ध प्रेम की गंगा बहा दो जिसके द्वारा सम्पूर्ण पाप धुल जाय, और चाहो तो इन्हीं के द्वारा संसार को पापों का भंडार बना दो। यह तो आप को अधिकार है, इसमें शृंगार रस का क्या दोष है? शृंगार तो प्रेम का मूल है, और प्रेम ही संसार में एक सार वस्तु है। प्रेम के लक्षण कविवर देवजी ने निम्नलिखित छन्दों में इस प्रकार वर्णन किये हैं —

जाके मदमात्यो सो उमात्यो ना कहूँ है कोई,

बूड्यो उछर्‌यो ना तर्‌यो सोभा सिन्धु साम्हे है।

पीवत ही जाहि कोई मार्‌यो सो अमर भयो,

बोरान्यो जगत सोई मार्‌यो सुरघाहु है॥

चख के चखक भरि चाखत ही जाहि फिरि,

चाख्यो ना पियूष कछु ऐसो अभिलाखु है।

दंपति सरूप ब्रज औतर्‌यो अनूप सोई,
देव कियो देखि प्रेम-रस प्रेम नाम है॥
—प्रेम-चन्द्रिका

सुख दुख में है एक सम, तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयौ, जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥
—भाव विलास

उपर्युक्त छन्दों से प्रकट होता है कि हिन्दी-भाषा के कवियों का अभिप्राय किस शुद्ध प्रेम से था? उन्होंने शृंगार-रस को ही प्रेम देव की उपासना का मूल मंत्र माना है। वह कहते हैं कि इसमें प्रीति, बुद्धि तथा चातुर्य्य का विकाश होता है। सौंदर्य के दर्शन यही रस कराता है। कोमलता तथा कान्तता की मिठाई इसी रस द्वारा चखने को मिलती है। कलुषित आत्मा इसी के द्वारा पवित्र होती है। हमारे कवियों का अभिप्राय इसी सत्य, सरल एवं सुख, शान्ति के सच्चे मार्ग बतलानेवाले शृंगार-रस से है—लोगों को विलासी बनाने से नहीं। वह तो मनुष्य को 'विकास-वाद' के सिद्धान्तानुसार निम्न-श्रेणी के शुद्ध मानवी प्रेम से उच्च-श्रेणी के ईश्वरीय प्रेम की ओर ले जाना चाहते थे। लोग यह शंका कर सकते हैं कि जब आप के कवियों के भाव इतने शुद्ध थे, तब उन्होंने परकीया, सामान्यादि नायिकाओं से ग्रंथो को क्यो भर डाला है। इसका उत्तर यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि के मनुष्य न तो शुद्ध विचारों के हो ही सकते है, और न हैं ही। विश्व में बड़े-बड़े पापी, बड़े-बड़े चतुर और बड़े बड़े मूर्ख पड़े हैं। जब तक काव्य के किसी रीति ग्रन्थ में

सभी की प्रकृति के उदाहरण विद्यमान न होंगे, तब तक वह ग्रंथ सर्वांग-पूर्ण कैसे कहा जा सकता है?—यही कारण है कि उन्होंने स्वकीया के साथ साथ अन्य नायिकाओं का भी वर्णन किया है। परन्तु इसके साथ ही उन लोगों ने परकीया तथा सामान्या के सम्पर्क को बहुत ही निन्द्य बतलाया है। मानना न मानना आप का काम है। अपने कथन के प्रमाण स्वरूप महाकवि देव त, दो छन्द पाठकों की भेंट किये जाते हैं —

प्रगट भये परकीय अरु, सामान्या को सङ्ग।
धरम हानि धन हानि सुख, थोरो दुःख इकङ्ग॥
उत्तम रस श्रृङ्गार को, स्वकीया मुख्य अधार।
ताको पति नायक कह्यो, सुख सम्पति को सार॥

—प्रेम-तरंग

लोग हास्य और करुणा के लिए कहते हैं कि उनका आविर्भाव बाल्यावस्था में ही हो जाता है, और सदैव रहता है। इस कारण वह प्रधान है। परन्तु यह कहते समय स्यात् वह यह नहीं सोचते कि श्रृंगार-रस की मुख्य जड़ "प्रेम" भी तो बाल्यावस्था से ही अंकुरित होता है। प्रथम बालक का प्रेम, माता पिता, भाई-बन्धु इत्यादि से होता है, फिर वही प्रेम यथावसर, स्त्री में होता है। प्रेम वस्तुतः एक ही है। जिस प्रकार आकाश एक है, घट के सम्बन्ध से उसका नाम घटाकाश और मठ के सम्बन्ध से मठाकाश होता है। अथवा यों कहिये कि जल एक है। घट, नदी और सागर के सम्बन्ध से उसके नाम पृथक पृथक हो गये हैं। उसी प्रकार प्रेम भी एक ही है। समय, दशा, पात्र

तथा देश के अनुसार उसके भेद, प्रभेद कर लिये गये हैं, जो देखने में तो पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं परन्तु वास्तव में है एक प्रत्येक प्रेम शुद्ध ब्रह्म के प्रेम से वही सम्बन्ध रखता है, जो किरण सूर्य से। जिस प्रकार मेघ मडल से बरसा हुआ शुद्ध जल, वायु द्वारा उडे हुए रज कणादि से अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम भी इन्द्रियादि सम्बन्ध सुख के सम्पर्क से कलुषित हो जाता है, खेद है, शृंगार-रस में लोग ऐसे ही प्रेम के दर्शन करते हैं। यही कारण है वह शृंगार-रस को बुरी दृष्टि से देखते हैं। यही समझकर किसी उर्दू कवि ने कहा है.—

जो मजा इन्तिजार में देखा। न कभी वस्ते यार में देखा॥

कवि का कथन बिलकुल ठीक है। वियोग में शुद्ध-प्रेम होता है, उसमें किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश नही रहता। परन्तु सयोग में उसकी आशका रहती है। यदि इतने पर भी किसी को प्रेम और शृंगार-रस पर शका रहे तो हमें उनकी सेवा में उसी उत्तर का उपस्थित करना समुचित जान पडता है, जो ज्ञान की दीक्षा देनेवाले उद्धव को प्रेम रंगराती ब्रज-वनिताओं ने दिया था। यथा.—

मति अति आपकी अपल अबलासी लगै,
सागर-सनेह महै। कैसे पार पावैगी।
खोलिये न जीह अरु लीजिये न नाम इत,
बलदेव ब्रजराज जू की सुधि आवैगी।
सुनतहि प्रलय पयोधि माहि एक ऐसी,
कहर करनहारी लहर लिआवैगी।

राधे-दृग-सलिल-प्रवाह माहि आज ऊधो !

रावरे समेत ज्ञान गाथा बहि जायेगी।

शृंगार-रस वह रस है जो सदैव प्रेम को अपने में स्थान देने के लिए उद्यत रहता है। महात्मा सूरदास, तुलसीदास, मतिराम, रसखान, मीरा और ताज इत्यादि के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें शृंगार-रस के द्वारा प्रेमियों ने भक्ति का मार्ग हस्त-गत किया है। रसखान के विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि उन्हें मानवी प्रेम से कृष्ण प्रेम प्राप्त हुआ। वह भगवान् के अनन्य भक्तों में हुए। उन्होंने जिस शुद्ध प्रेम को अपनाया है, जिस शृंगार ने उनका चित्त अपनीओर आकर्षित किया है, वह उनके काव्य के निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा प्रकट होता है। इनसे शृंगार तथा प्रेमका महत्त्व स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है.—

दम्पति सुख अरु विषय सुख, पूजा निष्ठा ध्यान।
इनते परे बखानिये, शुद्ध प्रेम 'रसखान'॥
मित्र, कलत्र सुबन्धु सुत, इनमें सहित सनेह।
शुद्ध प्रेम इनमें नहीं, अकथ कथा कहि एह॥
एक अंगी बिनु कार यहि, एक रस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥
डरे सदा चाहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एकरस चाहि कै, प्रेम बखान्यो सोय॥
देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा वंस की, ठसक छाडि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्री बनहि, आय गोवर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कै, युगुल सरूप ललाम॥

तथा देश के अनुसार उसके भेद, प्रभेद कर लिये गये हैं, जो देखने में तो पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं परन्तु वास्तव में हैं एक प्रत्येक प्रेम शुद्ध ब्रह्म के प्रेम से वही सम्बन्ध रखता है, जो किरण सूर्य से। जिस प्रकार मेघ मडल से वरसा हुआ शुद्ध जल, वायु द्वारा उडे हुए रज कणादि से अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम भी इन्द्रियादि सम्बन्ध सुख के सम्पर्क से कलुषित हो जाता है, खेद है, शृंगार-रस में लोग ऐसे ही प्रेम के दर्शन करते हैं। यही कारण है वह शृंगार-रस को बुरी दृष्टि से देखते हैं। यही समझकर किसी उर्दू कवि ने कहा है :—

जो मजा इन्तिजार में देखा। न कभी वस्ले यार में देखा॥

कवि का कथन बिलकुल ठीक है। वियोग में शुद्ध-प्रेम होता है, उसमें किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश नहीं रहता। परन्तु संयोग में उसकी आशका रहती है। यदि इतने पर भी किसी को प्रेम और शृंगार-रस पर शंका रहे तो हमें उनकी सेवा में उसी उत्तर का उपस्थित करना समुचित जान पडता है, जो ज्ञान की दीक्षा देनेवाले उद्धव को प्रेम-रगराती व्रज-वनिताओं ने दिया था। यथाः—

मति अति आपकी अचल अबलासी लगै,
सागर-सनेह कहौ कैसे पार पावैगी।
खोलिये न जीह अर लीजिये न नाम इत,
बलदेव व्रजराज जू की सुधि आवैगी।
सुनतहि प्रनय प्रयोधि माहि एक ऐसी,
कहर करारी लहर सिधावैगी।

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।

शृंगार रस पर दोषारोपण होना कोई अचम्भे की बात नहीं, यह तो समय की बलिहारी है और कुछ नहीं। महात्मा तुलसीदासजी ने क्या ही अच्छा कहा है :—

समय समय सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तितै तिती रुचि होय॥

यह अक्षरशः सत्य है। किसी देश की कविता भी उस देश की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति के कदमों के साथ साथ अपने कदम बढ़ाती है। आज हमारे देश की स्थिति ऐसी नहीं है जो हमें शृंगार-रस में प्रेम करने दे। इसके साथ ही शृंगार-रस को भी यहाँ का जल वायु हितकर नहीं है। यही कारण है कि लोगों को शृंगार-रस खलता है। खाने को भर पेट रोटी नहीं, ओढ़ने बिछाने को कपड़ा नहीं। कहिये शृंगार-रस में रुचि कैसे हो ? यह तो शृंगार-रस है, ऐसे अवसर पर लोग भगवान् को उपालम्भ देने में तो चूके ही नहीं। एक भगवद्भक्त परमात्मा से कहता है :—

भूखे भजन न होय गुपाला। जे लेउ अपनी कंठी माला।

इसी प्रकार यदि हम शृंगार-रस को भी अपनी स्थिति बतलाकर प्रणाम करें तो कोई बुराई की बात नहीं। बुराई तो इसमें है कि उस बेचारे पर अनेकों प्रकार के दोषारोपण कर डंडा लिये पीछे पड़े हैं। यह कहना कि देश प्रवाह के साथ

मानुस हौं तो वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जु कियो व्रज छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।

कृष्ण रागराती 'ताज' का भी एक छन्द सुन लीजिये :—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
इस ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाजहू भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
श्यामला सलौना सिर ताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दाग में निदाग ह्वै दहूँगी मैं।
नंद के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
ताण नाल प्यारे हिंदुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

देखा यह शुद्ध भाव और यह त्याग ? जो उक्त विदुषी ने कृष्ण भगवान् की भक्ति में आप लोगों के सन्मुख उपस्थित किया है। वास्तव में शृंगार तो यह है, लोग उसे कल्पित चाहे जैसे करें। जिस कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा ने लोगों को शुद्ध प्रेम का पाठ पढ़ाया, कृष्ण-भक्ति का प्रसार किया, किसी प्रकार भी हमें उसकी अवहेलना करना उचित नहीं है। यदि आज भी हम व्रजभूमि की तीर्थ यात्रा करते हैं तो भी उन्हीं प्रेमोपासकों के हृदय के बिछौने, जो कृष्ण के रंग में रंगे पड़े हैं, देखने में आते हैं।

-ाचार फैल रहे हैं, अपने सदुपदेशों तथा आदर्शों -कर हमें सु-शिक्षित बनावें। बस, बाबू मैथिली -ा एक पद्यांश को यहाँ उद्धृत कर प्रस्तुत विषय -माप्त करते हैं।

"मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये।



कविता भी प्रवाहित हो, या यों कहें कि आवश्यकतानुसार अपने प्रवाह को बदल कर उसमें देश को प्रवाहित करें, सर्वथा उचित है। किन्तु यह ठीक नहीं कि हम एक ऐसे धन की, जिसे हमारे पूर्वजों ने अविश्रान्त परिश्रम करके कमाया है, वृथा अवहेलना करें। यदि हमारी समझ में शृंगार-रस का वर्णन आवश्यकता से अधिक हो गया तो अन्य-रसों की कमी को उसी प्रकार पूरी करें, जिस प्रकार हमारे पूर्व कवियों ने शृंगार-रस को सर्वांग-पूर्ण बनाया है।

देश का अहित शृंगार-रस के उन वर्णनों द्वारा कदापि सम्भव नहीं जो दाम्पत्य-प्रेम के भावों द्वारा सतीत्व उत्पन्न कराते हैं। क्या दत्त, बङ्किम और रवीन्द्र बाबू के उपन्यासों में शृंगार-रस नहीं है? क्या वह हमें अन्त में दाम्पत्य प्रेम की शिक्षा नहीं देते? फिर भला हम ऐसे शृंगार को हानिकर कैसे कहें? कृपाकर ऐसे उपन्यासों के प्रचार को रोकिये जो अपने परिणाम तक पहुंचने के पूर्व ही कुरुचि फैलाते हैं, और उनके आदर्श-पात्र भ्रूण हत्या कराने के घोर पाप करने में भी संकोच नहीं करते।

देश की वर्तमान स्थिति देखते हुए हमारे कवियों का यह धर्म है कि उनकी कविता ऐसी हो जो हमारे समाज से सहानुभूति प्रकट करे, पारस्परिक प्रेम बढ़ावे, बन्धुत्व भाव स्थिर करे, ईर्ष्या-द्वेष से विमुख करे, बुरे कर्मों से विरोध और सत्कार्यों में प्रवृत्ति करावे। इसके अतिरिक्त हमारे कवियों का यह भी धर्म है कि आजकल जो हमारे समाज में सर्व

लन इत्यादि देते रहे हैं, अतएव मधुमक्खी सदा ध्यान
स उन्हें दूर कर हमें सुशिक्षित बनावें। अब, चारु शिक्षा
लिए गुरु के एक पद्य को यहाँ उद्धृत कर प्रस्तुत विषय
यहीं समाप्त करते हैं।

केवल मधुरस न कहीं पा कर होना भ्रमित,
कर्म शील रहिए सदा वा सर्वं दास, ...।



रसों पर पुरुषत्व का आरोप

वर्ण



यह प्रथम ही वर्णन किया जा चुका है कि सृष्टि-उत्पत्ति के साथ-साथ ही काव्य की भी सृष्टि हुई। क्योंकि हमारे यहाँ वेद ही प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, और उनमें इतस्ततः काव्य का अधिकार है, अतः काव्य का जन्म भी वेदोत्पत्ति के साथ ही साथ मानना पड़ेगा। और जब वेदों में काव्य है, तो अन्वेषण द्वारा उनमें उसके सम्पूर्ण अंग, उपांग भी प्राप्त होंगे। हमारी संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में ऐसे विशिष्ट गुण भरे हैं, जिन्होंने संसार की सम्पूर्ण भाषाओं में उन्हें शिरोमणि बना दिया है। वर्णनशैली तथा भाव-लहरी के साथ ही साथ उनमें शब्द तथा अर्थों के चमत्कार का वर्णन भी दुग्ध-शर्करा-सम्मेलन के सदृश बहुत ही उत्तमता से हुआ है। परन्तु, इस आनन्द का उपभोग मनुष्य तभी कर सकता है, जब वह उसका प्रयोग करे। जो लोग सहसा शब्दार्थ पर ही विचार करने बैठ जाते हैं, वह प्रायः धोखे में आ जाते हैं। तीन या चार वर्ष हुए, एक मुसलमान सज्जन तथा एक आर्यसमाजी महोदय का शास्त्रार्थ फीरोजाबाद समाज मन्दिर में हुआ। विवाद का विषय था एक वेद-मंत्र, जिसे हम नीचे उद्धृत करते हैं।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्यन अश्नन्योऽभि चाकशीति" ॥

—तृ० माण्डूकोपनिषद्, ख० १, स० २।

अर्थ—द्वा सुपर्णा नाम के दो पक्षी हैं (अर्थात् जीव और ईश्वर) वे सयुजा अर्थात् (नियन्य, नियम भाव करके) सहयोगी हैं, और सखा हैं अर्थात् (चेतनता करके) तुल्य स्वभाव है और समान नाम एक ही वृक्ष है, अर्थात् शरीर, उसके आश्रित होकर स्थित हैं, उनमें एक (अर्थात् जीव) स्वादिष्ट पिप्पल को भक्षण करता है (अर्थात् कर्म फल को भोगता है) दूसरा (अर्थात् ईश्वर) कुछ भक्षण न करके प्रकाशमान रहता है।

यहाँ जीव, ईश्वर और शरीरादि उपमेयों का कथन नहीं है। केवल दो पक्षी, वृक्ष इत्यादि उपमानों का कथन है। अत 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार है। इसी अलकृत भाषा ने उक्त सज्जन को धोखे में डालकर शका करने के लिए वाध्य किया, वह जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी रूपक से उसके साकार होने का ध्यान करते थे और अपने उक्त कथन तथा मन्त्र को ईश्वर के साकारत्व का प्रमाण समझते थे। जब उनको भाषा के अलकृत होने का भेद ज्ञात हुआ तब उन्हें सतोष हुआ।

हमारे काव्य के अन्तर्गत अलङ्कार एक बहुत ही उत्तम पद पर स्थित है, उसके बिना काव्य नग्न समझा जाता है, यही कारण है कि प्रत्येक हिन्दू धर्म-शास्त्र ने इसे अपनाया है।

अलकार कहीं-कहीं कठिन वातों के समझाने में ऐसे सिद्धहस्त होते है कि बड़ी उत्तमता से मूल अर्थ को समझा देते है। हमारे पूर्वजो में यह एक अद्भुत गुण था कि अपने वैज्ञानिक तथा तात्विक कार्यों में भी उन्होंने नित्य-प्रति के व्यवहार का उच्छेद नही किया है। यदि हम आज भी अपने पारस्परिक वार्तालाप पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि लोग वृक्षों को पुरुषों और पुरुषों को वृक्षों से समता देते हैं। लोग दाताओं को कामधेनु, कल्पवृक्ष इत्यादि के नाम से पुकारते हैं, धनिकों को कुवेर की उपाधि से विभूषित करते हैं, आश्रय दाताओं को वृक्ष और उनकी सहायता को छाया वतलाते हैं। इसी प्रकार पुत्र को आत्मा स्त्री को अर्द्धाङ्गनी, सहकारी को दाहिना वाजू इत्यादि से समता दी जाती है। अस्तु, यही वातें दृष्टि में रखकर हमारे साहित्यकारों ने साहित्य को भी पुरुष माना है। साहित्य का उपादान भाषा और अर्थ है, भाव प्राण है, अलकार और चमत्कार उसकी उज्वलता तथा शोभा है। साहित्य का प्रतिपाद्य विषय उसका हृदय है। आदर्श दान साहित्य का प्राण है। मनुष्य की तरह साहित्य का क्षेत्र, उसके रोग तथा गुणों का वर्णन भी है। उसका क्षेत्र समाज उसके रोग उद्वेजकता, मौलिकता का अभाव इत्यादि है, और आकृष्टि, अनुशीलनीयता इत्यादि उसके गुण हैं।

जब साहित्य के लिए इस प्रकार पुरुष के गुणादि से समता देने का प्रयत्न किया गया तो भला रस ही इससे क्यो रह जायँ। यही सोचकर काव्य-प्रवीण विदग्धक-चूड़ामणि

विभूषित मडली ने रसो पर भी पुरुष त्वका आरोप किया है। सबसे प्रथम हम आर्यो के सर्वस्व वर्णाश्रम से रसो का मिलान करते है। भारतीय हिन्दू-समाज चार वर्णो में विभक्त है। उनके नाम हैं—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र। विद्वानो ने रसों में भी यह चारो वर्ण घटाये हैं। प्रथम इसके कि हम यह बतलावें कि कौन कौन रस किस किस वर्ण का माना गया है, यह उचित प्रतीत होता है कि प्रथम उक्त चारो वर्णो के लक्षण वर्णन कर दें जिससे समझने में सुगमता हो।

ब्राह्मण के कर्म्म

अध्यापन मध्ययन यजन याजन तथा।
दान प्रतिग्रह चैव ब्राह्मणकम स्वभावज॥

अर्थात् ब्राह्मणों के षट् कर्म्म हैं—पढ़ना, पढाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना।

क्षत्रिय कर्म्म—

प्रजाना रक्षण दान मिज्याऽध्ययन मेव च।
विषयेष्व प्रसक्तिश्चक्षत्रियस्य समासत॥

अर्थात्—प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में आसक्त न होना, ये क्षत्रियो के कर्म्म हैं।

वैश्य कर्म्म—

पशूना रक्षण दानमिज्याऽध्यया मेव च।
वणिक्पथ कुसींद च वैश्यस्य कृषि मेव च॥

अर्थात्—पशुओं का पोषण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती करना, यह वैश्य के कर्म्म हैं।

शूद्र कर्म्म—

एक मेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयय,।

प्रभु ने शूद्रा का एक ही कर्म्म बताया है कि इन (तीनों) वर्णों की निन्दा-रहित सेवा करे।

—मनुस्मृति अध्याय १

यदि हम किसी से यह कहें कि अमुक रस का अमुक वर्ण है तो इसके समझने में उसे कुछ भी कठिनाई न होगी और उसका ध्यान बिना किसी की टीका-टिप्पणी देखे हुए ही गुण, कर्म्म तथा स्वभाव पर जाकर तुरन्त ही स्थिर हो जावेगा। प्रथम ब्राह्मण के गुण पर ध्यान दीजिये। (ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः) के अनुसार ब्राह्मण को सदैव ईश्वर की खोज में ही लगा रहना चाहिये, उसके रंग के सम्मुख उसे सब रङ्ग फीके लगने चाहिये, उसके प्रेम में उसे अपने अस्तित्व को मिटादेने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। ससार के सौंदर्य में उसे उसी का प्रकाश देखना चाहिए। यह ब्राह्मण के गुण हैं। इन गुणों की प्राप्ति के लिए उसे वह कर्म्म करने चाहिये जो मनुस्मृति के आधार पर ऊपर कित किये गये हैं। उसके स्वभाव में क्षमा, शांति इत्यादि धर्म के दश लक्षणों का समावेश होना च २५।

अब हम उपर्युक्त वर्णानुसार रसों पर भी विचार करते हैं, जिससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाय।

शृंगार-रस का स्थायी भाव रति है, उसके आलम्बन नायिका-नायक तथा उद्दीपन चन्द्र-चाँदनी आदि हैं। प्रेम इसका मूल मंत्र है। इसका पुजारी भी भक्त की भाँति संसार में अपने प्रेमी की ही मूर्ति देखता है। उसके लिए संसार में प्रेम-पात्र से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं: वह उसके पीछे हर समय अपना अस्तित्व मिटाने के लिए उद्यत रहता है, वह उसी के संकेत पर नृत्य करने के लिए तय्यार रहता है; वह उसके चलने के लिए अपने नेत्रों के बिछौने बिछाता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार भक्त ईश्वर पर आसक्त होता है, उसी प्रकार रसिक अपने प्रेम पात्र पर मोहित होता है। अतः ब्राह्मण और शृङ्गार-रस में समता हुई। इसलिए शृङ्गार-रस ब्राह्मण वर्ण का हुआ।

हास्य में मनुष्य का चित्त सदैव प्रसन्न रहता है जिस समय मनुष्य प्रमोदानुभव करता है, उस समय वह अपने सम्पूर्ण कष्टों को विस्मरण कर देता है। ब्राह्मण के गुणों का वर्णन करते हुए शास्त्रज्ञों ने उसमें भी उपरोक्त गुणों का समावेश किया है। वह कहते हैं कि ब्राह्मणों को न खाने का सुख हो न जाने का दुःख, न जीवन का मोह हो और न मरण का शोक। प्रत्युत सदैव आनन्द और प्रसन्नता के साथ अपना जीवन [illegible] करना चाहिए। बस, हास्य और ब्राह्मण का एक ही

देखकर कहना होगा कि हास्य को भी ब्राह्मण वर्ण का ही मानना चाहिए।

ब्राह्मण अपनी भक्ति तथा तप के प्रभाव से नाना प्रकार के चमत्कार दिखा सकता है, अन्य वर्णों में यह बात नहीं है। क्षत्रियों को अस्त्र-शस्त्रादि का गर्व है, वैश्य तथा शूद्रों को अपनी द्रव्य तथा सेवा का मद है, जिनसे शरीर का सम्बन्ध है। उनके कार्य्यों में यदि कोई अद्भुत बात है तो वह भी कुछ समय की अपेक्षा रखती है। किन्तु ब्राह्मण के मुख से निकलते ही अद्भुत कार्यों के ढेर लग सकते हैं। उदाहरणत कुम्भज ऋषि ने तीन ही चुल्लुओं में समुद्र सोख लिया—विश्वामित्र ने दूसरी सृष्टि की नीव डाली, इत्यादि अनेक कार्य हैं इसी से अद्भुत-रस को हम ब्राह्मण वर्ण में परिगणित करेंगे।

शान्त-रस, तो ब्राह्मण वर्ण से इतनी समता रखता है कि प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

वीरत्व क्षत्रियों का मुख्य गुण है, युद्ध की योजना करना उनका मुख्य कर्म है। बैठे-ठाले लड़ाई बिसाना तथा वीरत्व दिखाना उनका स्वभाव है। युद्ध और क्रोध का साथ है। अत वीर और रौद्र-रस का एक ही—क्षत्रिय-वर्ण होना चाहिए।

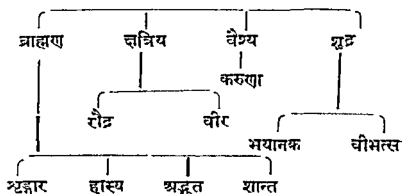
वैश्यों में न तो उपर्युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय के शान्ति तथा वीरत्ववाले स्वभाव ही होते हैं, और न शूद्रों से ही उनकी तुलना की जा सकती है। इनके मुख्य कर्म मनुस्मृति के आधार पर ऊपर लिख दिये गये हैं। अर्थात् पशु-संरक्षण, कृषि-कर्म

इत्यादि। यह कर्म ऐसे हैं कि करुण हृद मनुष्य ही सम्पादित कर सकता है, प्रत्येक में इनको करने की क्षमता नहीं होती। अत करुणारस वैश्य-वर्ण में गिना जाना चाहिए।

शूद्रों का मुख्य कार्य सेवा वतलाया गया है। यथा सम्भव उन्हें घृणोत्पादक कार्य भी करने पड़ेंगे। उनके स्वरूपों का वर्णन शास्त्रकारो ने भयकर वतलाया है। महाभारत शान्ति-पर्व में राजा वेणु के मथन करने के समय जो भयकर रूप-धारी मनुष्य उत्पन्न हुआ है, वह शूद्र नाम से ही विख्यात हुआ है। अत: भयानक तथा वीभत्स रसो में शूद्र के लक्षण पाये जाने के कारण उन्हें शूद्रवर्ण में परिगणित किया गया है।

स्पष्ट करने के लिए वर्ण क्रम से रसो की एक तालिका नीचे दी जाती है।

वर्ण-क्रमानुसार रसों की तालिका



रसों के देवता

भगवान् ने जितने अवतार लिये है, उनमे कृष्णावतार की प्रधानता है। उनकी लीलाओं का वर्णन पढ़ने पर ज्ञात होता है कि कही तो वे व्रज-ललनाओं के साथ रास-क्रीडा कर उन्हें सयोग-शृङ्गार-रस का सुखानुभव करा रहे हैं, और कही उनसे पृथक् होकर उन्हें वियोग शृङ्गार-सागर मे प्रवाहित कर रह हैं। कहीं तो उनके रग में रगी, प्रेम में पगी, चन्द्रावली उन्हें वन वन ढूँढ़ती फिरती है, और कही राधिका उनके कर-कमलों से अपना शृङ्गार कराती है! कही वे गोपियों को अपनी मधुर वशी की ध्वनि द्वारा मुग्ध कर रहे हैं, तो कहीं मधुर मुसकान द्वारा उन्ही गोपियो का सर्वस्व हरण कर रहे है। यदि कहीं अपने परोपकारादि विशिष्ट गुणों द्वारा व्रज-वनिताओं को अपना स्मरण दिला रहे हैं, तो कहीं अपनी साँवली सलोनी-छवि द्वारा उन्हें रिझा रहे है! कहाँ तक कहें सब प्रकार से शृङ्गार पर उनका आधिपत्य जमा हुआ है। संस्कृत तथा हिन्दी में इस विषय के ग्रन्थ भरे पडे हैं। यही कारण है कि उन्हें काव्य रस मार्मिक सज्जनों ने शृङ्गार-रस का देवता माना है।

एक समय नारद मुनिजी को अपने इन्द्रिय जित होने का अभिमान हुआ। यही नहीं, किन्तु उन्होंने अपने इस अभिमान को विष्णु-भगवान् के समक्ष प्रकट भी कर दिया। गर्वप्रहारी भगवान् ने उनकी परीक्षा के लिए एक शील गुण-सम्पन्ना

अत्यत लावण्यवती पोडशी की रचना की, साथ ही उसके स्वयम्वर की सामग्री भी उसी मार्ग पर उपस्थित कर दी, जहाँ होकर मुनि जा रहे थे। नारदजी कन्या को देखते ही मोहित होगये और उसके पाने का यत्न भी सोचने लगे, परन्तु इसके लिए सादृर्य्य की आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने अपनी सब बातों को विस्मरण कर, विष्णु-भगवान् से प्रार्थना की, कि वह अपना वह रूप जिसे देखते ही कन्या मोहित हो जावे, प्रदान करें। विष्णु भगवान् ने नारदजी से कहा कि अच्छा, हम वही करेंगे, जिसमें आपकी भलाई हो। यह कहकर उन्हें कपि का रूप दे विदा किया। नारदजी सादृर्य्य के अभिमान म फूले न समाते थे, और समझते थे कि राज कन्या जाते ही मेरे गले म जय माल डाल देगी। किन्तु वहाँ जाने पर विपरीत हुआ। कन्या इनका रूप देखकर इतनी डरी कि जिस पक्ति में यह विराजमान थे, उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। जय माला विष्णु भगवान् के गले में डाल दी। यह देखकर नारदजी बहुत क्रोधित हुए और वहाँ से चल दिये। मार्ग म शिवजी के प्रमथ नामक गण ने इनसे दिल्लगी की, और कहा—आप अपने इस अनुपम रूप को दर्पण म तो देखिये। नारदजी ने जब अपना रूप देखा तो और भी क्रोध बढ़ा, और विष्णु तथा प्रमथ दोनों को शाप दिया।

इसी हास्य के सम्बन्ध से प्रमथ को हास्य का देवता माना है।

ससार का निर्माता ब्रह्मा है। वह विश्व में अद्भुत से-अद्भुत

वस्तुओं की सृष्टि करता है। उसका प्रत्येक कार्य अद्भुत है। यही कारण है कि ब्रह्मा को अद्भुत-रस का देवता माना है।

एक समय देवताओं में एक दूसरे से बड़े होने का विवाद उपस्थित हुआ। न्याय के लिए भृगुजी की नियुक्ति हुई। उन्होंने न्याय में विष्णु की जय रक्खी। क्योंकि इनमें शान्ति की मात्रा अधिक थी। महाराज भृगु ने विष्णु के हृदय पर पदाघात किया, किन्तु इस पर वह क्रोधित नहीं हुए, बल्कि पूछने लगे, "महाराज! मेरे कठोर हृदय पर पदाघात करने से आपके कोमल कमलवत् चरणों में चोट तो नहीं लगी"? और यह कहकर चरण दाबने लगे। क्या ठिकाना है इस शान्ति का!

बस इसी कारण विद्वानों ने शान्ति-रस का देवता विष्णु को माना है।

रौद्र के कारण ही शिवजी का नाम रुद्र है। उन्होंने क्रोध के द्वारा कामदेव को भस्म कर डाला। यही कारण है कि उन्हें रौद्र-रस का देवता माना है।

करुणा द्वारा मनुष्य द्रवीभूत हो जाता है, यही गुण जल में भी है। जल का देवता वरुण है। महाराज कृष्ण के पिता नन्द को स्नान करते समय वरुण ने उन्हें जल-पाश में ही तो बद्ध किया था। जल और करुणा में एक ही गुण होने के कारण करुणा का देवता भी वरुण माना गया है।

इन्द्र देवताओं के राजा हैं। दैत्यो के साथ उन्हें युद्ध करना पडता है। युद्ध मे वीरत्व की ही आवश्यकता है। इसी कारण काव्य मर्मज्ञ महानुभावो ने उन्हें वीर रस का देवता माना है।

ससार में लोग मृत्युसे अप्रिय तथा भयावह दूसरा पदार्थ नहीं समझते। मृत्यु का देवता "यम" है। इसी कारण भयानक-रस का देवता "यम" माना गया है।

महाकाल में अनेको वीभत्स कार्यो की सृष्टि होती है, अत उसे वीभत्स-रस का देवता माना है।

देवता—क्रम से रसों की तालिका

रस	देवता	रस	दता	रस	देवता
शृङ्गार	कृष्ण	रौद्र	रुद्र	अद्भुत	ब्रह्मा
हास्य	प्रमथ	वीर	इन्द्र	वीभत्स	महाकाल
करुणा	वरुण	भयानक	यम	शान्त	विष्णु

रस-जनित रस

बहुधा रसो में एक मानवी प्रकृति और भी पायी जाती है, जिस प्रकार मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रस से रस का भी उदय होता है।

चिन्तामनि केलि के कलानि के विलासनिसों,
दोऊ जन दोउन के चित्तनि के चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसकानि सुधा बरसत,
दोऊ जने छके मोद मद दुहूँ ओर हैं।
सीता जू के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर हैं।

× × × —चिन्तामणि

आयुस में रस में रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंज बिहारी।
स्यामासराहतस्याम की पागहि स्याम सराहत स्यामा की सारी।
एकहि दर्पन देखि कहै तिय नीके लगौ पिय प्यौ कहै प्यारी।
देव सुबालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि मैं बलिहारी।

× × × —देव

'केशव' एक समय हरि राधिका आसन एक लसैं रंग भीने।
आनँद सो तिय आनन की द्युति देखत दर्पण में हग दीने।
भाल के लाल में बाल बिलोकत ही भरि लालन लोचन लीने।
आसन पीय सवासिन सीय हुताशन में जनु आसन कीने।

× × × —केशव

छूट्यो गेह काज लोक लाज मन मोहनी को,
भूल्यो मन मोहन को मुरली बजाइबो।
ऐसो दिन द्वै में 'रसखान' बात फैलि जैहै
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो।
कालहु कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोऊ मुरि मृदु मुसिकाइबो।

दोऊ पर पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ उन्हें,
भूलि गई गैयाँ, इन्हें गागर उठाइबो ।

× × × —रसखान

चल कुंडल दुहुँ डुलत खुलत अलकावलि निपुलित।
स्वेद सीकरन मुदित तनक तिलकावलि सुललित।
सुरति मध्यमति लसत हरष हुलसत चख चंचल।
कवि 'पद्माकर' छकित भकित भपि रहत दृगंचल।
इमिनित विपरीत सुरति मर्म असतिय सुख साधक जु सन।
हरि हर विरंचि पुर उरग पुर सुरपुर लै कह आज अन।

—पद्माकर (जगद्विनोद)

× × ×

पिय तुम और कहूँ जिन जाहु।
लेन देहु किन मो रंकिन को रूप सुधारस लाहु।
जो जो कहौ करों सोइ सोई धरि जिय अमित उछाहु।
राखौं हिये लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु।
अनुदिन सुन्दर बदन सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
'हरीचन्द' पलकन की ओट छिनहु न नाथ दुराहु।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चन्द्रावली नाटिका)

× × ×

पट नील सरीर जड़ हुलसे, नभ गंग सु-मुक्त छटा टपकी।
मग देखतु हो शत नेत्रन सों निरही मन ठानि सदा जपकी।
अब प्रान प्रिया अपनी लखि के, बरसावत फूल सदा 'जमकी'।
अति उत्तम मोहनि जो मन की—छबि देखि रही रजनी नभ की।

× × × —स्वरचित

हुई मुग्ध शकुन्तला भी नृपति नर को देख,
मान देता था जिन्हें अमरेन्द्र भी सनिमेष।

शान्ति स्थान महान कण्व मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में।
वाह्यज्ञान विहीन लीन अति ही दुष्यंत के ध्यान में।
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौंदर्य से सोहती।
मानो होकर चित्र में खचित सी थी चित्त को मोहती।
—मैथिलीशरण गुप्त (शकुन्तला)

वियोग-शृङ्गार

यह वियोग शृङ्गार तीन प्रकार का है—(१) पूर्वानुराग, (२) मान, और (३) प्रवास।

पूर्वानुराग—वियोग

मिलने से पूर्व ही श्रवणादि द्वारा प्रीति के उत्पन्न होने से मिलने की उत्कण्ठा को पूर्वानुराग कहते हैं। यथा —

होइ न मृषा देव ऋषि भाखा। उमा सो बचन हृदय धरि राखा॥
उपजेउ शिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥
जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखि उत्सग बैठि पुनि जाई॥
—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

× × ×

मधुर मधुर मुख मुरली बजाय धुनि,
धमक धमारन की धाम धाम कै गयो।
कहै पदमाकर त्यो अगर अबीरन की,
करि के घला-चली छला छली चिते गयो।
को है वह ग्वालिनी गुवालन के संग माहि,
काम छवि नारो रस रंग में भिजे गयो।
छ्वै गयो सनेह फिर छ्वै गयो छरा को छोर,
फगुवा न दे गयो हमारो मन ले गयो।
—पद्माकर

देवनू दोऊ मिले पहिले द्युति देखत ही ते लगे दृग गाढ़े।
आगे ही ते गुन रूप सुने तन ही ते हिये अभिलापहि नाढ़े।
तादिन ते इत राधे उतै हरि आधे भयेनू नियोग के बाढ़े।
आपने आपने ऊचे अटा चढ़ि द्वारनि दोऊ निहारत ठाढ़े।

× × × —देव

सुन्दर रूप तिया मन जानकी लोक औ वेद की मेडन मेटी।
औरपुरी सुख सम्पति सो रजधानि सदा लडना सो लपेटी।
"सूर" किशोर बनाय बिरचि सनेह की नात न जात है मेटी।
केतकौ जौ सुख है ससुरारि तौ बाप को भौन न भूलति बेटी।

—सूर

पूर्वानुराग के दर्शनानुसार ४ भेद हैं—श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्ष।

श्रवण-दर्शन

किसी के गुण, रूप, शीलादि की प्रशंसा सुनकर चित्त में जो अनुराग उत्पन्न होता है उसे श्रवण कहते हैं। यथा —

तासु बचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोइ। प्रीति पुरातन लखै न कोई॥
सुमिरि सीय नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत।
चकित विलाकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

× × ×

सुन्दरता सुनि देव दुहूँ के रहै गुन सों गुहि के मन मोती।
लागे हैं देखिबे को दिन राति गिने गुरुहु नहि साति गोती।

नोती कहा हरि राधिका सो कहुँ नैकौ दई पहिचान जो होती।
नैन दुहूँ की दहै नितु देखे सुदेखे दगा निसि सोवनि कोती।

× × × —देव

सोहै दिनाय-दिनाय सखी इक वारक कानन आन वसाये।
जाौ की 'केशव' कानन ते कित हूँ हरि नैनि माझ निजाने।
लाज के साज धरेई रहे तव नैनन लै मनहीं सो मिलाये।
कैसी करो अब क्यो निकसोरी हरेई हरे हिय में हरि आये।

× × × —केशव

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द विलास विलोचन पेखे।
अम्बर पीत हँसे चपला छवि अम्बुद मेचक अद्ग उरेखे।
कामहुँ ते अभिराम महा मतिराम हिये निहचै करि लेखे।
तैं बरन्यो निज वैननि सो सखि मैं निज नैनन सो मनो देखे।

× × × —मतिराम

राधिका सो कहि आईजु तू सखि मानरे की मृदु मूरति जैसी।
ताछिन ते पद्माकर ताहि सुहात कछू नहि सूरति वैसी।
मानहुँ नीर भरी घन की छटा आँखिन में रही आनि उनैसी।
ऐसी भई सुनि कान कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी?

—पद्माकर

चित्र-दर्शन

जब किसी चित्ताकर्षक चित्र को देखकर हृदय में अनुराग उत्पन्न होता है, तो उसे चित्र दर्शन कहते हैं। यथा :—

बाहन ही में निहारत चित्त निहारत नाहि निहार की भूमें।
मोचित्र कौ मनि नोचि लख्यो नैन सुन्दर तो लै धरे घर घूमे।

भीतर भीति लिखी ललिता चलि ताग्रह आँगिन आनँद झूमे।
मित्र चरित्र विचित्र चितै चलि चित्र की मूरति चाहत चूमे।
होही भुलानी कि भूलो सबै कोई भूल को मन मदल लिख्यो सो।
भोजन पान भुलानो सबै सुख खोयो सवाद विषाद लियो सो।
चित्र भई हौं विचित्र चरित्र न चित्त छुट्यो अवरेख लियो सो।
चित्र लिख्यो हरि मित्र लिख्यो तब ते सिगरो व्रज चित्र लिख्यो सो।

× + × —देव

चित्र के मंदिर तें इक सुंदरि क्यों निकसे जिहि नैन नसा है।
त्यों पदमाकर खोलि रही दृग बोले न बोल अबोल दसा है।
मूरति प्रमद्द ते भृकुटि होत [illegible] जड़ [illegible] महा है।
मोहन मीत को चित्र लखें भइ चित्रहि सी तो विचित्र कहा है।

× × × —पद्माकर

मूरति मोहनी मोहन की लिखि धारी जहाँ सखियान की भीरें।
'बेनी प्रबीन' विलोकति राधिका चित्र लिखी सी भई तेहि तीरें।
जोरी कियोरी कियोर की देखि मराहि रही है गुपालि गँभीरें।
चित्त चितेरो रही चकि सी जकि एक ते द्वै गईं ह्वै तसवीरें।

—बेनी प्रबीण

सुनि चितिनि चित सारी आई। देखि चित्र रूप रही लुभाई।
सहस कला रूप हिये समाना। निरखि रूप चित चेत भुलाना॥
नैन लाइ मूरति सो रही। डोंभि न सकी प्रेम की गही।

—उसमान कवि (चित्रावली)

स्वप्न-दर्शन

जब किसी को [illegible] में देखकर अनुराग उत्पन्न होता है

मोहि पनै न ये हेहु विना कहि पूछै जो कोउ कहा कहौं जैसो।
आँखि मिहींचि दुरौं यही पाँचहि साँवरो सुन्दर और न ऐसो।
पाइ परो तू पलोटै न पाँइ बताइ दै को है कहाँ अब है सो।
हौं अपने दिग दृढ़ि थकी निसवासपनो सपनो यह कैसो।

× × × —देव

मोहन आये यहाँ सपने मुसुकात से खात विनोद सो वीरो।
उठी हुती परजंक में हौंहूँ उठी मिलिवे कहँ कै मन धीरो।
ऐसे में 'दास' निसासिनी दासी जगाई डुलाय किवार जँजीरो।
झूठो भयो मिलिबो ब्रजराज को एरी गयो गिरि हाथ को हीरो।

× × × —दास

सूने सकेत में सौंधे सनी सपने में नई दुलही तू मिलाई।
हाहूँ गयो पदमाकर दौरि सुभौंहैं मरोरति सेज लौं आई।
या मन की मन ही में रही जु समेटी लिया लै हिया सौं लगाई।
आँखें गई खुलि सोवी सुनै सखि हाय! मैं नीवी न खोलन पाई।

× × × —पद्माकर

प्रत्यक्ष-दर्शन

जब किसी को साक्षात् देखकर अनुराग उत्पन्न होता है, तब उसे प्रत्यक्ष दर्शन कहते हैं। यथा :—

बाल लतान में बालको बोल सुन्यो कहूँ सग सगीन को टेरत।
काहू कह्यो हरि! राधा यही, दुरि त्व जू देखि इतै सुख फेरत।
है तब ते पल एक नहीं कल लागत लो अभिलाषन घेरत।
बाढ़ी निकुंजहि नन्दकुमार घरीक में बार हजारक हेरत।

—देव

आई भली हो चली सखियान में पाइ गोविन्द के रूप की झाँकी।
त्यों 'पद्माकर' हार दियो गृह काज कहाँ अरु लाज कहाँ की।
हैं नख ते सिख लौं मृदु माधुरि बाँकी ये भौंहें बिलोकनि बाँकी।
आजु की या छवि देखि भटू अब देखिबे को न रह्यो कछु बाँकी।

× × × —पद्माकर

जब सो देखी मृग नयनि, भूल्यो भोजन पान।
निसिदिन जिय चिन्तत वहै, रुचत और नहिं आन।
मलय पवन तापत तनहि, फूल माल न सुहात।
चन्दन लेप उसीर रस, उलटो जारत गात।
हार धार तरवार से, सूरज सो वहि चन्द।
मन हो सुख दुख मय भयो, परे प्रानहू मन्द।
—भारतेन्दु हरिश्चंद (कर्पूर मंजरी)

मान वियोग *

अपने प्रेमी के अपराध की सूचना प्रगट करने के लिए प्रेयसी जो क्रोध प्रगट करती है, उसे मान कहते हैं। यथा :—

पान बिनु अधर अंजन बिनु नैन बड़े,
छो बिनुहार कछू और भेष भेवि रह्यो।
सारी मरगजी नाक नथ बिनु छूटे बार,
चढ़ि रहीं भौंहैं अरु मन महातेवि रह्यो।

* मान मोचन यथा —साम दाम अरु भेद करि, प्रनति उपना भाइ।
अरु प्रसंग विभ्रम यहै, मोचन मान उपाइ॥

साम = समझाना शीलता। दाम = छल, कपट, जाल। भेद = सखी सम्मति मिलाना। प्रनति = नम्रता। उपना = उदासीनता।

आनन रुखाई छाई पियराई रघुनाथ,
और तिय को मिलाप जिय अनेरखि रह्यो।
घरी चारि परम सुजान पिय प्यारी रीझि,
माने न मनायो मानिनी को मान देखि रह्यो।

मान तीन प्रकार का होता है—लघु, मध्य और गुरु।

लघुमान

पर-स्त्री दर्शन जनित मान को लघुमान कहते हैं। इसकी निवृत्ति केवल हास्य के द्वारा ही हो जाती है। यथा —

बैठे हते रँग रावटी में जिनके अनुराग रँगी ब्रज भूम्यो।
किंकिन काहू कहूँ झनकाइ सुझाकन काहू झरोखे है झूम्यो।
'देव' पर-तिय देखत देखि कै राधिका को मन मान सो घूम्यो।
बातें बनाइ मनाइ कै लाल हँसाइ कै बाल हरैं मुख चूम्यो।

× × × —देव

वाही के रँगी है रग वाही के पगी है मग,
वाही के लगी है सग आनद अगाधा को।
कहै पदमाकर न चाहै तनै नेकु दृग,
तारन तें न्यारो कियो एक पल आधा को।
ताहू पे गोपाल कछू ऐसे खेल खेलत हैं,
मान मोरिबे की रे खिबे की करि साधा को।
काहू प चलाइ चख प्रथम खिझावें फेरि,
बासुरी बजाई कै रिझाइ लेत राधा को।

—पद्माकर

मध्यमान

अन्य स्त्री प्रशंसा सूचक वाक्य श्रवण करने से जो मान उत्पन्न होता है, वही मध्यममान कहलाता है। यथा :—

बाल के संग गुपाल कहूँ निसि सोवत में सौति को नाम उठे पढ़ि।
यों सुनि कै परतानि परी तिय देव कहै इमि मान गयो बढ़ि।
जागि परी हरि जानी सिखी सी सोहैं प्रतीति करी चित में चढ़ि।
आँसुन सों संताप बुझ्यो अरु सासन सों सब कोप गयो कढ़ि।

× × × —देव

बैसरि की थोरी पै न भोरी है किसोरी यह,
याकी चित चाह राह ओर की मचैयो जिन।
कहै पदमाकर सुजान आगे आन तान,
आन की सुआन कै हिये यों लगैयो जिन।
जैसे अब तैसे सखि सोहन मनाइ ल्याईं,
तुम इक मेरी बात एती बिसरैयो जिन।
आजु की घरी ते जो भूलि हो भले हो स्याम,
ललिता को लै के नाउँ बाँसुरी बजैयो जिन।

—पद्माकर

गुरुमान

अपने पति को अन्य स्त्री में अनुरक्त समझकर प्रियतमा द्वारा जो मान सम्पादित होता है, उसे गुरुमान कहते हैं, इस प्रकार के मान का मोचन कहीं कठिनता से होता है। यथा —

मोति की माल गुपाल गरे लखि लाल कियो मुख रोष उजारो।
भौंहें भ्रमी करिकै अनंग निकस्यो रँग नैननि के मग न्यारो।
त्यों धरि देव निहोरि निहोरि दोऊ कर जोरि परयो पग प्यारो।
पी को उठाइ कें प्यारी कह्यो तुम ले कपटीन कौ काहि पत्यारो।

—देव

× × ×

नीकी की अनैसी पुनि जैसी होइ तैसी तऊ,
जोबन की झरतें न दूरि भागियतु है।
कहै पदमाकर उजागर गोविन्दजी पै,
चूकिगे कहूँ तो एतो रोष रागियतु है।
प्रेम-रस हाथ ले जगाये ले हिये सो हित,
पाइलै पहिरि चलु प्रेम पागियतु है।
एरी मृगनैनी तेरी पाइ लगी बेनी पाइ,
पाइ लगि तेरे फेर पाँइ लागियतु है।
निरखि नेकु नीको बनो, या कहँ नन्दकुमार।
सुभुज मेलि मेल्यो गरे, गज मोतिन को हार।

—पद्माकर

प्रवास-वियोग

जब पति कुछ काल की अवधि देकर परदेश को गमन करता है और इससे दम्पति को अत्यंत कष्ट होता है, उसे प्रवास वियोग कहते हैं। यथा :—

लाल विदेश सुचाल-वधू बहु भाँति परी विरहानल ही में।
लाज भरी गृह काज करै कहि देन परै न कहूँ कल ही में।

नाथ के हाथ पे हेरि हरा हिय लागि गई हिल की गल ही में।
आँखिन के अँसुवा लखि लोगनि लील लजीली लिये पल ही में ॥१॥
देव कहे बिन कन्त वसन्त न जाऊँ कहूँ घर बैठि रहौंगी।
हूक हिये पिक कूक सुने बिष पुंज निकुंजनि गुंजति भौंरी।
नूतन-तूलन के घन बेपन देखत जाती तो हौं दुरि दौरी।
यार बुरो मति मानो भलाइ लौं ह्वै हूँगी घोर निहारत बौरी ॥ २ ॥

—देव

साझ ही समेतैं दुरि बैठी परदानी देके,
थाक मोहि एवै या कलानिधि कसाई की।
कत की कहानी सुनि श्रवन सुहानी रैनि,
रंचक बिहानी या बसत श्रत धाई की।
वलके न आली नेकु पलकैं लगन पाई,
हरि गित गई नींद नैनन धौं आई की।
कुहू कहै कोकिल कुमति पे बयारे नैन,
जाल ह्वै के देखो ज्याल ज्वलित जुन्हाई की।

—पद्माकर

प्रसग विभ्रम जहाँ अकस्मात् भयपाते हुए कठ इत्यादि से लगाकर सुख अनुभव किया जावे। उदाहरण :—

थापनोई अपमान कियो पहिराइवे को मनिमाल मँगाई।
लै मिलई मिस सो कुसली करि पाय परेऊ न प्रीति जगाई।
केलिक कौतुक बातें कहीं करि देव तऊ तिय तोरी लगाई।
आजु अचानक आइ लता डरवाइ कै राधिका कंठ लगाई

प्रवास के दो भेद हैं :—भूत प्रवास और भविष्य प्रवास।

भूत-प्रवास

रैनि दिन नैनन में बहतो न नीर कहा,
करतो अनग को उमग शर चॅपतो।
कहै पद्माकर त्यों राग बाग बन कैसो,
तैसो तन ताय ताय तारापति तापतो।
कीन्हो जो वियोग तो सयोगहू न देतो दई,
देतो जो सयोग तो वियोग नहिँ थापतो।
होतो जो न प्रथम सयोग सुख वैसो वह,
ऐसो अब यो न तो वियोग दुख व्यापतो।
× × × —पद्माकर

काकू पगे कुबिजा के कलोननि डोलनि छोड दई हर भाती।
माधुरी मूरति देखे बिना पद्माकर लागे न भूमि सुहाती।
का कहिये उन सो सजनी यह बात है आपने भाग समाती।
दोष नसात को दीजे कहा उलहे न करीन की डारन पाती।
—देव

भविष्य-प्रवास

औसर और कहा समयो यह काज बिवाद ये कौन सी पावन।
त्यों पदमाकर धीर समीर झकोर भयो तपि कै तन तावन।
चेत की चांदनी चार लखे चरचा चलिबे की लगे जु चलावन।
कैसी भई तुम्हें गग की गेल में गीत मदारन के लगे गावन।
× × × —पद्माकर

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिये प्रान।
दीनबन्धु सुन्दर सुखद, सील सनेह निधान।
—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

रमा गमन सुनि शशि मुखी, भई दिवस के चन्द।
परखि प्रेम पूरण प्रगट, निरखि रहे नदनन्द॥

—पद्माकर

वियोग की एकादश दशा

प्रथम कहो अभिलाप बहुरि चिन्ता सुमिरन कहु।
ताते है गुन कथन बहुरि उद्वेगहि वरनहु।
फिरि प्रलाप उन्माद, व्याधि अरु जड़ता जानो।
बहुरि मरन यह भाँति अवस्था दस उर आनो।
ए होइ दून अनुराग में दोउन के कवि देव कहि।
अरु एक मरन बरनत न कवि जो बरनै तो रसहि गहि।

—भाव विलास

देवजी की सम्मति में वियोग की ये दश दशाएं है। प्राय कवि लोग मरण के स्थान में मूर्छा का वर्णन करते है। इसको सम्मिलित करने पर ग्यारह दशाएं होती है। उनमें से चिन्ता, जड़ता, व्याधि, सुमिरन और उन्माद का वर्णन सचारी भावो के साथ में हो चुका है। शेष छ का वर्णन नीचे करते है।

६—अभिलाप

प्रेमी तथा प्रेयसी की वियोगावस्था में परस्पर मिलने की प्रबल इच्छा अभिलाप कहलाती है। यथा —

पहिले मतराइ रिसाइ सखी जदुराइ पै पाइ गहाइयेतो।
फिरि मैंदि भटू भरि अक सिक यडे नवला उमगाइयेतो।

अपनो दुरा औरन को उपहास सबै कवि देव बताइयेतो।
घनश्यामहि नेकहु एक घरीको इहाँ लगि जो करिपाइयेतो।

× × × —देव

ऐसी मति होत अब कैसी करो आली वन,
माली के सिंगारवे सिंगारि वोई करिये।
कहै पद्माकर समाज तजि काज तजि,
लाज को जहाज तजि हरिवोई करिये।
घरी-घरी पल पल छिन छिन रैन दिन,
नैनन की आरती उतारिवोई करिये।
इन्दु तें अधिक अरविन्दु ते अधिक ऐसो,
आनन गोविन्द को निहारिवोई करिये।

× × × —पद्माकर

वारन दीजिये धीर हिये कुलकानि को आजु बिगारन दीजिये।
मारन दीजिये लाज सबै हरिचन्द कलंक पसारन दीजिये।
चतुर चवाइन को चहूँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिये।
छाँडि सकोच न चंद मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिये।

× × ×

चलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत आँखिन को कृपा आइ दिखाइये।
चातक सी मरैं प्यासी परी इन्हें पानिप रूप-सुधा कबौं प्याइये।
पीत पटे बिजुरी से कबौं हरिचंद जू धाइ इतै चमकाइये।
इतहू कबौं आइ कै आनन्द के घन नेह को मेह पिया बरसाइये।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (चन्द्रावली)

दृग अति अनुरागी श्यामली मूर्ति के हैं,
युग श्रुति सुनना हैं चाहते चारु तानें।
प्रियतम-प्यारे की लालसा भूरि द्वारा,
प्रतिपल अधिकाती चित्त की आतुरी है।
—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

७ गुण-कथन

वियोगावस्था में प्रीतम तथा प्रेमिका द्वारा जो गुण-गान होता है, उसे गुण कथन कहते हैं। यथा :—

दामिनि ह्वै, रहिये मन आवत मोहन को घन सावन घेरे।
ताही कौं देखिये री दिन-रातिहु कोई करो किनि कोटि करेरे।
स्याम की सुन्दरताई कहाँ कछु है कहि जो जीभ हजारन मेरे।
नैनन या छवि की सुखमा पर कोटि ससी गहि वारि के फेरे।

× × × —देव

खेलन गोरिन में मिलि के इतै आई ही हाल गुपाल कहाँ की।
कौन बिलोकि रह्यो पदमाकर या तिय की अवलोकनि बाँकी।
धीर अबीर की धूँरि में कछु फेर सो कै मुख फेरिके झाँकी।
कै गई काटि करेजन के कतरे कतरे पतरे करिहाँ की।

× × × —पद्माकर

बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी,
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यंत प्यार सँग थे मिलते सबों से,
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों में।

घर न सुहात ना सुहात बन बाहिरहू,
बाग ना सुहात जे खुसाल खुसबोही सो।
कहै पदमाकर घनेरे घन धाम त्यों हीं,
चन्द ना सुहात चाँदनीहू जोग जोही सो।
साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछु,
व्यापी यह बात सो बखानत हा तोही सो।
राति ना सुहात न सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सो।

—पद्माकर

१०—मूर्छा

वियोगावस्था में शरीर के दुख सुखादिकों के ज्ञान न रहने को मूर्छा कहते हैं —

ये हो नंदलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हालही चलो तो चलो जोरी जुरि जायगी।
कहै 'पदमाकर' नहीं तो ये झकोरे लगै,
ओरे ला अवाका बिन घोरें घुरि जायगी।
सीरे उपचारन घनेरे घन सारन को,
देखत ही देखो दामिनी लौं दुरि जायगी।
तो ही लग चैन जो ला चेती है न चन्दमुखी,
चेतैगी कहूँ जो चाँदनी में चुरि जायगी।

—पद्माकर

"मैं ही हूँ वह महानिन्द्य, अविनीत हा!
होगा मुझ-सा और कौन "अपनीत हा"!

यों कहकर दुष्यन्त वहीं पर गिर पड़े।
रह सकते थे भला कभी वे स्थिर खड़े।

—मैथिलीशरण गुप्त

११—मरण

जब पति-पत्नी के वियोग में संयोग की नितान्त आशा नहीं रहती, तो उसे मरण कहते हैं। यथा —

इन दुखियान को न चैन सपनेहु मिल्यो,
तासों अति व्याकुल बिकल अकुलायगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औधि प्रान,
चाहत चल्यो पै ये तो संग न समायगी।
देखो एक बारहू न नैन भरि ताहि या पै,
जौन जौन देस जैहैं तहाँ पछितायगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय!
मरेहू पै आँखि ये खुलीही रहि जाँयगी।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द

यहाँ पर मूर्छा और मरण का पृथक्त्व प्रदर्शित करने के लिए 'मिलने' की कोई आशा न होना ही मरण कह दिया है। वास्तव में कवि लोग मरणावस्था के वर्णन में रसाभास समझकर मरण के स्थान में मूर्छा का ही वर्णन कर देते हैं जैसा पहले कहा जा चुका है। यथा —

"मैन मरूँ करिकै [illegible] य चाहि घरी लौं मरी है धरी r"

किन्तु कविवर बिहारीलालजी ने इस नियम का उल्लघन कर दिया है। वे कहते हैं:—

कहा कहौं वाकी दशा, हरि प्रानन के ईस ।
बिरह ज्वाल जरिबो लखे, मरिबौ भयो असीस ॥

कविवर केशवदासजी ने शृङ्गार-रस के प्रच्छन्न और प्रकाश नामक ये दो भेद माने हैं .—

(१) प्रच्छन्न—जिसका भेद केवल नायिका-नायक और अन्तरङ्गा सखी-सखा जाने ।

(२) प्रकाश—जिसका भेद अपने-अपने चित्त में सब जाने ।

१—प्रच्छन्न-वियोग

कीट ज्यों काट त्यों कानन कान सो मानहि में कहि आवत क्यों ।
ताहि चले सुनके चुप ह्वै गये नीकही केशव एकहि दूनो ।
नेक अटे पट फूटत आँखि सी देखत हैं कबको ब्रज सूनो ।
काहे को काहू को कीजे परेखो सुजीजे रे जीनकिनाक दै चूनो ।

२—प्रकाशसयोग

एक समय हरि राधिका आसन एक ही संग लसे रँग भीने ।
आनँद सो तिय आनन की द्युति देखत दर्पण में दृग दीने ।
लाल के भाल में बाल बिलोकतहीं भरि लाजिन लोचन लीने ।
सासन पीय सवासिन सीय हुतासन मं मनु आसन कीने ।

—केशव

रस सामग्री द्वारा शृङ्गार-रस पर दृष्टिपात*

जो उदाहरण पूर्व पृष्ठों में दिये जा चुके हैं, यहाँ उनमें से कुछ मुख्य-मुख्य लेकर उन पर ही विचार किया जायगा।

---

*काव्य में छन्द को चरण अलंकार को हृदय तथा हाथ और मुख विभाव तथा अनुभाव को समझना चाहिए। स्थायी भाव नेत्र, सचारी भाव कान के समान हैं।

काव्य के चार भेद हैं —

(१) उत्तम—जिस वाक्य में रस, व्यंग की प्रधानता, अलंकार और अन्य कोई गुण हो वह उत्तम काव्य है।

(२) मध्यम—जिसमें रस, व्यंग-प्रधान, अलंकार और गुण हो, उसे मध्यम काव्य कहते हैं।

साधारण:

(३) साधारण काव्य सालंकार जिस वाक्य में रस, अलंकार और अन्य गुण हों परन्तु व्यंग न हो।

(४) जिसमें केवल रस और गुण दो ही हों, व्यङ्ग व अलंकार न हो, वह निरलंकार अथवा नग्न काव्य है।

इसके अतिरिक्त जिस काव्य में कोई रस नहीं वह नीरस और जिसमें कोई अर्थ नहीं वह मृतक है अतः वह काव्य नहीं। रस-सामग्री द्वारा किसी रस पर विचार करते ... उपर्युक्त विषयों पर भी ध्यान रख... अर्वाचीन प्रतीत होता

पहला उदाहरण

पृ० सं० २८३ सं० श्टं० छं० (१) करत बतकही पान।

यह छन्द दोहा नाम का है। इसके विषम चरणों में १३ और सम चरणों में ११ मात्राएं हैं। सन-मन शब्दों में अनुप्रास तथा मुख उपमेय, सरोज उपमान, छवि विषय और मकरन्द विषय दोनों विषय साथ देखे जाने से वस्तूत्प्रेक्षा उक्तास्पदा नामक अर्थालङ्कार है। पति और गति की शुद्धता के कारण माधुर्य्य गुण है। मन का सीताजी के रूप पर मोहित होना और अनुज से बतकही करना घटना अर्थात् वस्तु है, और आगे वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है। इसके द्वारा सीताजी पर रामचन्द्रजी का जो अनुराग व्यंजित हुआ, वही व्यंग है। सीताजी आलम्बन विभाव, उनका रूप उद्दीपन विभाव, छवि का पान करना अनुभाव, मति सचारी भाव और रति स्थायी भाव होने से शृंगार-रस है। सीता-राम के सयोग के कारण, सयोग शृङ्गार कहा जावेगा।

इस प्रकार शृंगार-रस, प्रधान व्यंग, उत्प्रेक्षालकार तथा माधुर्य-रस सम्पूर्ण सामग्री के प्रस्तुत रहने के कारण उत्तम काव्य हुआ।

दूसरा उदाहरण

पृष्ठ सं० २८४ संयोग-शृङ्गार उदा० ५

छूट्यो गेहकाज गागर उठाइबो। रसखान।

यह ३१ वर्ण का मनहर छन्द है। काज-लाज,-पैयाँ गैयाँ और बलैयाँ में वृत्यानुप्रास और 'कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो' में लोकोक्तिअलंकार है। प्रसाद गुण। चन्द्र का हाथ से न

छिप सकने से काकु द्वारा भेद का प्रकट होना व्यंजित किया गया है, अतः व्यंग है। इसी प्रकार गृह-काज इत्यादि छूटने से अत्यन्त आसक्ति ध्वनित होती है।

यहाँ पर नायिका तथा नायक आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि 'इन्हीं पर रस का अवलम्ब है। कालिन्दी तीर उद्दीपन विभाव है, क्योंकि यह एकान्त स्थल उन दोनों के प्रेम को उद्दीप्त करता है। मृदु मुसक्यानि भी उद्दीपन है। पैयाँ पड़ना इत्यादि कायिकानुभाव है। मोह-सचारी भाव है, क्योंकि नायिका और नायक को अपने अपने काम का स्मरण न रहा। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के सम्मेलन से रति स्थायी हुई, अत. शृङ्गार-रस है। नायिका तथा नायक परस्पर एक दूसरे की बलैयाँ ले रहे हैं, पैयाँ पड रहे हैं, इसलिये सयोग-शृङ्गार हुआ। सम्पूर्ण छन्द पर विचार करने से यह उत्तम काव्य है।

तीसरा उदाहरण

पृष्ठ २८६ वियोग शृङ्गार उदा० १—रा० च० मानस

यह चौपाई छन्द है, इसके प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएँ हैं। "नूतन किशलय मनहुँ कृशानू" में उत्प्रेक्षा अलकार, "काल निशा सम निशि शशिभानू" में आर्थी उपमा। इस प्रकार यहाँ उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की चमत्कारिक छटा है। प्रसाद गुण है। पुष्पों आदि का अग्नि इत्यादि कल्पित करने से अधिक व्याकुलता व्यजित होती है।

यहाँ पर सीता विभाव, कृशानु, निशि, शशि, भानु इत्यादि उद्दीपन महाराज

शृङ्गार में पूर्वानुराग समझना चाहिए, यह अनुराग नायक के चित्र दर्शन से उत्पन्न हुआ है, अतः चतुर्दर्शन में यह चित्र-दर्शन हुआ।

छठवाँ उदाहरण

पृ० २६५। मध्यमान। उदा० १—देव

यहाँ नायिका तथा नायक आलम्बन विभाव है, क्योंकि यह रस के अवलम्ब है। सौति का नाम उद्दीपन है, क्योकि इसके द्वारा रस उद्दीप्त होता है। पट तानकर सोना, अश्रु तथा निश्वास यह कायिकानुभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस का अनुभव होता है। चिन्ता तथा विषाद-सचारी भाव हैं। उक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सम्मेलन से 'रति' स्थायी हुई है, इस प्रकार शृङ्गार-रस की सिद्धि हुई। और चूंकि मान द्वारा उक्त प्रेमी तथा प्रेमिका का कुछ घड़ी तक वियोग हुआ है, अत. वियोग-शृङ्गार हुआ। यह वियोग मान द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः मान वियोग कहना चाहिए। इस मान के होने का कारण नायक द्वारा अन्य स्त्री का नाम लिया जाता है, अत मध्यमान हुआ।

सातवाँ उदाहरण

पृ० २६८ भूत-प्रवास। उदा० १—पद्माकर

यहाँ नायिका तथा नायक आलम्बन विभाव हैं, क्योकि इन पर ही रस आलम्बित है। राग, बाग, वन तथा तारापति रस को उद्दीप्त करते हैं, क्योकि इनके द्वारा वियोग का कष्ट और

भी बढता है, अत उद्दीपन विभाव है। रात-दिन अश्रु प्रवाह का होना सात्विकानुभाव, प्रथम सयोग सुख सम्बन्धी स्मृति मानसिकानुभाव और पुराने सयोग की स्मृति तथा उस स्मृति द्वारा "सयोग तथा वियोग में से एक ही होना चाहिए था" ऐसा निष्कर्ष निकालने में स्मृति तथा मति सञ्चारी भाव हुए, इसी प्रकार वियोग से विषाद का होना विषाद संचारी है। बस, इन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के सयोग से "रति" स्थायी भाव स्थिर हुआ, अत यहाँ शृङ्गार-रस की सिद्धि हुई। वह शृङ्गार, वियोग शृङ्गार है, क्योकि यहाँ नायिका तथा नायक का पृथक् प्रवास निश्चित है, और वह प्रवास भूतकाल में हो चुका है, इसलिये वियोग शृङ्गारान्तर्गत भूत प्रवास नामक भेद निश्चित हुआ।

आठवाँ उदाहरण

पृष्ठ २९९। भविष्य प्रवास। उदा० ३—पद्माकर

यहाँ नायिका (शशि-मुखी) और नायक (नँदनंद) आलम्बन विभाव हैं, क्योकि इनके द्वारा रस आलम्बित हुआ है। 'रमन ...मन' और 'पूरण-प्रेम' रस को उद्दीप्त करते हैं, अत. उद्दीपन विभाव हैं। 'दिवस का चन्द' होने से अभिप्राय कान्ति का फीका होना है, अत वैवर्ण्य-सात्विक भाव हुआ, इसी प्रकार निरखि रहे नंदनन्द' में [illegible] सात्विकानुभाव है। मोह तथा जड़ता सचारी भाव है, [illegible] नायिका का विपर्यय हुआ है और [illegible] कृष्ण कि

हना अनुचित न होगा कि मनुष्य की तरह हसनेवाला अन्य
णी कोई नहीं! क्योंकि पशुओं की हसी में बुद्धि की मात्रा
हीं है, और न उनके हसने के वैसे नियम ही है, जैसे मनु-
ा के। फिर भला कैसे कहा जा सकता है कि उनका यह जीव-
पयोगी द्रव्य उनसे अपहरण कर लिया जाय। मानव-समाज
म्बन्धी विनोद के नियम बड़े ही महत्व के है। वैद्यक विद्या
ानुसार स्वास्थ्य सुधारने के लिए हास्य परम प्रयोजनीय
स्तु है। हास्य मनुष्य के अनेकों कष्टों का विनाश करता है।
न्न-चित्त के मनोरंजन के लिए इससे उत्तम और सहज
यत्न दूसरा नहीं है। सम्पूर्ण दिन के अविश्रान्त तथा अनथक
रिश्रम जनित व्याधियों के दूर करने के लिए यह रामवाण
ौषधि है। यह रस मानवी-जीवन में एक प्रकार के नव जीवन
ा संचार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। यह दौर्बल्य,
न्द्र तथा आलस्यादि रोगों का विनाशक है। यही कारण है
के आदि कवि वाल्मीकजी, कविकुल गुरू-कालिदासजी तथा
हमारे हिन्दी कवि कुल-कमल-दिवाकर महात्मा तुलसीदासजी
भृति महाकवियों तक ने इसे आदरणीय समझ, उसे अपने

इसके अतिरिक्त नाटकों में हास्य-रस के पोषण के लिये 'विदूषक' का प्रवेश कराना आवश्यकीय ही नहीं किन्तु परमोपयोगी बतलाया गया है।

अब नीचे इस रस के उदाहरण दिये जाते हैं। उदाहरण —

कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद-बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट तन कोउ अति छीना॥
शिवहिं शम्भु गण करहिँ सिंगारा। जटा मुकुट अहि मोर सँभारा॥
कुंडल कंकण पहिरे व्याला। तन विभूति पट केहरि छाला॥
शशि ललाट सुन्दर शिर गंगा। नयन तीन उपवीत भुजंगा॥
गरलकंठ उर नर शिर माला। अशिव वेष शिवधाम कृपाला॥
कर त्रिशूल अरु डमरु विराजा। चले वृषभ चढ़ि बाजहिं बाजा॥
देखि शिवहिं सुरतिय मुसकाहीं। बर लायक दुलहिन जग नाहीं॥
विष्णु कहा अस विहँसि तब, बोलि सकल दिशिराज।
विलग विलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज।
बर अनुहार बरात न भाई। हँसी करइहौ पर पुर जाई॥
विष्णु वचन सुनि सुर मुसकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने॥
जस दूलह तस बनी बराता। कौतुक विविध होइ मग जाता॥
शिव समाज जब देखन लागे। बिडर चले बाहन सब भागे॥

× × ×

सुनि सुनि वचन लखन मुसकाने। बोले परशुधरहि अपमाने॥
बहु धनुहीं तोरे लरिकाई। कबहुँ न अस रिस कीन्ह गुसाईं॥
इहि धनु पर ममता केहि हेतु।
बिहँसि लषण बोले मृदुबानी। अहो मुनीश महा भट मानी॥

या तो कहुँ कोई बहुरूपिया तलास कर,
मीख लेतीं हम सन कूबर बनाइवो।
—ग्वालकवि

हँसि-हँसि भजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै पदमाकर सु काहू सों कहै को कहा,
जोई जहा देखै सो हसेई तहाँ राह में।
मगन भयेई हँसै नगन महेश ठाडे,
और हँसे एऊ हँस-हँस के उछाह में।
सीस पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसैं,
हँस ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में।

× × ×

लोचन असम अंग भसम चिता को लाय,
तीनों लोक नायक सों कैसे के ठहरतो।
कहै पदमाकर बिलोकि इमि ढग जाके,
वेदहू पुराण गान कैसे अनुसरतो।
बाँधे जटाजूट बैठे परवत कूट माँहि,
महा कालकूट कही कैसे के ठहरतो।
पीवे नित भंगै रहै प्रेतन के संगै ऐसे,
पूछतो को नंगै जो न गंगै शीश धारतो।
—पद्माकर

कबै आप गये थे विसाहन बजार बीच,
कबै बोलि जुलहा बुनाये दरपट से।
नन्दजी की कामरी न काहू वसुदेवजी की,
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कटि से।

मोहन भनत यामें रावरो बड़ाई कहा,
राखि लीन्ही आनि बानि ऐसे नटखट में ।
गोपिन के लीन्हे तब चीर चोरि-चोरि अब,
जोरि-जोरि लागे द्रौपदी के पटसे ।
—मोहन

रूप में कसर नाहि राग में कसर नाहीं,
लाग में कसर नाहि लाजहु की घेरी है ।
रंग में कसर न कसर है उमंगहु में,
प्रण के प्रसन्नहु में परम उजेरी है ।
"ग्वाल" कवि हास में न भाव में कसर यहाँ,
चाव में कसर न चलाक चहुँतेरी है ।
तीन हू जगत उधों ! काहू के न कूबर यों,
नाइन न जाति अरु काहू की न चेरी है ।
—ग्वालकवि

सूम पतनी सों कहै सुनु सपने की बात,
अकथ कहानी गात रोम-रोम हारतो ।
चौकी में परो हो जिमि गाड के धरतो ताहि,
मन में विचारि मेरी हाय के निहारतो ।
इतने में आयो कविराज एक ताहि समै,
पढ़ो तो कवित्त मैं तो ऐसो अनुमारतो ।
होतो कुल नाम बड़े नैनन के भाग अरी,
जाग न परे तो मैं रुपैया देइ डारतो ।
× × ×
पोर के निहार देत घर सबै गारि देत,
माजुन के, दोष देत प्रीति ना चहत हैं ।

मगन को ज्वाब देत जाचक कहँ रोइ देत,
लेत-देत भाँज देत ऐसे निबहत हैं।
मागेहु पै नन्द देत नारनकी गाठि देत,
परदनि की काछ देत देतई रहत हैं।
एतेहु पै सबै कहैं दाऊ कछू देत नाहीं,
दाऊजू तो आठों जाम देतई रहत हैं॥

× × ×

जोबन रूप बिसाल रह्यो बहु मोजकरी हम तासन में।
चन्द्रमुखी मृग नैनिन के नितही अधरामृत चाखन में।
हाय जरा तरसाय रही जिय लाखनहू अभिलाखन में।
काम रह्यो रस भाखन में अरु हौंस रही इन आखन में॥
चन्द्रमुखी जोई घेरे रहैं नहिं देर करैं मन राखन में।
हाय बुढ़ाप में नाना कहैं अरु देत उड़ाय मजाखन में।
बार भये सित गाल गये पचि देखि लजात सनाखन में।
या तन एकहु सार नहीं तउ हौंस रही इन आखन में॥

× × ×

पाय के पाग सिंदोरन ओढ़ हैं बैठि सभा में बने अलबेला।
धोती किनोरी की सारी सी ओढ़त पेटनढाय कियो जस थैला।
'ब्रजगुपाल' बखानि कहै सुनो भूप बहाय बने फिरै छैला।
सानि करैं बड़ी माहिनी की अरु दान में देत न एक अधेला॥

× × ×

वेद को वेद गुनी को गुनी ठग को ठग ठूमक को मन भावै।
काग को काग मराल मरालको काँध गधा को गधा खुजलावै।
'कृष्ण' भन बुध को बुध त्यों अरु रागी को रागी मिलेसुरगावै।
ज्ञानी सो ज्ञानी करै चरचा लबरा के ढिंगा लबरा सुखपावै॥
फिर लग गई मालचली बाबर के हलके,
भये हमारे ग्राह गई जिनके सँग घलके।

अकबर करी अजाच जहाँगिर भात खवायो,
शाहजहाँ समरत्थ पीठ को भार छुड़ाया।
नन्दन वन विहरत रही भागी फिरैं सियार डर,
परिवार यार उद्धार करि अब आईं कवि 'लाल' घर ॥

रति वन्दा कर जोरि कै, सुनत श्याम के बैन ।
भये हँसौंहैं सबनि कै, अति अनखौंहैं नैन ॥
दोना पात बँवर को, तामें तनिक पिसान ।
रामा जू करने लगे, छठें छमासे दान ॥
परतिय दोष पुरान सुनि, हँसि मुलकी सुख दानि ।
कस कर राखी मिश्रहू, मुहि आई मुसकानि ॥
चित पितु घातक दोष लखि, भयो भये सुत सोग ।
फिरि हुलसी जिय जोयसी, समझी जारज जोग ॥
कर मूसर नाचत नगन, लखि हलधर को स्वाँग ।
हसि हँसि गोपी फिरि हँसै, मनहु पिये सी भाँग ॥
अति उदार करतूतिदार सब अवध पुरी की वामा ।
खीर खाय पैदा सुत करतीं पति कर कछु नहि कामा ॥
सखी वचन सुनतहि रघुनन्दन बोले मृदु मुसकातं ।
अपनी चाल छिपावहु प्यारी कहहु आनकी बातैं ॥
कोउ न जनमें मातु पिता बिनु बँधी वद की नीती ।
तुम्हरे तो महि से सब उपजे यह हमरे नहिं रीती ॥
यह सुनि भरत लषण रिपुसूदन हँसे सकल दै तारी ।
सिद्धि आदि सब राजकुमारी तेउ अति भइ सुखारी ॥

बापाजी बुलाय बीर हू गरा के ढाकरा नें,
जमन को आसन बंधन पे बिठायेरी ।

ओड़े ओड़े ऊदला महेरी के सपोटि गये,
भारि गये कोग रोटभाल भरे सायेरी।
ओडो न गजर भत्त नेवहू मँडोरिया में,
राँथि-राँथि रूखी दरभुजिया अघायेरी।
मतन के रेवड जो चमरा चरावत है,
शंकर सो वानेवन्द चेंडुआ कहायेरी॥

—शंकर

आठ मास बीते जिजमान, अनतो करो दच्छिना दान। हरि गगा॥
आजु कालिह जो रुपिया देउ, मानो कोटि यज्ञ करिलेव। हरि गगा॥
मागत हमको लागे लाज, पर रुपिया बिन चलै न काज। हरि गगा॥
जो कहुँ देहो बहुत खिझाय, यह कौनिउ भलमसी आय। हरि गगा॥
हँसी खुसी से रुपिया देव, दूध पूत सब हमसे लेव। हरि गगा॥
कासी पुन्न गया में पुन्न, बाबा बैजनाथ में पुन्न। हरि गगा॥

—प्रतापनारायण मिश्र

शब्दशास्त्र है किसका नाम, इस झगड़ेसे जिन्है न काम।
नहीं विराम चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है॥
इधर-उधर से जोड़-बटोर, लिखते हैं जो तोड़-मरोड़।
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं॥
भला-बुरा छपवाये सिद्ध, धन न सही नाम ही प्रसिद्ध।
नाटक उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं॥
जिनके नाच-कूद का सार, बँगला भाषा का भंडार।
वेही महामहिप विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं॥
ग्रन्थकार गुण-गण निःशेष, गान नहीं कर सकता शेष।
इसीलिये हम इस वर्णन को आगे नहीं बढ़ाते हैं॥

हे हे अ यकार गुणग्राम, हे समर्थ, हे पावन नाम।
शतयोजन से हम यह अपना मस्तक तुम्हें झुकाते हैं॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

चली जा रस्ते रस्ते यहाँ जोगी अलमस्ते।
भागा चेली गुडकी भेली में जोगी अवधूत।
यहाँ फ़कत है कफनी सेली सिंगी और बिभूत॥
चली जा नाले नाले, कि जिससे पूछ न हाले।
करा घर में गुलछर्रे, यहाँ से बोला भर्रे।

× × ×

न उठती मुँह से मौत का नाम लो, कहाँ मौत? मत मौत का नाम लो।
बहुत तुमपे हैं मरनेवाले यहाँ, तुम्हारी है मरने की बारी कहाँ?
बहुत बहकी-बहकी न बातें करो, न साये से तुम आप अपने डरो।
जरा मुँहपे पानी के छींटे लगाव, यह सब रात भर की खुमारी मिटाव।

× × ×

तुम्हारी ही ख़ातिर हैं छत्तीस भोग, कि लट्टू हैं तुमपे जमाने के लोग।
जो हैं चाहते उनपे रीझो रिझाव, कोई कुछ जो बोले कहे सो सुनाव।
वही पहनो जो कुछ हो तुमको पसन्द, कसो और भी चुस्त महरम के बन्द।
कमर और कलियों का पाजामा चुस्त वह धानीदुपट्टा वह नकामिक दुरुस्त।
वह दाँतों में मिस्सी घड़ी पर घड़ी रहो आप आईने ही से लड़ी।
कड़े से कड़े को बजाती फिरो, वह नोकों अदायें दिखाती फिरो।

—बालमुकुन्द गुप्त

तुम्हारे भाई बेचारे, जुए में जो सब कुछ हारे।
विपिन में दीन भाव धारे, भटकते हैं मारे मारे।
न जाने कैसे हैं वे लोग, यहाँ हम करते हैं सुख भोग।
खबर लें उनकी चलो जरा, कि वन में होगा हृदय हरा।

ओढे ओढे ऊदला महेरी के मपोटि गये,
भारि गये भोर रोटफाल भरे सायेरी।
ओडो न गजर भत्त नेकहू नॅदोरिया मे,
रौंधि रौंधि रूखी दरभुजिया अघायेरी।
मतन के रेवड जो चमरा चरावत है,
शकर सो वानेवन्द वेदुआ कहायेरी॥

—शकर

आठ मास बीते जिजमान, अनतो करो रच्छिना दान। हरि गगा॥
आजु काल्हि जो रुपिया देउ, मानौ कोटि यज्ञ करिलेव। हरि गगा॥
मागत हमको लागै लाज, पर रुपिया बिन चले न काज। हरि गगा॥
जो कहुँ देहो बहुत खिझाय, यह कौनिउ भलमसी आय। हरि गगा॥
हँसी खुसी से रुपिया देव, दूध पूत सब हमसे लेव। हरि गगा॥
कासी पुन्न गया में पुन्न, बाबा बैजनाथ में पुन्न। हरि गगा॥

—प्रतापनारायण मिश्र

शब्दशास्त्र है किसका नाम, इस झगडेसे जिन्हे न काम।
नहीं विराम चिह्न तक रखना जिन लोगो को आता है॥
इधर-उधर से जोड-बटोर, लिखते हैं जो तोड-मरोड।
इस प्रदेश मे वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं॥
भला-बुरा छपवायें सिद्ध, धन न सही नाम ही प्रसिद्ध।
नाटक उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते है॥
जिनके नाच-कूद का सार, बँगला भाषा का भडार।
वेही महामहिप विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं॥
ग्रन्थकार गुण-गण निशेष, गान नहीं कर सकता शेष।
इसीलिये हम इस वर्णन को आगे नहीं बढाते हैं॥

सुनि नन्दनन्दन की रसीली उक्ति युक्ति भरी,
हँस वह बोली गिरा नित्य ही जो न्यारी है।
"गर्व न जनाओ श्याम ! नाँय कर शैल धरे,
राधिका का अंग छूने यह शक्ति ना तुम्हारी है ?"
ललिता की चातुरी से लज्जा और हर्ष भरी,
युगलकिशोर जोडी रक्षक हमारी है।
—मैथिलीशरण गुप्त

× × ×

बैल बाँधि याहन बसन का गयन्द खाल,
भाग औ धतूरे का पसारि देत अचले।
घर को हवाल यहै शंकर की बाल कहै,
लाज रहे कैसे पूत मोदक को मचले।
—सूदन

× × ×

अर्जुन को यों उत्तर देकर उत्तर रथ से उतर भगा।
तब वे उसे पकडने दौडे मन में कुछ कुछ क्रोध जगा।
तत्क्षण दुर्योधन के दल में अट्टहास यों भास हुआ।
चंचल करता हुआ जलधि को मानो इन्दु विकास हुआ।
—मैथिलीशरण गुप्त

रस सामग्री द्वारा हास्य-रस पर दृष्टिपात ।

पृष्ठ ३१७ उदाहरण १

यहाँ महादेवजी के गण आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि उनको देखकर हँसी आती है। उद्दीपन उनके शरीर की असम्बद्धता, कुरूपता और विकृति इत्यादि हैं, क्योंकि इनके

यहाँ है निर्मल नीर भरा, और मृगया के योग्य धरा।
शकुनि की सुनि यो गूढ गिरा, हँसा दुर्योधन हठी निरा।
"खबर की तुमने खूब कही, उचित है मामा हमें यही।
पिता की आज्ञा किन्तु रही, वहाँ मृगया ही मुख्य मही।"
कर्ण ने कहा —"धन्य लक्ष्मी, एक ढेले में दो पक्षी"।
निकट यह तीन तिकट मिलके, हँसा फिर खिल-खिल कर खिलके।

—मैथिलीशरण गुप्त (वन वैभव)

यमुना किनारे शिला ऊपर प्रसन्न चित्त,
बैठा रेख एकनार राधासुकुमारी को।
छिपे-छिपे श्याम आये मूँदने प्रिया के दृग,
होगई परन्तु ज्ञात सारी बात प्यारी को।

तब हँस बोली "चलो देखी चतुराई" रहो,
ऊँचे कियेहाथ तथा भेंटने बिहारी को।

× × ×

हिले-डुले वे बहुत कुछ चला न एक प्रबन्ध,
दो दो दृग रहते हुए कौन बनेगा अन्ध?

× × ×

थे शिवके दो गण वहाँ विदित जिन्हें था भेद,
बोले वे हँसकर वचन उनको देख सखेद।
"कौन देश के हैं भला आप विलक्षण भूप?
देखो तो जाकर जरा दर्पण में निज रूप"!

× × ×

बोले गिरधारी राधिका को देखि ललिता से,
"तू भी दे सहारा सखी! शैल बड़ा भारी है"।

नहीं, मुसकराना अनुभाव है। हर्ष तथा चपलता इत्यादि, सचारी भाव है, क्योकि इनका रस में सर्वत्र सचार है। बस उक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के सयोग से "हास" स्थायी हुआ, अत हास्य रस सिद्ध हुआ।

पृष्ठ ३१७, पक्ति १२

यहाँ शिवजी का समाज आलम्बन विभाव है, क्योकि हसी का कारण वही है। विष्णु के वचन उस हास को उद्दीप्त कराते हैं, इसलिये उक्त वचन उद्दीपन विभाव है। सकल दिशिराज को बुलाना, विलग विलग होकर चलने को कहना तथा यह कहना कि "हसी करइहौ पर पुर जाई" अनुभाव है, क्योकि इनसे हास्य का अनुभव होता है। इन सम्पूर्ण बातों में हर्ष सचार कर रहा है। अर्थात् विष्णु ने लोगों के हर्षित करने, शिवजी के हर्षित करने तथा स्वय हर्षित होने के लिये ही उक्त वचन कहे हैं, अत हर्ष-सचारी या व्यभिचारी भाव हुआ। विष्णु महाराज के कहते ही लोगों ने अपना-अपना समाज पृथक् पृथक् कर लिया, इसलिये यहाँ उत्सुकता-सचारी भी है। इस प्रकार आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के सयोग से "हास" स्थायी हुआ। अत यहाँ हास्य रस की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३१८, पक्ति ७

यहाँ परशुराम जी महाराज आलम्बन विभाव हैं, क्योकि उन पर ही हास्य का अवलम्ब है। लक्ष्मणजी की ऊट पटाग

आरा हँसी उद्दीप्त होती है। उनकी उक्त दशाओं द्वारा उत्पन्न मध्योच्चस्वर से हसना जो हास्य का अनुभव कराता है अनुभाव तथा हर्ष-संचारी भाव हैं। इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के मिलने से "हास" स्थायी हुआ, अत हास्य रस है।

पृष्ठ ३१७ पक्ति १२

यहाँ शिवजी आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि उनके कारण ही देव स्त्रियाँ मुसक्याई हैं। उनके विचित्र शृङ्गार हैं। यथा—"जटा मुकुट तथा सर्पों का ही मौर है, कानों में सर्पों ही के कुण्डल हैं, सर्पों के ही ककणों से कर विभूषित हैं। तन पर विभूति लपेटी हुई है। व्याघ्र चर्म के वस्त्र हैं। ललाट पर चन्द्रमा है, शिर पर गंगा है, तीन नेत्र हैं, सर्पों का यज्ञोपवीत है, कंठ में विष और गले में नर-मुंड-माल सुशोभित है। हाथ में त्रिशूल और डमरू है। और आपकी सवारी में वृषभ है।" उक्त सम्पूर्ण दशाएँ हास्य को सुदृढ तथा पुष्ट करती हैं, क्योंकि अनहोनी सी बातें हैं। अशिव वेष तथा "वर-लायक दुलहिन जग नाहीं" यह अनुभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस का अनुभव होता है। अर्थात् प्रथम तो यह कहा गया कि इनका नाम तो शिव (कल्याणकर्त्ता) है, किन्तु वेष अशिव अर्थात् अमगल रूप है, इससे हँसी का अनुभव हुआ। इसी प्रकार दूसरे वाक्य से ध्वनि द्वारा या व्यङ्ग द्वारा शिव की इतनी कुरूपता दिखाकर कि इनके योग्य ससार में कोई कन्या ही

अत यह सचारी भाव हैं। रस इन विभाव, अनुभाव, सचारी भावो के सयोग से 'हास' स्थायी हुआ। अत यहाँ हास्य-रस है।

पृष्ठ ३२०, पक्ति २१

यहाँ कृष्ण आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि इन पर ही रस आलम्बित हुआ, यदि यहाँ श्रीकृष्ण का आधार न होता तो रस ही आलम्बित न होता। "आप बाजार में कर विसाहने गये थे ?", 'आपने पटों के बुनने के लिये जुलाहे कब बुलाये थे' ?, 'नन्दजी के पास तो एक कमरी भी नहीं हे" ? और 'नन्दजो केवल तीन हाथ की पटुकी लपेटे रहते हे'—इन वाक्यो से हास्य सुदृढ़ होता है और यही वाक्य उक्त हास्य को उत्पन्न करनेवाले हे। अत यह उद्दीपन विभाव हुए। "गोपियो के चीर चुरा चुराकर द्रौपदी के चीर में जोड दिये, इनमें आपकी क्या वडाई है" ? यह वचन अनुभाव हैं। क्योंकि इनसे रस का अनुभव होता हे। 'हर्ष' इस रस में सचार कर रहा है, अत यह सचारी भाव हे। वस उक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भाव मिलकर 'हास' को स्थायी करते है, अत यहाँ पर "हास्य-रस" की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३२२ उदाहरण २

यहाँ बुड्ढा (वक्ता) उद्दीपन विभाव हे, क्योंकि विना उसके रस का आलम्बन नहीं हो सकता। बुड्ढे के असगत वचन यथा 'चन्द्र-मुखी घेरे रहें 'मजाखन में उडावे' इत्यादि

बातें हास्य को उद्दीप्त करती हैं, लक्ष्मणजी का यह कहना कि "बहुत उडावन फूँकि पहारा" "इहाँ कुम्हड बतियाँ कोउ नाहीं", "देखि कुठार शरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना" इत्यादि वचनों को सुन सुनकर हास्य अति सुदृढ़ होता है। लक्ष्मणजी का हँसकर बोलना, "मारत हूँ पाँ परिय तुम्हारे" इत्यादि वचन जो हास्य का अनुभव कराते हैं अथवा उपरोक्त विभावों के कार्य-स्वरूप हैं, अनुभाव हैं। हर्ष (जो उनके वचनों द्वारा उपस्थित जन-समूह के मानस में तरंगित होने लगा), चपलता (जो लक्ष्मणजी के कथन में पद-पद पर प्रदर्शित होती है) और "गर्व" यह सचारी भाव हैं, क्योंकि सम्पूर्ण रस में वह सचारित हो रहा है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "हास" स्थायी भाव हुआ। और "हास्य-रस" की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३१६, पंक्ति १६'

यहाँ ऊधो के यार (कृष्ण) आलम्बन विभाव है, क्योंकि कृष्ण पर ही रस का अवलम्ब है। गोपियों के वाक्य जो उन्होंने व्याज से कहे हैं, यथा—कृष्ण को कहा, वह बडे "रिझवार" हैं—यह उद्दीपन विभाव है ? 'नीके' श्याम कहना भी उद्दीपन विभाव है। "पीठ पर एक-एक हाँडी बाँधि" " बहुरूपिया बुलाय सीख लेती कूबर बनाइबौ" इत्यादि वचनों से हास्य का अनुभाव होता है, अत यह अनुभाव हुए। उक्त वाक्यों में हर्ष और चपलता का सर्वत्र संचार हो रहा है,

सञ्चारित होने के कारण सचारी भाव है। अत उक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सम्मेलन से 'हास' स्थित हुआ, और इस प्रकार 'हास्य रस' की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३२६, उदाहरण २

यहाँ राधिका तथा कृष्ण आलम्बन विभाव ह, क्योकि उन पर रस का अवलम्बन है। यदि उक्त दम्पति न होते तो रस के लिये कोई कारण हो न था। श्याम का छिपकर प्रिया के दृग मूदने को जाना तथा प्रिया का इस कृत्य को जान लेना उद्दीपन विभाव हैं, क्योकि इससे रस उद्दीप्त होता है। "चलो देखी चतुराई रहो" यह वाक्य अनुभाव है, क्योकि इससे रस का अनुभव होता है। 'हर्ष' इस छन्द मे सर्वत्र सचार कर रहा है, क्योकि 'कृष्ण का वहाँ जाकर राधिका की आँखें बन्द करने के इरादे म', 'राधिका के उक्त भेद जान लेने में' और 'राधिका के उत्तर देने में' सर्वत्र ही उसकी तरगें उठ रही हैं, अत. ये सचारी भाव है। बस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के सयोग से 'हास' स्थायी हुआ। अत यहाँ 'हास्य रस' है।



वाक्य रस को दृढ करते है, अत यह उद्दीपन विभाव है। "था मन एक हुलास नहीं, तउ हांस रही इन ऑखिन में" इस वाक्य से हास्य का अनुभव होता है, अतः यह अनुभाव है, 'हर्ष' और 'उत्सुकता' उक्त छन्द में सर्वत्र सचारित है, क्योंकि बुड्ढे की बातें आमोद-प्रमोद का ज्ञान कराने ही का लक्ष्य लेकर कथित हुई है, साथ ही उसकी बातों में उत्सुकता तथा चपलता की भी मात्रा है, अत. यह सब सचारी भाव हैं। बस इन सम्पूर्ण विभाव, अनुभाव, सचारी भावों के सयोग से 'हास' स्थायी भाव हुआ, और इस प्रकार 'हास्य-रस' की सिद्धि हुई।

पृष्ठ ३२४ उदाहरण १

यहाँ बाबाजी आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन पर ही रस का अवलम्ब है, यदि यह न हों तो न कोई झोर-सपोटै और न हास स्थित हो। 'बछेला का आसन बिछाना', ओड़े-ओड़े ऊदला महेरी के सपोट जाना'—'झोर का झार जाना', 'रोटियों की झाल खा जाना' तथा 'दरमुजिया को रूखा ही चबा जाना' इत्यादि भीषण कार्य ही उक्त हास्य को दृढ करते हैं, अत. यह उद्दीपन विभाव हैं। 'शंकर सो बानेवन्द बेदुआ कहाये गे' यह वाक्य अनुभाव है, क्योंकि रस का अनुभव कराते है। अर्थात् बाबाजी जैसे लोगों के कार्य बतलाकर उनके बेंदुए बनने का जो मजाक उड़ाया गया है, उसका अनुभव इसी वाक्य से होता है। 'हर्ष' इस रस में सर्वत्र

यह सब भा इन आँखिन आगे । तउ न तजत तन जीव अभागे ॥
मोहि न लाज निज नेह निहारी । राम सरिस सुत मैं महतारी ॥
जियइ मरव भल भूपति जाना । मोर हृदय सत-कुलिस समाना ॥

कौसिल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनवास ।
ब्याकुल बिलपत राज गृह, मानहुँ सोक निवास ॥

हा जगदीस देव रघुराया । केहि अपराध बिसारेउ दाया ॥
आरत हरण शरण सुख दायक । हा रघुकुल-सरोज दिन नायक ॥
हा लछमण तुम्हार नहिं दोषा । सो फल पायउँ कीन्ह जो रोषा ॥
कैकेयी मन जो कछु रहेऊ । सो बिधि आजु मोहिं दुख दयऊ ॥
पंचवटी के खग मृग जाती । दुखी भये बनचर बहु भाँती ॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही । भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही ॥
बिपति मोर को प्रभुहि सुनावै ।
पुरोडास चह रासभ खावा ।

× × ×

सीता कर बिलाप सुनि भारी । भये चराचर जीव दुखारी ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरष सकल पाइ जनु राजू ॥
किमि सहि जात अनख तोहिं पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥
एहिबिधि बिलपत खोजत स्वामी । मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥

फणि मणिहीन दीन जिमि, मीन हीन जिमि बारि ॥
तिमि ब्याकुल भये लखण तहँ, रघुबर दसा निहारि ॥

× × ×

तहाँ राम लछमणहि निहारी । बोले बचन मनुज अनुहारी ॥
अर्धराति गइ कपि नहिं आया । राम उठाइ अनुज उर लाया ॥

उनकी प्रिय वस्तुओं का दर्शन, उनके गुणों, स्वभाव तथा रंग, रूपादि का स्मरण व मनन करना इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। रुदन करना, मूर्छित होना, शिर धुनना और छाती धुनना इत्यादि कार्य अनुभाव हैं। भाग्य तथा विधाता की निन्दा करना पश्चात्ताप करना और विलाप करना इत्यादि संचारी भाव हैं, और शोक इसका स्थायी भाव है। इसका रंग कबरा कबूतर सा होता है और देवता वरुण है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

सहम सूख सुनि शीतल बानी। जिमि जवास पर पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय विषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि-नादू॥
नयन सजल तन थर-थर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु मापी॥
चलत राम लखि अवध अनाथा। विकल लोग सब लागे साथा॥
लागत अवध भयावन भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥
घोर जन्तु सम पुर नर नारी। डरपहि एकहि एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जम दूता॥
बागन बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
रामराम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल व्याकुल भारी॥
देखि दखिन दिशि हय हिहिनाहीं। जनु बिनुपंख बिहँग अकुलाहीं॥

नहिं तृन चरहिं न पियहिं जल, मोचहिं लोचन वारि॥
× × ×
रथ हाँके हय राम तन, हेरि-हेरि हिहनाहि।
देखि निषाद विषाद बश, शिर धुनि-धुनि पछिताहि॥

जासु वियोग विकल पशु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीवहि कैसे॥
रामलषण सिय बनहि सिधाये। गई न संग न प्राण पठाये॥

यह सब भा इन आँखिन आगे। तउ न तजत तन जीव अभागे॥
मोहि न लाज निज नेह निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥
जियत मरब भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

कौसिल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनवास।
व्याकुल बिलपत राज गृह मानहु सोक निवास॥

हा जगदीस देव रघुराया। केहि अपराध बिसारेउ दाया॥
आरत हरण शरण सुख दायक। हा रघुकुल-सरोज दिन नायक॥
हा लछमण तुम्हार नहि दोषा। सो फल पायउँ कीन्ह जो रोषा॥
कैकेयी मन जो कछु रहेउ। सो बिधि आजु मोहि दुख दयउ॥
पञ्चवटी के खग मृग जाती। दुखी भये बनचर बहु भाँती॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही॥
बिपति मोर को प्रभुहि सुनावै।
पुरोडास चह रासभ खावा।

× × ×

सीता कर बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं॥
एहि बिधि बिलपत खोजत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

फणि मणिहीन दीन जिमि, मीन हीन जिमि बारि॥
तिमि व्याकुल भये लखण तहँ, रघुबर दसा निहारि॥

× × ×

जहाँ राम लछमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुहारी॥
अर्द्धराति गइ कपि नहिं उठाइ अनुज उर लाया॥

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बन्धु सदा तुव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेउ पितु-माता। सहेउ विपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु बिलोकि मोर विकलाई॥
जो जान्यो वन बन्धु बिछोहू। पिता वचन नहिं मनतेउँ वोहू॥
सुत बित, नारि भवन परिवारा। होहि जाहि जग बारहि बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलहि न जगत सहोदरभ्राता॥
यथा पंख बिनु खगपति दीना। मणि बिनु फणि करिवरकर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोहीं। जो जड़ दैव जियावै मोहीं॥
जैहौ अवध कवन मुख लाई। नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई॥

— तुलसीदास (रामचरित-मानस)

पुरतें निकसी रघुबीर बधू धरि-धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भालकनी जलकी पट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है चलनो व कितो पिय पर्णकुटी करिहो कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥
बूझत नन्द यशोमति बात कहौ कुसलात उतै दोउ भाई।
आवहिंगे कब आगम निवास उदास सखा सब लोग लुगाई।
पीत पटी सरले लकुटी कर या यमुना की तटी सुखदाई।
फेरि कहौ कब देखिहौ ऊधो या घर चारत धेनु कन्हाई॥
डोलत चाल मराल की चालन खेलत लाल फिरैं ब्रज खोरी।
सोहत माल विसाल हिये तन सोहत नील सो पीत पिछोरी।
माथ सजा सिर मोर पखा धरि हाथ नचावत हैं चक डोरी।
फेरि कहौ कब देखिहौ ऊधव स्याम लला बलराम कि जोरी॥

अरिहु दन्त तृण धरहिं ताहि नहि मार सकत कोइ।
हम सन्तत तृण चरहिं वचन उच्चरहिं दीन होइ।

अमृत पत्र नित श्रवहि चच्छ महि थम्भन जावहि ।
हिन्दुन मधुर न देहि कटुक तुरकहि न पियावहि ।
कह नरहरि सुनि साह पद विनवत गउ जोरे करन ।
केहि अपराध मोहि मारियतु मुयउ चाम सेवत चरन ॥

—नरहरि महापात्र

बतियाँ हुती न सपनेहूँ माहि सुनिबे की
सुन्यौ जो हुती न कहिबे की सो कहोई मैं ।
रावै नर-नारी पच्छी पसु देह धारी रोवैं,
परम दुखारी जासो सूलनि सहोई मैं ।
हाय अनलोकिबो कुपथहि गहोई निर,
हागिन दहोई सोक सिन्धुनि बहोई मैं ।
हाय प्रान प्यारे रघुनन्दन दुलारे तुम,
वन के सिधारे प्रान तन लै रहोई मैं ॥
जा घर कीन्हे विहार अनेकन ता घर काकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं ।
"आलम" जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
नैनन में जुसदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥

—आलम

' सदसो देवकी सो कहियो ।
हौं तो धाय तुम्हारे सुत की मया करत नित रहियो ।
जदपि टेव तुम जानत उनकी तउ मोहि कहि आवे ।
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन रोटी भावे ।
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भग जाते ।

जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करि-करि न्हाते।
'सूर' पथिक सुनि मोहि रैन दिन बढ्यो रहत उर सोच।
मेरा अलकलडैतो मोहन ह्वै है करत सकोच"।

—सूरदास

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा-हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥ ध्रुव॥
सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सब के पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सब के पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सब के पहिले विद्या फल जिन गहि लीनो।
अब सब के पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
जहँ भये शाक्य हरिचन्दरु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवन सेन पुनि भारी।
तिन नासी बुद्धि बल विद्या धन बहु बारी।
छाई अब आलस कुमति कलह अँधियारी।
भय अंध पंगु सब दीन हीन बिलखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हाहारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफ़त आई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

लक्ष्मी—

अब लो रही काऊ भाँतिन पै अब तौ रह्यौ न जाई।
सोमनाथ मथुरा थानेसर नगरकोट त भाई।
देव दुर्ग कासी कनौज दिल्ली सो बची बचाइ।
गई सरस्वतिजी आधार रही दुर्गा जो परम सहाई।
राजगिरी जो पालनि हारी और कईक तराई।
नाहिँ गई इत सौं मैं अब लौं लाख निरादर पाई।
पै अब ने खींचत निसि-बासर पच्छिम को अकुलाई।
दौरत रेल न थकत मोहि अरु सिन्धु जहाज अघाइ।
कल बल करि बल मोहिँ बुलावत तासो जात सिधाई।

—बद्री नारायण चौधरी

जिनके लरिका खेती करिकैं, पालैं मनइन के परिवार।
ऐसी गाइन की रच्छया मां, जो कछु जतन करो सो थार।
घास के बदले दूध पियावैं, मरि कैं देंइ हाड औ चाम।
धनि यह तन मन धन जो आवै, ऐसी जगदम्बा के काम।
आल्हखंड की पोथी लै कै, दादा तनुक लिखा कस आय।

'जहाँ रोसेयाँ है उदन के, सुरवा मुगन पधारे गाय"।
वो अस हिन्दू ते पेदा है, जो अस हालु देखि एक साथ।
रकत के आँसुन रोइ न उठिहै, माथे पटकि टूहत्था हाथ।
सब दुख सुख तो जैसे तैसे, गाइन की नहि सुनै गुहार।
जब सुधि आवै मोहि गैयन की, नैनन नेहै रक्त की धार।

—प्रतापनारायण मिश्र

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है।
पल पल जिसके मैं पथ को देखती थी,
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उस पर जिसके है सोहती मुक्त माला,
वह नव नलिनी से नैन वाला कहाँ है।

× × ×

गृह-गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ है,
पथ-पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो।
जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अधीरा,
वह खनि सुखमा का अधारा कहा है।

× × ×

परम पतित मेरे पातकी प्राण ये है,
यदि नहिं अब भी है गात को त्याग देते।
अहह ! दिन न जाने कौन सा देखने को,
दुखमय तन में ये निमयो से रखे है।

इस दूषित हमारे तन को प्राण त्यागो,
दुख निरत नहीं तो नित्य रो-रो मरूंगी।
× × × —हरिऔध

लछमन नारी यह सम्वाद, भईं विरजा हे शोक महान।
परनि को सब अहो दुख घोर। अहै सो करुना मूरतिमान।
मृतक सी परा महीतल माहिं, दया के योग भरीं सन्ताप।
कबहुँ जो होवे मुरछा दूरि, करें तो अतिशय घोर विलाप।
"कहाँ तुम गये प्राण आधार! जगत जीवन के शोभा रूप!
गये कित स्वामी! सुख के धाम! बोरि दासीको दुखके कूप!
हाय! कहँ गये हमारे छत्र! छाँडि अोचकहि हमारो साथ!
हाय! सुर नगर बसायो जाय, निठुर ह्वै करि हमदुखिन अनाथ!
हमारे चूड़ामणि सिरमोर! हमारे पति सम्पत्ति सुहाग!
गये पिय कित शृङ्गार नसाय! अरे निर्दई दई! हा भाग!
—राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

घायलों की वीर सेवा में लगी।
और फिर प्रिय ध्यान में पति के पगी॥
गोलियों से शत्रु के भागी न थी।
चोट घातक पाय वह जागी न थी॥
शोक में जयसिंह कुछ बोले नहीं।
वे जहाँ बैठे रहे बैठे वहीं॥
दुःख में अब घोर चिन्ता छागई।
प्रियतमा कैसे यहाँ अब आगई॥
आगये इस काल सेनापति यहाँ।
वीर नारी की लखी शुभ गति वहाँ॥

नीर होकर भी हुई उनको व्यथा।
आदि से कहने लगे उसकी कथा॥

—कामताप्रसाद गुरु

उदासी घार निशि में छा रही थी,
पवन भी कांपती थर्रा रही थी।
विकल था जाह्नवी की वारि धारा,
पटक कर सिर गिराती थी कगारा।
घटा घनघोर नभ पर घिर रही थी,
निलसती चचला भी फिर रही थी।
न थे ये बूँद आँसू गिर रहे थे,
कलेजे बादलों के चिर रहे थे।

× × ×

खड़ी मैय्या वहीं पर रो रही थी,
फटी दो टूक छाती हो रही थी।
कलेजा हाय! मुँह को आरहा था,
भरा था दर्द वह, तड़पा रहा था।
"छुटा घर बार प्राणाधार छूटे,
रहे तुम एक कुल आधार छूटे।
तुम्हारा देखकर मुख जी रही थी,
नहीं तो कौन था सुख, जी रही थी।
लुटा सब कुछ लुटे हा! लाल तुम भी,
लुटा सब कुछ लुटे हा! लाल तुम भी।
अरे यह है यहाँ पर मर्प बसता,
मुझे भी क्यों नहीं है नीच डसता।

लगाये लाल को छाती चलूँ मैं,
लिये यह साथ ही थाती चलूँ मैं।
जिसे मैं जान ही सा जानती थी,
जिसे मैं देखकर सुख मानती थी।
कहाँ है हाय ! अब वह प्राण मेरा,
निराशा में विपद् में त्राण मेरा।
कहाँ हो चल दिये तुम हाय छौना
खिलाऊँगी किसे मेरे खिलौना।

—गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही)

जब बच्चे फँसे उस जाल में जा,
तब वे घबडा उठे बन्धन में।
इतने में कबूतरी आई वहाँ,
दशा देख के व्याकुल हो मन में।
कहने लगी, "हाय हुआ यह क्या !
सुत मेरे हलाल हुए वन में।
अब जाल में जाके मिलूँ इनसे,
सुख ही क्या रहा इस जीवन में"।

—रूपनारायण पाँडेय

कौनैं भेजो दूत, पूत सौं विथा सुनावैं।
बातन में बहलाइ, जाइ ताकों यहँ लावै।
त्यागि मधुपुरी सो गयो, छाडि सबनि को साथ।
सात समुन्दर पै भयो, दूरि द्वारिका नाथ॥

॥ जाइगो का यहाँ ॥

नास जाइ अक्रूर क्रूर तेरो पज मारे।
बातनि में दे मर्यान ले गयो प्रान हमारे।
क्यो न दिखावत लाइ कोउ, सूरति ललित ललाम।
कहँ मूरति रमनीय दोउ, श्याम और बलराम॥
॥ रही अकुलाइ मैं ॥

अति उदास मन श्याम मत्र तन सुरति भुलानी।
पूत प्रेम सो भरी परम दरसन ललचानी।
निसपति कलपति अति जबै, नहिं जननी निज श्याम।
भगत-भगत आये तबै, भाये मन अभिराम॥

कहत न काऊ सुहृद सों बिथा राम गभीर।
तासों दिन-दिन बढति तिन, गूढ़ सघन मन पीर॥
यथा धातु पुटपाक में, कोउ जबै धरि जात।
भीतर ही भीतर जरति, बाहिर कछु न लखात॥

पियरी परी ओप कपोलन की तन में दुबराई बढी अति भारी।
लटकाएँ लटै बिखरी मुख पे उर सोचति मोचति लोचन बारी।
अति दीखति आकुल सोगमनी करुना-रस की जनु मूरति प्यारी।
तनधारी बियोग बिथा सी किधौं, बन आइ रही मिथिलेश दुलारी॥

तुमही जिय प्रान सबै कछु हो तुमही मम दूजो हियो सुकुमारी।
तुमही तन काज सुधा-सरिता इन नेनन की तुमहीं उजियारी।
हिय भोरे की योही लई भरमाइ कै बात बनाय पियारी पियारी।
पुनिता सिय कों बस मौन भलो अब होन कहा कहिबे सों अगारी॥

नव दारुन या अपमान सो तू निहचे दृग नीरहिं ढारत होइगी।
सिसु होन समै पे सिया या में कहुँ बेहद पीड़ा सों आरत होइगी।
घिरि हाय अचानक सिहनि सो किमि बेनस धीरज धारत होइगी।
करिकैं सुधि मेरी हिये में चहूँ तब 'तात ही तात' पुकारति होयगी॥

—सत्यनारायण

प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा सवाद पाकर विष भरा।
चित्रस्थसी निर्जीव सी हो, रह गई हत उत्तरा।
सज्ञा रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी।
उस समय मूर्च्छा भी अहो! हितकर हुई उसको बड़ी।
कुछ देर तक दुर्दैव ने रहने न दी यह भी दया।
झट दासियो से की गई जागृत वहा वह परवशा।
तन तपन नामक नर्क से भी यातना पाकर कड़ी।
विक्षिप्त सी तत्क्षण शिविर से निकल कर वह चल पड़ी।
अपने जनो द्वारा उठा कर समर से लाये हुए।
व्रण-पूर्ण, निष्प्रभ और शोणित पक से छाये हुए।
प्राणेश शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई।
वह नव वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ! हा!" कहती हुई।

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई।
कुररी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।
बहु विधि विलाप प्रलाप वह करने लगी उस शोक में।
निज प्रिय वियोग समान दुख होता न कोई लोक में।

—जयद्रथ-वध, (मैथिलीशरण गुप्त)

फिर दुष्ट दुःशासन हुआ था मुदित जिनको खींच के,
ले दाहिने कर में वही निज केश लोचन मींच के।
रखकर हृदय पर वाम कर शर विद्ध-हरिणी सम हुई,
बोली विकलतर द्रौपदी वाणी महा करुणा मयी।
"करुणा सदन ! तुम कौरवों से सन्धि जब करने लगो,
चिन्ता व्यथा मन पाण्डवों की शान्ति कर हरने लगो।
हे तात ! तब इन मलिन मेरे मुक्त केशों की कथा,
है प्रार्थना मत भूल जाना याद रखना सर्वथा"।
कहकर वचन यह दुःख से तब द्रौपदी रोने लगी,
नेत्राम्बुधारा पात से कृश अंग निज धोने लगी।
हो द्रवित करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणा भरी,
देने लगे निज कर उठाकर सान्त्वना उसको हरी।

सदा को सो गया स्वामी सुख-सर्वस्व खोगया।
हुआ संसार निस्सार भार जीवन होगया।
शुष्क सी होगई काया धूल में है सनी हुई।
रोती वियोगिनी जाया योगिनी सी बनी हुई।
रुद्ध गद्गद वाणी है मुक्त केश कलाप है।
नेत्रों में जल धारा है चित्त में सीतापह ताप है।

कह "हा नाथ ! हा नाथ !" रोती या यह दीखती।
मानो सन्तापशाला में मृत्यु का पाठ सीखती।
"मुझे छोड़ यहाँ योंही कहाँ तुम चले गये।
सपकों अप्सराओं से क्या प्राणेश ! छल गये"?

अपना ये किसी का यो छोड़ना ठीक है नहीं।
जोड़ ये गहरा नाता तोड़ना ठीक है नहीं।
"ठहरो, शीघ्रता क्या है, मुझे लेते न साथ क्यों?
हा! यहाँ न रहूँगी मैं होके नाथ! अनाथ यों।

हा! पुत्र पौत्र विहीन अब मैं सोच किस किसका करूँ?
मिलता नहीं है मागने से मृत्यु भी जो मैं मरूँ।
देता जिन्हें कर था अहा! नृपगण विनय से नम्र हुआ।
जीती हुई मैं देखता हूँ निज सुतों को हत हुआ।
केवल इसे पुरजन कहीं नाश कहना भूल है।
हा! हुई कुरु इस युद्ध में सब वंश नष्ट समूल है।
कुछ कौरवों की ओर से कुछ पाण्डवों की ओर से।
हत होगये हैं वीर सब जो नाद धर्म कठोर से।

—मैथिलीशरण गुप्त

रस-सामिग्री द्वारा करुणा-रस पर दृष्टिपात।

उदाहरण पहला खंड १०

पृष्ठ ३३७ वहाँ रामलक्ष्मणहि निहारी नारिहेतु प्रियबन्धु गँवाई॥

यहाँ लक्ष्मणजी का मूर्छित हो जाना ही आलम्बन विभाव है, क्योंकि यदि लक्ष्मणजी मूर्छित न होते तो शोक का कोई कारण ही न था, इसलिये रस का अवलम्बन होने के कारण ही "लक्ष्मण की मूर्छित अवस्था" आलम्बन विभाव हुई। उन (लक्ष्मणजी) का मूर्छित-शरीर, आधी रात तक कपि

ना, लक्ष्मणजी के स्वभाव गुण स्मरण (यथा :—'मुझ को भी दुखित न देख सकना' 'मेरे लिए माता पिता तज दिये' 'तुम्हारा स्वभाव सदैव मृदुल था' 'वन के दु खों को सहा' व वस्तुए मिल सकती हैं, किन्तु सहोदर भ्राता उपलब्ध नहा ता' इत्यादि) उद्दीपन विभाव है, क्योकि इनसे शोक और भी होता है। और विषाद, चिन्ता, मोह तथा दीनता सचारी व हैं। 'अर्द्ध रात्रि गई कपि नहीं आया' वाक्य द्वारा चिन्ता ट होती है। हे भाई उठो, जागो इत्यादि वाक्यो द्वारा पाद संचारित हुआ है, "जो मैं ऐसा जानता पिता के वचन न नता" इत्यादि पश्चात्ताप के वाक्यो से मोह की सिद्धि हुई र 'दीनता' तो राम के कथन में सर्वत्र ही व्यापक है। मचन्द्रजी का उक्त वाक्यो द्वारा विलाप करना अनुभाव है, ोकि इससे रस का अनुभव होता है। बस उक्त विभाव, नुभाव और सचारी भावों के सम्मेलन से 'शोक' स्थायी हुआ। त. करुणा रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण आठवाँ

। ३३६ सदेसो देवकी सों कहियो मोहन ह्वै है करत संकोच ॥ कृष्ण का असह्य वियोग ही आलम्बन विभाव है क्योकि इस ही रस, आलम्बित होता है। कृष्ण की टेव, यथा—प्रात - ल उठते ही रोटी और माखन माँगना, तेल, उबटना और ताजल देखकर भाग जाना इत्यादि कृष्ण कृत पूर्व लीलाएँ, त रस को उदीप्त या दृढ़ करती हैं, अत उद्दीपन विभाव हैं।

उस समय पथिक से उक्त बातों के कहने में जो अश्रु इत्यादि कार्यों का निवाह हुआ होगा, कि जिनसे उक्त रस का अनुभव हुआ अनुभाव हैं। 'श्याम सकोच करता होगा' तथा 'मोहि रैन दिन वढ्यो रहत उर सोच' इत्यादि वाक्यो से 'चिन्ता' तथा 'विषाद' का सचार होता है। कृष्णकृत पूर्व लीलाओं का पुन ज्ञान होने में 'स्मृति' का सचार हुआ है और "मैं तो तुम्हारे पुत्र की धायमात्र हूँ" इत्यादि वाक्यो द्वारा 'दीनता' प्रदर्शित होती है, अत चिन्ता, विषाद, स्मृति और दीनता यह सचारी भाव हुए। बस उक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सयोग से 'शोक' स्थायी हुआ। अत उक्त काव्य में करुणा-रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण नवाँ

पृष्ठ ३४०-रोवहु सब मिलि कै भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारत दुर्दशा आलम्बन विभाव है, क्योकि इस पर रस आलम्बित होता है, यदि यहाँ भारत का कथन न हुआ होता तो शोक का कुछ आधार ही न था। धन, बल तथा सभ्यता की हीनता, भारत का रग, रूपादि म अग्रसर होना, अब सब के पीछे रहना, भीम इत्यादि बलशाली, प्रतिभावान और ऐश्वर्यशाली पुरुषों के स्थान में अब मूढ़ता का नियाम, जैन-वैदिक मनोमालिन्य के कारण साहित्य का विनाश इत्यादि कार्य उक्त शोक को और भी सुदृढ, विस्तृत तथा उद्दीप्त करने-वाले है, अत. उद्दीपन विभाव है। रोना, हा हा करना

बिलपना इत्यादि कार्य 'शोक' का अनुभव कराते है, अत 'अनुभाव' है। विषाद तथा दीनता इत्यादि संचारी भाव हैं, क्योकि उक्त काव्य में सर्वत्र ही इनका सचार हुआ है। वस उपरोक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से शोक स्थायी हुआ। अत. करुण-रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण बारहवाँ

पृष्ठ ३४२ प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा नित रो-रो मरूँगी॥

यहाँ प्राण प्यारे (पुत्र-कृष्ण) का वियोग आलम्बन विभाव है, क्योकि शोक इसी पर आलम्बित है। कृष्ण का सौन्दर्य, यथा 'नवनलिनी से नयन' इत्यादि, उनके वस्त्राभूषण की स्मृति यथा 'गले में मुक्तमाल का सोहना' इत्यादि, उक्त शोक को और भी दृढ करते है, अत उद्दीपन विभाव हैं। अश्रु, वैवर्ण्य, इत्यादि कार्य 'अनुभाव' हैं। क्योंकि कृष्ण के वियोग से उसका शरीर अत्यत कृश तथा पीला पड गया है, साथ ही वह रो भी रही है, इससे शोक का पूर्णानुभव हुआ है। विषाद, चिन्ता, मोह, स्मृति, उत्सुकता और दीनता इत्यादि सचारी भाव है। 'विषाद' कृष्ण की लीलाओं को न देख सकने और, उनके वियोग के कारण हुआ, 'स्मृति' उनके पूर्व कृत कर्मो के स्मरण होने से है। 'चिन्ता' उनके मिलने की है। 'मोह' उनके वियोग का है, जिसके कारण गोपियों तथा गोपों को अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं रहा है 'उत्सुकता' उनके मिलने को निरवलव उद्यत हो जाने में है और 'दीनता' अपने प्राण तथा

भाग्य इत्यादि की अवहेलना करने में है। अत इन सब विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के सयोग से 'शोक' स्थायी हुआ। अत उक्त काव्य में करुणा-रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण बाईसवाँ

पृष्ठ ३४७ प्रिय मृत्यु का दैन्य दरसाती हुई॥

प्रिय की मृत्यु का महा अप्रिय सवाद आलम्बन विभाव है, क्योकि इसी पर रस आलम्बित हुआ है। व्रण-पूर्ण, निष्प्रभ, शोणित पङ्क से छाया हुआ प्राणेश शव, उस रस को और भी सुदृढ तथा विस्तृत करता है, अत उद्दीपन विभाव है। स्तम्भ, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय अनुभाव हैं, क्योकि इनसे 'रस' का अनुभव होता है। "चित्रस्थ सा रह जाना" आदि में स्तम्भ, 'सज्ञा रहित होने' में वैवर्ण्य 'धरा पर गिरने' में 'प्रलय' और रोने पीटने में 'अश्रु' की उत्पत्ति होती है और इन्हीं के द्वारा रस का अनुभव होता है। विषाद, चिन्ता, मोह, विबोध, आवेग, जडता तथा चपलता इत्यादि सचारी भाव हैं। दाम्पत्य सुखोपभोग के स्थान में पति की मृत्यु होने में 'विषाद' पति के बिना अपने जीवित रहने में 'चिन्ता'—चित्रस्थ सी रह जाने में 'मोह' दासियो द्वारा जागृत किये जाने में 'विबोध' शिविर से निकल पडने में आवेग, कर्त्तव्याकर्तव्य के बोध न रहने में 'जडता'—अधिक अनुरागादि के कारण स्थिरता न रहने में चपलता का सचार हुआ है। अत इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से 'शोक' स्थायी हुआ, इसलिये करुणा-रस की सिद्धि हुई।

———

रौद्र-रस

थाइ जाको क्रोध अति, नेहे रौद्र रस नाम।
आलम्बन रिपुरिपु उमङ, उद्दीपन तिहि ठाम॥
भृकुटि भग अति अरुणई, अधर दसन अनुभाव।
गर्व ,चपलता ओरहु, तहँ संचारी भाव॥
रक्त रंग रस रौद्र को, रुद्र देवता जान।
ताको कहत उदाहरण, सुनहु सुमति दे कान॥

—जगद्विनोद



ध के स्थिर होने को रौद्र-रस कहते है। शत्रु द्वारा यह रस आलम्बित होता है और रिपु की उमग इस रस को उद्दीप्त कराती है—इसी प्रकार भृकुटी की कुटिलता, नेत्रों की अरु-णिमा, अधर तथा दशन इत्यादि अंगों का स्फुरणादि अनुभाव है। गर्व, चपलता सचारी भाव है। इसका वर्ण रक्त है, और देवता रुद्र है।

क्रोध वास्तव में एक बुरा स्वभाव है, इसके द्वारा मनुष्य की अवस्था अत्यतहीन हो जाती है। क्रोधी मनुष्य कभी अपने आपे में नहीं रहता। उसे उचित अनुचित का ध्यान कभी नहीं रहता, क्रोधी मनुष्य अपनी स्थिति, पद तथा अवस्था इत्यादि आवश्यकीय विषयों को अपनी क्रोधावस्था में समूल नष्ट कर डालता है। परन्तु परमात्मा ने ससार में कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं बनाई है। उचित उपभोग की आवश्यकता है। यदि क्रोध न होवे तो युद्ध क्षेत्र में पापियों का विनाश किस

प्रकार होवे ? संसार से कुनीति का विध्वंस किस प्रकार हो ? संसार से घोर अत्याचार तथा अनाचार किस प्रकार विनष्ट होवे ? और इसी प्रकार कायरता तथा क्रूरता का दमन किस प्रकार किया जावे ? यदि क्रोध न होवे तो मनुष्य की बड़ी भारी उन्नति रुक सकती है, मनुष्य की दशा उस सर्प की सी हो सकती है, जिसने गुरु-उपदेश से काटना छोड़ दिया था। ऐसी अवस्था में मनुष्य को मनुष्य कहने के लिये कौन उद्यत होगा ? किसी ने सत्य ही कहा है :—"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है। वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है"। जो मनुष्य अपने अपमान तथा जाति और देश के अपमान को चुपचाप सहन कर लेते हैं, उनकी बहुत बुरी अवस्था होती है, हमारा प्राचीन इतिहास उक्त वचनों का साक्षी है। जब से हमारे देशवासियों में अपने मानापमान का विचार न रहा तब से वह निरन्तर अवनति के अन्ध कूप में गिरते हुए चले गये, यहाँ तक कि अपने जन्म सिद्ध अधिकारों तक को विस्मृत कर बैठे। परन्तु अब जब से हमने अपने अपमान को अपमान समझा, अपनी व्याज स्तुति को निन्दा समझा, जब से हमें अनौचित्य प्रधान तथा कुनीति युक्त कार्य-प्रणालियों को देख-सुन कर क्रोध आया, या यों कहो कि जब से हमने रौद्र-रस की शरण ली, तभी से सम्पूर्ण सभ्य देशों ने हाथ बढ़ा कर हमारा स्वागत किया, हमारे हर्ष-नाद के साथ ही साथ, उच्चस्वर से स्वतंत्रता प्रिय महानुभावों ने उसका अनुमोदन किया। इस ... ...री गणना भी मनुष्य

में हुई। इन उपर्युक्त बातों से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि "समय-समय पर सब की आवश्यकता होती है"। अत: समयानुसार "रौद्र-रस" भी उपयोगी ही नहीं किन्तु परमावश्यकीय होता है। अब हम नीचे "रौद्र-रस" के कुछ उदाहरण अंकित करते हैं। उदाहरण :—

तेहि अवसर सुनि शिव धनु भगा। आये भृगुकुल कमल पतगा॥
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥
गोर सरीर भूति भल भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुण्ड बिराजा॥
सीस जटा ससि बदन सोहावा। रिसबस कछुक अरुण ह्वै आवा॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहु चितवत मनहुँ रिसाते॥
कटि मुनि बसन तूण दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे॥

× × ×

अस कहि कठिन बान सन्धाने। अतिसय क्रोपि स्रवन लगि ताने॥
सर समूह सो छाडन लागा। जनु सपच्छ धाये बहु नागा॥

× × ×

देखि पवन सुत कटक बिहाला। क्रोधवत धावा जनु काला॥

× × ×

भिरे सकल जोरी सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहि थोरी॥
मुठिकन लातन दाँतन काटहि। कपि गिरि सिला मारि पुनि डाटहि॥
मारु-मारु धरु धरु धरु मारू। सीस तोरि गहि भुजा उपारू॥

× × ×

क्रोधवत तब भयेउ अनन्ता। भजेउ रथ सारथी तुरंता॥

× × ×

कटकटाइ कोटिन भट गर्जहि। दसन ओठ काटि अति तर्जहि॥

× × ×

रघुवंसिन मँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥
कही जनक जस अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मणि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौं सुभाव न कछु अभिमानू॥
जो राउर अनुशासन पाऊँ। कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ॥
काँचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं विलोकिय सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। सत जोजन प्रमाण लै धावौं॥

तोरौं छत्रक दंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जो न करौं प्रभु पद शपथ, पुनि न धरौं धनु हाथ॥

लषण सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
सकल लोग सब भूप डराने। सिय हिय हर्ष जनक सकुचाने॥

× × ×

जब तेहि कीन्ह राम की निन्दा। क्रोधवन्त तब भयउ कपिन्दा।
कटकटाइ कपि कुञ्जर भारी। दोउ भुज दंड तमकि महि मारी॥
डोलत धरणि सभा सद खसेऊ। चले भागि भय मारुत ग्रसेऊ॥
अस रिस होति दसो मुख तोरा। लंका गहि समुद्र महँ बोरौं॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

बारि टारि डारौं कुम्भकर्णहि बिदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आज यो बल अनन्त हौं।
कहै पद्माकर त्रिकूट को ढाहि डारौं,
डारत करेई यातुधानन को अंत हौं।
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन को कछु वै नगंत हौं

जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमन्त हौं ॥
जैसो तैं न मोसों कहूँ नेकहु डरात हुतो,
ऐसो अब हौं हूँ तोसों नेकहू न डरिहौं ।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तो,
उमंड करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं ।
चलो चलु चलो चलु बिचलन बीच ही तें,
कीच बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरिहौं ।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंग की कछार में पछार छार करिहौं ।
—पद्माकर

अधर चब्ब गहि गब्ब अति, चहि रावण को काल ।
दृग कराल मुख लाल करि, दारुण दशरथ लाल ॥
—पद्माकर

लोक तिहूँ जारौं सातो सागर सुखाय डारौं,
गिरिन ढहाय डारौं भूमि उलटाऊँ मैं ।
रंच में बिदारि डारौं दसो दिगपालन को,
गगन समेत शशि सूरहि गिराऊँ मैं ।
थल तें पताल लेके कितहू कहूँ जो मैव,
रसिक बिहारी प्राण त्यागी सुधि पाऊँ मैं ।
जानकी न लाऊँ तो पै क्षत्री न कहाऊँ,
राम नाम पलटाऊँ धनुबान न उठाऊँ मैं ।
—रसिक बिहारी

सदा गति के कुम्भ को जो विदारे। ललाई नये चन्द की जोन धारे।
जँभाई समै काल सो जोन बाढ़े। भलो सिंह को दाँत सो कौन काढ़े॥
काल सर्पिणी नन्द कुल, क्रोध धूम सी जोन।
अबहूँ बाँधन देत नहिं, अहो सिखा मम कौन॥
—भारतेन्दुजी (मुद्रा-राक्षस)

निरत नम्र मम धीर यह, सिय सँग अनरथ पात।
आलोचत मम अति प्रबल, क्रोधानल बढ़ि जात॥
समर माँहि कर चाप गहि, अथवा दे निज श्राप।
अन्याई को हनि अबहिं, उचित हरन सन्ताप॥
—सत्यनारायण (उत्तर रामचरित नाटक)

सम्भु के सम्भव काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
साईं हौं बूझत राज सभै धनु कै दलिहा दलिहा दल ताको।
छोट मुँह उत्तर देत बड़ लरिहै मरिहै करिहै कछु साका।
गोरो गरूर गुमान भरो कहु कौशिक छोटो सो ढोटो है काको।
× × ×
अति अनरीहि है रिसाहि साईं रात जात,
लछन नखान कनी आयसु जो पाऊँ म।
जननी सुगरि ला मरोरि मोरि वारिधि में,
दारा महि तोरि दंत दिग्गज ल्याऊँ म।
रावरे प्रताप बल साँची कहूँ राघवजी,
मेरु को उपारि त्रिनि छोर लग धाऊँ में।
अटकि रहे हो कहा मुख से निकारिये जू,
झटकि सरासन को चरकि चढ़ाऊँ में।
× × ×

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहि करत कमल तन।
अहि फनि मनि नहि लेत, तेज नहि वहत पवन घन॥
हस मानसर तज्यौ, चक चकी न मिलै अति।
बहु सुन्दरि पद्मिनी, पुरुप न चहे न करै रति॥
खल भणित शेप कनि गग भनि, रमित तेज रवि रथ खस्यो।
खानान खान वैरम सुवन जिहिन क्रोध करि तॅग कस्यो॥

—कविगंग

फोरि डारौं फलक जमीन जोरि डारो वल,
वारिधि में वैरिन के वृन्द वोरि डारौं मे।
रार डारौं रन घनघोर डारौं चक्री-चक्र,
छोर डारौं वारिज मरजाद तोरि डारौं मैं।
अवधविहारी रामचन्द्र को हुकुम पाऊँ,
चन्द्र को निचोरि मेरु को मरोरि डारों मैं।
मोरि डारौं मान-मानी मूढ महिपालन की,
नाक तोरि डारौं यों पिनाक तोरि डारौं मैं।

—अवध विहारी

वोरो सबै रघुवंश कुठार की धार में वारन वाजि सरत्थहि।
वान की वायु उड़ाय कै लच्छन लच्छी करौं अरिहा समरत्थहि।
रामहि वाम समेत पठै वन सोक के भार में भूजौं भरत्थहि।
जो धनु हाथ लियो रघुनाथ तो आजु अनाथ करौं दसरत्थहि॥

× × ×

सिंहहि लख्यौ धेनु पर कैसा। गेरू गुहा लोय तरु जैसा॥
भयो क्रोध नाहर वध कामा। रंचन चख्यो सीर सर रामा॥
नाम इषि कंकपत्र महँ डारी। अँगुरिन निगिस पुरा तहँ धारी॥

—लाला सीताराम

पग्खा पाप प्रचंड प्रमादी पामरपन में।
उपजा उग्र अदम्य रोष मेरे तन मन में।
लमकी लटकी देखलाय तलवार निकाली।
गरजी छन्द कृपाण सुनाकर सुमरी काली।
—नाथूराम 'शङ्कर' शर्मा

जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभङ्ग हो जाने से।
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से।
उन हर के तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला।
अकस्मात् अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला।
"हा हा! प्रभो क्रोध यह अपना करिये करिये शान्त"।
इस प्रकारका विनय व्योममें जबतक सबसुर करें नितान्त।
तब तक हरके दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष।
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्म शेष कर दिया अशेष।
—महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दूपति के बैन सुनत छत्री काँपे सब।
अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दौर्यो तब।
लै-लै असि दृढ़पन कियौ छुवै-छुवै प्रभु के पाँय।
"जौ लौं तन स्वाधीनता तोलौं रखौं बचाय।
"सक करिये न कछु"।
रहु-रहु रे निर्बोध, अमर गति रोकन हार।
हम न लेहिंग साँस बिना तोहिं आज दबाये।
राज भवन निर्माण करि तेरी विष्णु मिटाइ।
जो दुख पाये तोहि सौं देहौं सबै सुनाइ।
"सुखद अवास रचि"
—राधाकृष्ण

हाल सुन जयसिंह का दुख बढ़ गया।
शत्रु पर अब क्रोध उनको चढ़ गया।
सौंप कर प्रिय देह सेनापति निकट।
प्रण किया सब से उन्होंने यह विकट।
भस्म जब मैं कर चुकूँगा रिपु नगर।
तब पड़ेगी अग्नि इस प्रिय देह पर।
और जो मै ही मरूँ रिपु हाथ में।
फूँकना मुझको प्रिया के साथ में।

—कामताप्रसाद गुरु

हलधर ने सब हाल किन्तु जब यह सुन पाया।
विद्युद्वेग समान रोप सत्वर हो आया।
मदिरारुण दृग हुए और भी तब अरुणारे।
जपापुष्प पद्मो में मानो प्रगट निहारे।
सुधि बुधि जाती रही कोप के कारण सारी।
अर्जुन वध के लिये हुए वे व्याकुल भारी।

—मैथिलीशरण गुप्त (अर्जुन और सुभद्रा)

सुनकर उनके बचन मुनि हुए यथा हत बोध।
देख रूप जल मे तथा हुआ और भी क्रोध।
मर्कट-मुख था प्रथम ही तिस पर पडा विकार।
मिला भयानक रौद्र मे अद्भुत के आगार।
दिया गणो को शीघ्र तब मुनि ने शाप प्रचंड।
'राक्षस हो जाओ खलो! लो हँसने का दंड'।
इतना करके भी हुए वे न जरा सन्तुष्ट।
चले रमापति के निकट विकट रूप अति रुष्ट।

× × ×

नारद उनको देख कर बोले फिर सक्रोध।
रहता किस को क्षोभ में भले बुरे का बोध।
"हरे! हरे! इस भाँति के कर्म तुम्हारे क्रूर।
खड़े रहो जाते कहाँ? होकर मद में चूर।
निष्कामी के साथ भी होता है छल हाय!
तुम्हें स्वार्थ से काम चाहे जो होजाय।
होकर पूर्ण स्वतंत्र तुम करते हो उत्पात।
नहीं रहेगी किन्तु अब पहिले की सी बात।
हरना तुमको सहज है औरों का सुख भोग्य।
मिला नहीं कोई अभी तुम्हें तुम्हारे योग्य।

—मैथिलीशरण गुप्त (मुनि का मोह)

उपसुन्द दैत्य भी तब सरोष, करि प्रकट सुन्द के विविध दोष।
बोला तत्क्षण ही साभिमान, रखता न नीच सम्बन्ध ध्यान।
"होने से वय में अधिक ज्येष्ठ, हो सकता है कोई न श्रेष्ठ।
हों जिसमें सब गुण विद्यमान, है वही श्रेष्ठ उत्तम प्रधान।

× × ×

उपसुन्द वचन सुन निज विरुद्ध, तब हुआ और भी सुन्द क्रुद्ध।
सुनकर अपना अपवाद लेश, होता न क्षोभ किस को विशेष?

—मैथिलीशरण गुप्त (बन्धु विरोध)

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े"।
करते हुए यह घोषणा वे होगये उठकर खड़े

उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।
मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?
युग नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से।
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार से।

× × ×

तब निकलकर नासा पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों।
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों।
जिस भाँति हरने पर किसी के प्राण से भी प्रिय मणी।
करके स्फुरित फिर फिर फणा फुंकार भरता है फणी।
दो पद्म शुण्डों में लिए दो शुण्डशाला गज कहीं।
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा वहीं।
दुर्द्धर्ष, जलते से हुए उत्ताप के उत्कर्ष से।
कहने लगे तब वे अरिन्दम वचन व्यक्त अमर्ष से।

× × ×

"साक्षी रहे संसार सब करता प्रतिज्ञा पार्थ मैं।
पूरा करूँगा कार्य सब कथनानुसार यथार्थ मैं।
जो एक बालक को कपट से मार कर हँसते अभी।
वे शत्रु सत्वर शोक सागर-मग्न दीखेंगे सभी"।

—मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ वध)

निपीड़िता भू व्रज को विलोक के। अतीव उत्पीड़न से खलेन्द्र के।
दिनेक भ्राता लख सामने उसे। सक्रोध बोले बलभद्र बन्धु यों।

"सुधार-चेष्टा सब व्यर्थ हो गई। न त्याग तूने कुप्रवृत्ति को किया"।
अतः यही है अब युक्ति उत्तमा। तुझे निपातू भव श्रेय हेतु मैं।

× × ×

अतः अरे पामर सावधान हो। समीप तेरे अब काल आगया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू। सम्हाल मैं हूँ तुझ को निपातता।
सदर्प बातें सुन श्याम मूर्ति की। हुआ महा क्रोधित व्योम निष्कर्मी।
उठा स्वकीया गुरु दीर्घ-यष्टि को। तुरन्त मारा उसने व्रजेन्द्र को।

—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय-प्रवास)

कहा कैकेयी ने सक्रोध "दूर हो दूर अभी निर्बोध।
सामने से हट अधिक न बोल, द्विज है! रस में विष मत घोल।
उड़ाती है तू घर में कीच, नीच ही होते हैं बस नीच।
हमारे आपस के व्यवहार, कहाँ से समझे तू अनुदार"।
हुआ भ्रू-कुंचित भाल विशाल, कपोलों पर हिलते थे बाल।
प्रकट थी मानो शासन नीति, मन्थरा सहमी देख सभीति।
तीक्ष्ण थे लोचन अरुण अदीन, लाल थे लाली भरे कपोल।
न दासी देख सकी उस ओर! जला दे कहीं न कोप कठोर!

× × ×

मानिनी कैकेयी का कोप, बुद्धि का करने लगा विलोप।
और अब रह न सकी वह शान्त, उठी आँधी सी होकर भ्रान्त!
एड़ियों तक आ टूटे केश, हुआ देवी का दुर्गा वेश।
पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त, उसे कर डाला अस्त व्यस्त।
तोड़ कर फेंके सब शृंगार! अश्रुमय थे मुक्ताहार!
मत्त करिणी सी दलकर फूल, घूमने लगी आप को भूल।

वीर-रस

जा रस का 'उत्साह' शुभ, है इक थाई भाव।
सुरस वीर है चारि विधि, कहत सबै कवि राय।
युद्ध वीर इक नाम है, दया वीर दिय नाम।
दान-वीर सुतीजो पुनि धर्म-वीर अभिराम।
युद्ध-वीर को जानिये, आलम्बन रिपु जोर।
उद्दीपन ताको तनहिं, पुनि सेना को सोर।
अँग फरकत दृग अरुणाई, इत्यादिक अनुभाव।
गरब, असूया, उग्रता, तहँ संचारी भाव।
इन्द्र देवता वीर को, कुन्दन वरण विशाल।
ताको कहत उदाहरण, सुन जन होत खुशाल।

—जगद्विनोद



स रस का स्थायी भाव 'उत्साह' हो उसे वीर-रस कहते हैं, उसके चार भेद हैं (अ) युद्ध-वीर (ब) दया-वीर, (स) दान वीर और (द) धर्म-वीर। रिपु का वैभव ही इस रस का आलम्बन विभाव है। और सेना के मारू बाजे इत्यादि के शब्द, और ललकार इत्यादि उद्दीपन हैं। ... का स्पन्दन, सिर, ... इसके अनुभाव ... भाव हैं। इसका "उत्साहवर्द्धनो ...

रूपी एक अनुपम और सजीवनी शक्ति का सचार कराता है। जिस मनुष्य में इस अद्वितीय शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ उसके रोम रोम और नस नस में विद्युत् सचार करने लगती है। मुख मडल पर अद्भुत गाम्भीर्य, उत्फुल्लता तथा कान्ति का प्रकाश छा जाता है। स्वाभिमान, स्वत्व और स्वातत्र के मूल्य के सम्मुख वीर पुरुप अपने प्राणों को भी तुच्छ समझता है। कुनीति के विध्वस करने, सुनीति का प्रचार करने, धर्म की रक्षा करने और अधर्म का विनाश करने के लिये वह सदैव अपना बलिदान करने के लिये उद्यत रहता है। वीर पुरुषों से अकर्मण्यता कोसों दूर भागती है, उनमें आलस्य तथा प्रमाद का नाम तक नहीं रहता। वीर पुरुष 'कर्तव्य पालन' में तत्पर रहने को अपना मुख्य कर्म समझता है। वीर पुरुष के सम्मुख चाहे युद्ध उपस्थित हो, चाहे दान तथा दया का प्रश्न छिड जाय और चाहे धर्म-क्षेत्र में वह पदार्पण करे, समय पडने पर कभी पीछे नहीं हटता। महाराज रामचन्द्र, महाराज हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीच इत्यादि अनेकों महा पुरुष इसके उदाहरण है। यहा पर वीर रस के कुछ उदाहरण अकित किये जाते है —

युद्ध-वीर

समाचार सब सुने निषादा। हृदय विचार करै सविषादा॥
कारण कवन भरत वन जाहीं। है कछु कपट भाव मन माहीं॥
जो पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कस लीन सग कटकाई॥
जानहि सानुज रामहि मारी। करौ अकटक राज्य सुखारी॥

× × ×

होइ सजग मन रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरण के ठाटा॥
सम्मुख लोह भरत सन लेहू। जियत न सुरसरि उतरन देहू॥
समर मरण पुनि सुरसरि तीरा। राम काज क्षण भंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग्य अस पाइय मीचू॥
स्वामि-काज करिहौं रण रारी। लैहौं सुयश भुवन दसचारी॥
तजहुँ प्राण रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥

× × ×

उठि कर जोरि रजायसु मागा। मनहुँ वीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायक हाथा॥
आज राम सेवक जस लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फल पाई। सोवहु समर-सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करौं रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलै मृगराजू। लेइ लपटि लवा जिमि बाजू॥
तैसहि भरतहि सैन समेता। सानुज निदरि निपातौं खेता॥
जो सहाइ कर संकर आई। तदपि हतौं रण राम दुहाई॥

× × ×

नाथ भूधराकार सरीरा। कुम्भकरण आवत रणधीरा॥
इतना कपिन सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥
लिये उपारि विटप अरु भूधर। कटकटाइ डारे तेहि ऊपर॥

× × ×

रे खल का मारेसि कपि भालू। मोहि विलोकि तोर मैं कालू॥
खोजत रहेउँ तोहि सुत घाती। आजु निपाति जुड़ावहुँ छाती॥
कहि अस छाँडेसि बाण प्रचंडा। लछमण किये तुरत सत खंडा॥

× × ×

तानि शरासन श्रवण लगि, छाँड़ विसिख कराल।
राम बाण नभ मग चले, लहलहात जनु व्याल॥

—तुलसीदास (राम-चरित मानस)

उमड़ि कुड़ाल में खवास खान आये भनि,
भूषन त्यों धाये सिवराज पूरे मन के।
सुनि मरदाने बाजे हय हिहनाने घोर,
मूँछें तरराने मुख बीर धीर जन के।
एकै कहैं मार-मार सम्हरि समर एकै,
म्लेच्छ गिरे मार बीच बेसम्हार तन के।
कुंडनि के ऊपर कड़ाके उठें ठौर ठौर,
जीरन के ऊपर खड़ाके खड़गन के॥

× × ×

भूषन साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी।
औरँग आपनि दुग्ग जमाति बिलोकत तेरिये फौज लरेरी।
साहि तनै सिवसाहि भई भनि भूषन यों तुव धाक घनेरी।
रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति सूरति घेरी॥

—भूषण

साँहैं अस्त्र ओढ़े जे न छाड़े धीर सागर की,
लंगर लँगूर उच्च ओज के अतंका में।
कहै पदमाकर त्यों हुंकरत फुंकरत,
फैलत फलात फाल बाँधत फलंका में।
आगे रघुबीर के समीर के तनै के संग,
तारी दै तड़ाक तड़ा तड़ के तमंका में।

शरणागत पाल कृपाल प्रभो हमको इक आस तुम्हारी है।
तुमरे सम दूसर और कोउ नहिं दीनन को हितकारी है।
सुधि लेत सदा सब जीवनि की अति ही करुना बिसतारी है।
प्रतिपाल करैं बिन ही बदले अस कौन पिता महतारी है।
जब नाथ दया करि देखत हो छुटि जात बिथा संसारी है।
बिसराय तुम्हैं सुख चाहत जो अस कौन निदान अनारी है।
परवाहि तिन्हैं नहिं स्वर्गहु की जिनको तव कीरति प्यारी है।
धनि है धनि है सुख दायक जो तव प्रेम सुधा अधिकारी है।
सब भांति समर्थ सहायक हो तव आश्रित बुद्धि हमारी है।
परतापनरायन तो तुम्हरे पद पंकज पै बलिहारी है।

—प्रताप नारायण मिश्र

सुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि उठे दोउ भुजा बिसाला॥
सुनु सुग्रीव मैं मारिहों बालि एक ही बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागतहुँ गये न उबरहिं प्रान॥

× × ×

आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि-त्राहि दयालु रघुराई॥
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमन्द जानि नहिं पाई॥
निज कृतकर्म जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि शरण तकि आयउँ॥
सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥
कीन्ह मोह बस द्रोह, यद्यपि तेहि कर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

अरि स्यान बे तीर से भ्रांत चले, इधर ओर पैर है अब और नहीं।
पढ़ता हुआ व्याध भी आ रहा है, बस अन्त है तीर जो छोड़ा यहीं।

करते हम यों न विलाप प्रभो, मृग प्यारा हमारा जो होता यहीं।
करते हुए यों कंठ उसका रुका, चुप हो मृगी होगई स्तब्ध वहीं।
करुणा वरुणालय श्री हरि की, इतने में हुई कुछ ऐसी दया।
घनघोष के साथ गिरी बिजली, जिससे कि शिकारी अचेत भया।

× × ×

जब रक्षक राम पड़े अपने, तब भक्षक कौन यहाँ जग में।
खिलते मृदु फूल अहो! पल में, दुख कंटक छाये हुए मग में।

—लोचनप्रसाद पाँडेय

यदि व्रजाधिप के प्रिय लाडिले। पतित का कर वे गहते कहीं।
उलझ में दुख तो करते रहे। वह कहीं जल बाहर मग्न को।
पहुँचते वह थे उन गेह में। जन अकिंचन थे रहते जहाँ।
कर सभी सुविधा बहु भाँति की। वह उन्हें रखते गिरि अंक में।
परम वृद्ध असम्बल लोक को। दुखमयी विधवा रुज ग्रस्त को।
बन सहायक थे पहुँचा रहे। गिरि सुगह्वर में बहु यत्न से।
यदि दिखा पड़ती जनता कहीं। कुपथ में पड़ के दुख भोगती।
पथ प्रदर्शन थे करते उसे। तुरत हो उस ठौर व्रजेन्द्र जा।

—प्रिय प्रवास (हरि औध)

हो द्रवित करके श्रवण उसकी प्रार्थना करुणा भरी।
देने लगे निज कर उठा के सान्त्वना उसको हरी।
भद्रे! रत्नकर नन्द हा! हा! शोक को मनसे हटा।
यह देख तेरी दुख घटा जाता हृदय मेरा फटा।
विश्राम मेरे कथन का जो हो तुझे मन में कभी।
सच जान तो दुख दूर होंगे शीघ्र ही तेरे सभी।

जिस भाँति गद्‌गदकंठ से तू रो रही है हाल में।
रोती फिरेंगी कौरवों की नारियाँ कुछ काल में।
लक्ष्मी सहित रिपु रहित पांडव शीघ्र ही हो जायँगे।
निज नीच कर्मों का उचित फल कुटिल कौरव पायँगे।

—मैथिलीशरण गुप्त

दान-वीर

दान समय को जान पुनि, याचक तीरथ गौन।
दान-वीर के कहत हैं ये विभाव मति भौन।
तृण समान लेखत सुधन, इत्यादिक अनुभाव।
व्रीडा हरषादिक गना, तहँ संचारी भाव।

—जगद्विनोद

दान करने के उत्साह के स्थिर होने को दान-वीर कहते हैं। याचक और तीर्थ गमनादि इसका आलम्बन है, और दान समय का ज्ञानोत्साह उद्दीपन विभाव है, इसी प्रकार दानज्य शीलतादि अनुभाव और व्रीडा तथा हर्ष इत्यादिक संचारी भाव हैं। यथा —

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावे ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सो हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के वितर विचारै ना।
गज गज बकसि महीप रघुनाथ राव,
याय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।

याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरितें गरेतें निज गोदतें उतारै ना ॥

बकसि वितुंड दये झुंडन के झुंड रिपु
मुंडन की मालिका दई ज्यों त्रिपुरारी को ।

कहै पदमाकर करोरन को कोष दये
षोडसहू दीन्हे महादान अधिकारी को ।

ग्राम दये धाम दये अमित अराम दये
अन्न जल दीन्हे जगती के जीवधारी को ।

दाता जयसिंह यह दो बातें ना दई कहूँ,
बैरिन को पीठि और दीठि परनारी को ॥

दै डार जनु भिक्षुकन, नहि गजराजहि सुलभ ।
प्रथम मिल्यो जात प्रभुहि सु विभीषण ह्वै रंक ॥

—जगद्विनोद

दीन दुखि मन ना एक न दीन्हो दुसह दुख ।
सो अब हम को दीन, कछुक न राख्यो बीरवर ।

—अकबरशाह

काँपि उठी कमला मन सोचत, मोसों कहा हरि को मन ओंको ।
ऋद्धि कँपी सब सिद्धि कँपी नव सिद्धि कँपी ब्रजनायक धोंको ।
सोर भयो सुरनायक पै जब दूसरी बार लयो भरि झोंको ।
मेरु डरे यारसे जनि मोहि कुबेर चबावत चाँवर चोंको ।

× × ×

मुट्ठी तिसरी भरत ही रुक्मिनि पकरी बाँह ।
ऐसी तुम्हैं कहा भई सम्पति की अनचाह ॥

× × ×

जिस भाँति गद्गदकंठ से तू रो रही है हाल में।
रोती फिरेंगी कौरवों की नारियाँ कुछ काल में।
लक्ष्मी सहित रिपु रहित पांडव शीघ्र ही हो जायँगे।
निज नीच कर्मों का उचित फल कुटिल कौरव पायँगे।

—मैथिलीशरण गुप्त

दान-वीर

दान समय को ज्ञान पुनि, याचक तीरथ गौन।
दान-वीर के कहत हैं, ये विभाव मति भौन।
तृण समान लेखत सुधन, इत्यादिक अनुभाव।
व्रीड़ा हरषादिक गनो तहँ संचारी भाव।

—जगद्विनोद

दान करने के उत्साह के स्थिर होने को दान-वीर कहते हैं। याचक और तीर्थ गमनादि इसका आलम्बन है, और दान समय का ज्ञानोत्साह उद्दीपन विभाव है, इसी प्रकार दातव्य शीलतादि अनुभाव और व्रीड़ा तथा हर्ष इत्यादिक संचारी भाव है। यथा :—

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावे ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सो हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के वितर विचारै ना।
गज गज बकसि महीप रघुनाथ राव,
याहि गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।

साजि साजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हें,
भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को" ॥

—भूषण

जेहि पाली इक्ष्वाकु सो, अब लौं रघुकुल राज।
ताहि देत हरिचन्द नृप, विश्वामित्रहिं आज ॥

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

कोटिन कुबेरन को कनक कनूका सम,
ताको चारो वेद एक अलप कहानी है।
कामधेनु कल्पतरु चिंतामणि आदिक की,
ताको दान देखि देखि मति चकरानी है।
पाँचहु श्रुति ताकी दासी ह्वै खवासी करैं,
कालहु कराल को न ता सँग बिसानी है।
"दीन" कवि जाके मन मन्दिर में वास करैं,
राम सो सुराजा औ सियासी महरानी है ॥

—लाला भगवानदीन

धर्म-वीर

धर्म-वीर के कवि कहत, ये विभाव वर आन।
वेद सुमृति शीलन सदा, पुनि पुनि सुनब पुरान।
वेद विहित श्रम वचन वपु, औरहु है अनुभाव।
रति आदिक वरणत सुकवि, तहँ सँचारी भाव ॥

—जगद्विनोद

कही रुक्मिनी कान में, यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामहि आप सो, होत सुदामा आप॥

× × ×

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमने चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी।
खाय मुठी तिसरी अब नाथ कहा निज बास की आस बिसारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी।

—नरोत्तमदास

केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय सँवार्‌यो।
छोड़े छुट्यो नहि धोये धुयो बहु तीरथ के जल जाय पखार्‌यो।
ह्वै गयो रंकते राउ तहीं जब बीर बली बलबीर निहार्‌यो।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चार्‌यो।

—केशव दास

जो संपति शिव रावनहि, दीन्ह दिये दसमाथ।
सो संपदा विभीषणहि, सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की,
सम्पति लुटाइबे को हियो ललकत है।

× × ×

"राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हिये साल को।
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।

साजि साजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हें,

भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।

और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,

साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को" ॥

—भूषण

जेहि पाली इक्ष्वाकु सो, अब लौं रघुकुल राज।

ताहि देत हरिचन्द नृप, विश्वामित्रहि आज ॥

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

कोटिन कुबेरन को कनक कनूका सम,

ताको चारो वेद एक अलप कहानी है।

कामधेनु कल्पतरु चिंतामणि आदिक की,

ताको दान देखि देखि मति चकरानी है।

पाँचहु मुकुति ताकी दासी ह्वै गुलामी करैं,

कालहु कराल की न ता सँग बिसानी है।

"दीन" कवि जाके मन मंदिर में वास करैं,

राम सो सुराजा औ सियासी महरानी है ॥

—लाला भगवानदीन

धर्म-वीर

धर्म वीर के वर्नि कहत, ये विभाव उर आन।

वेद सुमृति शीलन सदा, सुनि सुनि सुघ पुरान।

वेद विहित क्रम वचन वपु, ओरहु हैं अनुभाव ।

धृति आदिक वरनत सुकवि, तहँ सँचारी भाव ॥

—[illegible]

वेद तथा स्मृति इत्यादि धार्मिक ग्रंथों में श्रद्धा इसका आलम्बन, पुराणादि श्रवण उद्दीपन विभाव हैं। वेद विहित कर्म अनुभाव और धर्म के यह दस लक्षण सचारी हैं।

"धृति क्षमा दमोस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्" ॥

उदाहरण :—

तृण के समान धन धाम राज त्याग करि,
पाल्यो पितु वचन जो जानत जनैया है।
कहै "पदमाकर" विवेकही को बानो बीच,
साँचो सत्य वीर वीर धीरज धरैया हैं।
सुमृत पुराण वेद आगम कह्यो जो पंथ,
आचरत सोई शुद्ध करम करैया हैं।
मोह मति मदर पुरदर मही को धन्य,
धरम धुरधर हमारो रघुरैया हैं ॥

धारि जटा मलकत भरत, गयो न दुख तजि राज।
भे पूजत प्रभु पादुकन, परम धरम के काज ॥

—जगद्विनोद

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु पोषण हारा। दुर्लभ जननि सकल ससारा ॥
मुनिगण मिलन विशेष बन, सबहि भाँति भल मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मति जननी तोर ॥

× × ×

अतिशय देखि धर्म की हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥
धेनु रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥

× × ×

जानि सभय सुर भूमि मन, बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गंभीर भइ, हरणि शोक सन्देह॥
जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेशा। तुमहि लागि धरिहौं नर वेषा॥
अंशन सहित मनुज अवतारा। लैहों दिनकर वंश उदारा॥

× × ×

शिवि दधीच बलि जो कछु भाषा। तन धन तजेउ बचन प्रण राखा॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

काज मही सिवराज बली हिन्दुवान बढ़ाइबे को उर ऊटै।
"भूषण" भू निरम्लेच्छ करी चहै म्लेच्छन मारिबे को रन जूटै।
हिन्दु बचाय-बचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ टूटै।
चन्द अलोक ते लोक सुखी यहि कोक अभाग को सोक न छूटै॥

—भूषण

लगा सोचने क्या उपाय अब हाय! करूँ मैं।
कैसे स्वामि शरीर पीर गम्भीर हरूँ मैं।
देता इन्हें भगाय तुरन्त निकट जाने से।
पर हूँ मैं लाचार पगों के कट जाने से।
जब लगि तन में प्राण हैं तब लगि मैं सेवक धरम।
कैसे तजूँ सचेत रहि रखि यह तन नश्वर परम॥

× × ×

ये लोभी हैं मास सहज के जब पावेंगे,
इधर यहाँ तो उधर वृथा काहे जावेंगे।

तो मैं निज तन-मास काट दे इन्हें बचाऊँ,
ऐसे स्वामि शरीर पालि निज धर्म बचाऊं।
काटि-काटि असि खड्ग से लगा मांस निज फेंकने,
तजि के राज शरीर को लगे उसे वे लोकने।
—विज्ञयानन्द त्रिपाठी 'श्रीकवि' (अलौकिक स्वामिभक्ति)

कुल गुरु फिर लगे अनेक प्रकार पढ़ाने,
पर पढ़ते क्या प्रह्लाद प्रेम रससाने।
हो चुका प्राप्य जब प्राप्त रहा क्या पाना,
जब मूल हाथ आगया रहा क्या आना।
दिन-दिन अधिकाधिक भक्ति भाव बढ़ता है,
नित रोम रोम में नया रंग चढ़ता है।
करते गुरु ज्यों-ज्यों यत्न और दृढ़ होता,
प्रह्लाद विष्णुमय हुआ जागता सोता॥

× × ×

सुनकर निज गुरु की प्रेम भरी यह वाणी,
बोले उनसे प्रह्लाद जोड़ युग पाणी।
"गुरु देव! पिता जब पूज्य कहे हैं ऐसे,
तब परम पिता पूजार्ह न होंगे कैसे"?
हे आर्य! किसी का शत्रु न हरि को जानो,
अच्युत अनादि अलेय उन्हें तुम मानो।
हरि भजन छोड़ मैं करूँ स्वार्थ की बातें,
हा हा खाता हूँ कहो न ऐसी बातें॥
—मैथिलीशरण गुप्त (प्रह्लाद)

रससामग्री द्वारा वीर-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण पहिला युद्ध-वीर।

पृष्ठ ३७३—समाचार मुद मोदक मेरे॥

भरतजी का वैभव ही यहाँ आलम्बन विभाव है, क्योंकि उसी को देखकर निषाद राज महाराज भरतजी के विरुद्ध-युद्ध के साज सजाने के लिये उद्यत हुए हैं। भरतजी की सेना का शोर तथा कपट का ध्यान, कैकेयी कृत कपट की स्मृति सहित उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि यह निषाद को भरतजी के विरुद्ध रण के लिये उद्यत करने में और भी दृढ़ कराते हैं—इनसे रस विस्तृत होता है। हृदय में विषाद का होना तथा क्रोधित होकर 'ठाठहु सकल मरण के ठाटा" इत्यादि वाक्यों के कथन में शरीरों की स्फुरणादि क्रियाएं, नेत्रों का रक्तवर्ण होना इत्यादि कार्य अनुभाव हैं—जिनका यहाँ पर स्पष्ट वर्णन नहीं है। यहाँ पर निषाद राज भरतजी के गुण (जिसका उसने मन में विचार किया है) न सहन करके उन्हें युद्ध द्वारा क्षति पहुंचाना चाहता है, इसमें असूया। "जियत न सुरसरि उतरन देहू" इत्यादि में गर्व तथा उग्रता इत्यादि का सचार हुआ है। अत असूया, गर्व तथा उग्रता यह सचारी भाव हैं। बस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "उत्साह" स्थायी हुआ, जिसके द्वारा रण की स्थिति होती है, अत युद्ध वीर है।

उदाहरण तेरहवाँ युद्ध वीर।

पृष्ठ ३७७—कपिदल लेकर न बनो दुम्बित ॥

यहाँ जलधि का वैभव ही आलम्बन विभाव है, क्योंकि इसके द्वारा उत्साह हुआ है, यदि समुद्र अगम न होता तो लक्ष्मणजी को उसके विरुद्ध कुछ कहने की क्या आवश्यकता थी? कपिराज की विकलता तथा समुद्र की विकरालता इत्यादि उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस-सुदृढ़ और विस्तृत होता है। समुद्र की गर्जन तथा तरल तरङ्गे भी उद्दीपन हैं। लक्ष्मणजी ने ओजमय वचन कहे उस समय उनके शरीर का वर्ण ताम्रवत्, आँखें लाल, ओष्ठों का फरकना इत्यादि (जिनका वर्णन स्पष्ट नहीं है) आलम्बन विभाव है। गर्व तथा उग्रतादि सचारी भाव हैं। लक्ष्मणजी ने कहा—"क्या है यह जलराशि कहो गए मार सुखाऊँ" इत्यादि यह गर्व तथा असूया और उग्रता का संचार कराते है। बस उक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "उत्साह" स्थायी हुआ। अत यहाँ युद्ध-वीर रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण आठवाँ दया वीर।

पृष्ठ ३८१—हो द्रवित फल कुटिल कौरव पायगे ॥

यहाँ पर कृष्णा की दीनता भरी प्रार्थना—"सन्धि समय मत भूलना इन बालों की बात"—जिसका यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है, आलम्बन विभाव है, क्योंकि इसी के द्वारा महाराज कृष्ण को द्रौपदी को सान्त्वना देने का अवसर प्राप्त हुआ है।

कृष्णा का रुदन करना तथा खेद प्रकट करना, उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा रस उद्दीप्त होता है। कृष्ण के मधुर वाक्य "भद्रे! रुदन कर बन्द हा! हा!" "रोती फिरैंगीं कौरवों की नारियाँ कुछ काल में" इत्यादि के कथन करने में शरीर के जो सहज विकार "कप" इत्यादि प्रदर्शित हुए होंगे वह सात्विकभाव, कर उठाकर सान्त्वना देने में कायिकानुभाव और "जाता हृदय मेरा फटा" में मानसिकानुभाव हैं। महाराज कृष्ण ने इस समय कृष्णा की विपत्ति के साथ ही साथ स्वय भी विपत्ति का अनुभव किया है, किन्तु तो भी धैर्य मौजूद ह, जो उनके "लक्ष्मी सहित, रिपु रहित पाँडव शीघ्र ही हो जायंगे" इत्यादि वाक्यो से प्रगट होता है, अतः धृति सचारी भाव हे। इसी प्रकार कृष्ण ने द्रौपदी से कहा है कि— "शीघ्र ही अपना रुदन बन्द कर क्योंकि मेरा कलेजा फटा जाता है" इत्यादि वाक्यों से प्रकट होता है कि उनमें उस समय कुछ अस्थिरता आगई। अतः 'चपलता" का सचार हुआ। बस इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के सयोग से चित्त में 'दया' की स्थिरता हुई। अत "दया-वीर रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला दान-वीर।

पृष्ठ ३८२—सम्पति सुमेर की निज गोद ते उतारैना॥

यहाँ पर याचक लोग अथवा वह कार्य जिसके कारण उसके चित्त में दान देने का उत्साह स्थिर हुआ है, आलम्बन विभाव है। और उस समय का दानोत्साह जिसके कारण "रघुनाथ राव" "सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावे, तुरन्त

लुटावे" "विलंब उर धारेना" इत्यादि कार्य्यों की सिद्धि होती है, उद्दीपन विभाव है। उसकी दातव्य शीलता (जिसके कारण उमा को भी खटका हुआ कि कहीं हाथी के धोखे मेरे पुत्र गजानन को दान में न देदें, उसे गोद में छिपा लिया) आलम्बन विभाव है। 'हर्ष' संचारी भाव है, क्योंकि इस पद्य में सर्वत्र-दाता में दान देने का हर्ष तरङ्गवत् व्याप्त हो रहा है। बस इन स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से "दान-वीर" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला धर्म-वीर।

पृष्ठ ३८६—तृण की समान ...रघुरैया है॥

स्मृति, पुराण, वेद तथा आगम में वर्णित धर्म का आचरण ही "आलम्बन" विभाव है, क्योंकि इसी के कारण महाराज रामचन्द्रजी ने धन, धाम तथा राज को तृणवत् त्याग दिया। "विवेक का बाना" उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इसके कारण धार्मिकता और भी प्रौढ अथच पुष्ट होती है। "शुद्ध-कर्म" अनुभाव है, क्योंकि वेद विहित धर्म तथा विवेक रूपी कारणों के कार्य स्वरूप हैं। अथवा यों कहिये कि भावों का अनुभव कराते हैं। इसी प्रकार रामचन्द्रजी के वन आने में शील, क्षमा, शान्ति इत्यादि तरङ्गवत् सञ्चार कर रहे हैं, अतः ये सञ्चारी भाव हैं। बस इन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के सयोग से "धर्मोत्साह" स्थायी हुआ है, अत: "धर्म-वीर" की सिद्धि हुई।

भयानक-रस

जाको थाई भाव भय, यहै भयानक जान।
लखन भयकर गजन कछु, ते विभाव वर आन॥
कम्पादिक अनुभाव तहँ, सचारी मोहादि।
काल देव कैला वरण, सुभयानक रस आदि॥

—जगद्विनोद



य की स्थिरता को भयानक रस कहते हैं। भयावह पदार्थ, दृश्य, ईति, भीति इत्यादि इसके विभाव हैं, कम्प इत्यादिक अनुभाव हैं, इसी प्रकार मोह इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इस रस का देवता काल और रङ्ग कृष्ण है।

अधर्मी, कुमार्गी तथा नीति भ्रष्ट मनुष्य इसी रस के सम्पर्क से निरुत्साह हो जाते हैं, जो मनुष्य निष्प्रयोजन ही किसी को कष्ट देते हैं, उनको उनके कृत कर्मों का स्मरण करा व्याकुल करा देनेवाला यही रस है। औरङ्गजेब जब मरने को हुआ तो अपने पिता को बन्दीगृह भेजने, अपने भ्राताओं का अपघात करने तथा अन्य कितने ही पाप कर्मों का स्मरण कर थर थर काँपता था, अत्यन्त भयातुर था। इसके प्रमाण में पाठक उस पत्र का निरीक्षण करें, जो मरने के कुछ काल पूर्व उसने अपने पुत्र "आजम" को लिखा है। इसी प्रकार महमूद गजनवी अपने अन्तकाल में अपने लूटे हुए द्रव्य की थैलियों को अपने सामने मगाकर रोया था, उसको अपने पापों

लुटावे" "विलंब उर धारेना" इत्यादि कार्यों की सिद्धि होती है, उद्दीपन विभाव है। उसकी दातव्य शीलता (जिसके कारण उमा को भी खटका हुआ कि कहीं हाथी के धोखे मेरे पुत्र गजानन को दान में न देदें, उसे गोद में छिपा लिया) आलम्बन विभाव है। 'हर्ष' संचारी भाव है; क्योंकि इस पद्य में सर्वत्र-दाता में दान देने का हर्ष तद्वत् व्याप्त हो रहा है। बस इन स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से "दान-वीर" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला धर्म-वीर।

पृष्ठ ३८६—तृण की समान "रघुरैया है॥

स्मृति, पुराण, वेद तथा आगम में वर्णित धर्म का आचरण ही "आलम्बन" विभाव है, क्योंकि इसी के कारण महाराज रामचन्द्रजी ने धन, धाम तथा राज को तृणवत् त्याग दिया। "विवेक का बाना" उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इसके कारण धार्मिकता और भी प्रौढ अथच पुष्ट होती है। "शुद्ध-कर्म" अनुभाव है, क्योंकि वेद विहित धर्म तथा विवेक रूपी कारणों के कार्य स्वरूप है। अथवा यों कहिये कि भावों का अनुभव कराते है। इसी प्रकार रामचन्द्रजी के वन जाने में शील, क्षमा, शान्ति इत्यादि तद्वत् सञ्चार कर रहे हैं, अत ये सञ्चारी भाव है। बस इन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों के संयोग से "धर्मोत्साह" स्थायी हुआ है, अत "धर्म-वीर" की सिद्धि हुई।

भयानक-रस

जाको थाई भाव भय, यह भयानक जान।
लखन भयकर गजब कछु, ते विभाव उर श्रान॥
कम्पादिक अनुभाव तहँ, सचारी मोहादि।
काल देव कला वरण, सुभयानक रस आदि॥

—जगद्विनोद



य की स्थिरता को भयानक रस कहते हैं। भयावह पदार्थ, दृश्य, ईति, भीति इत्यादि इसके विभाव हैं, कम्प इत्यादिक अनुभाव हैं, इसी प्रकार मोह इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इस रस का देवता काल और रङ्ग कृष्ण है।

अधर्मी, कुमार्गी तथा नीति भ्रष्ट मनुष्य इसी रस के सम्पर्क से निरुत्साहस हो जाते हैं, जो मनुष्य निष्प्रयोजन ही किसी को कष्ट देते हैं, उनको उनके कृत कर्मों का स्मरण करा व्याकुल करा देनेवाला यही रस है। औरङ्गजेब जब मरने को हुआ तो अपने पिता को बन्दीगृह भेजने, अपने भ्राताओं का अपघात करने तथा अन्य कितने ही पाप कर्मों का स्मरण कर थर थर काँपता था, अत्यन्त भयातुर था। इसके प्रमाण में पाठक उस पत्र का निरीक्षण करें, जो मरने के कुछ काल पूर्व उसने अपने पुत्र "आजम" को लिखा है। इसी प्रकार महमूद गजनवी अपने अन्तकाल में अपने लूटे हुए द्रव्य की थैलियों को अपने सामने मँगाकर रोया था, उसको अपने

का स्मरण आता था, इसके साथ ही अपने कर्मों के फल स्वरूप ईश्वरीय दंड का भी भय था। महाराज कृष्ण के दर्शन मात्र से ही कंस का हृदय प्रकम्पित हो गया था। भगवान नृसिंहजी के भयंकर रूप पर दृष्टि करते ही हिरण्यकश्यप मृत प्राय हो गया था, उसका कलेजा धड़कने लगा था। यह रस भगवद्भक्ति में भली भाँति संलग्न करा देता है, जिस समय किसी भयंकर दुर्घटना का सामना हो, छुटकारा पाने की कोई आशा न हो तथा त्राण का कोई मार्ग न हो, उस समय परमात्मा की ओर खूब लौ लगती है, उसी का सहारा होता है और उसी के द्वारा रक्षा होती है। यह रस मनुष्य से बुरी भावनाओं के दूर कराने के लिये एक अस्त्र है, इसी रस द्वारा भगवान् रामचन्द्रजी ने सुरेन्द्रात्मज जयंत को शिक्षा दी थी।

ऐसे प्रभावशाली रस के विशेष स्पष्ट करने के लिये हम कुछ कविवरों की कविताएं नीचे उद्धृत करते हैं :—

उदाहरण

भरि भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कल मले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल विकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

× × ×

लागत अवध भयानक भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥
घोर जन्तु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जम दूता॥

× × ×

बैताल भूत पिसाच। कर धरे धनुष नराच॥
जोगिनि गहे करवाल। इक हाथ मनुज कपाल॥

× × ×

धरु मारु बोलहिं घोर। रहि पूरि धुनि चहुँ ओर॥
मुख बाय धावहिं खान। तब लगे कीस परान॥

× × ×

भय विकल बानर भालु। पुनि लाग बरषन बालु॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

लाइ-लाइ आगि भागे बाल जाल जहाँ तहाँ,
लघु ह्वै निबुक गिरि मेरु तें बिसाल भो।
कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ौ
रावण भवन चढ़ि ठाढ़ो तिहि काल भो।
तुलसी बिराज्यो ब्योम बालधि पसारि भारी,
देखे हहरात भट काल सो कराल भो।
तेज को निधान मानो कोटिक कृसानु भानु,
नख विकरात मुख तैसो रिस लाल भो॥

× × ×

बालधि बिसाल बिकराल ज्वाल जाल मानो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस चाँप दामिनी कलाप कैधों,
कैधों चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है

देखैं यातुधान यातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है।

× × ×

पानी पानी पानी सब रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी गति जानी गज चालिहै।
बसन बिसारैं मणि भूषण सँभारत ना,
आनन सुखाने कहैं क्योहूँ कोऊ पालिहै
तुलसी मँदोवै मींजि हाथ धुनि माथ कहै,
काहू कान कियो न मैं कह्यो केतो कालि है
बापुरो बिभीषण पुकारि बार बार कह्यो,
बानर बड़ी बलाय घने घर घालि है॥

× × ×

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाँहि,
सकैं ना बिलोकि बेष केसरी कुमार को।
मींजि-मींजि हाथ धुनि माथ दसमाथ तिय,
तुलसी तिलौन भयो बाहर अगार को।
सब असबाब डारो मैं न काढ़ो तैं न काढ़ो,
जिवकी परी सँभारै सहन भँडार को।
खीझती मदोवै सविषाद देखि मेघनाद,
बयो लुनियत सब याही दाढ़ी जार को।

× × ×

लागि-लागि आगि भागि-भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय बाप पूतन सभारहीं।

छूटे धार मसन बघारे धूम धुन्द अध,
कहै धारे बूढ़े धारि-धारि धार धारहीं।
हय हिहनात भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिल्लात बिल्लात अकुलात अति,
तात-तात तौंसियत भौंसियत फारहीं॥

—तुलसीदास (कवितावली)

वानर बरार बाघ बेहर बिलार, बिग,
बगरे बराह जानवरन के जोम हैं।
भूषन भनत भारे भालुक भयानक हैं,
भीतर भवन भरे लीलगऊ लोम हैं।
ऐंडायल गज गन गैंडा गररात गनि,
गेहन में गोहन गरूर गहे गोम हैं।
सिवाजी कि धाक, मिले खल कुल खाक बसे,
खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं॥

× × ×

सूबनि साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी।
औरँग आपनि दुग्गजमाति बिलोकत तेरियै फौज दरेरी।
साहि तनै सिवसाहि भई भनि भूषन यो तुव धाक घनेरी।
रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति-सूरति घेरी॥

× × ×

जा दिन चढ़त दल साजि अवधूत सिंह
ता दिन दिगंत लौं दुवन दाटियतु है।

प्रलै कैसे धाराधर धमकै नगारा धूरि-
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।
"भूषन" भनत भुनिगोल के कहर तहाँ,
हहरत तगा जिमि गज फाटियतु है।
काँच से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठीसी बाँटियतु है॥

× × ×

दुरजनदार भजि-भजि बेसम्हार चढ़ीं,
उत्तर पहार डरि सिवाजी नरिन्द तें।
भूषण भनत बिन भूषन बसन साधे,
भूखन पियासन हैं नाहन को निन्द तें।
बालक अयाने बाट बीच ही बिलाने-
कुम्हिलाने मुख कोमल अमल अरबिन्द ते।
दृगजल कज्जल कलित बढ़्यो कढ्यो मानौं,
दूजो सोत तरनि तनूजा को कलिन्द ते॥

× × ×

चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर-थर काँपत कुतुबसाह गोलकुंडा,
हहरि हबस-भूप भीर भरकति है।

राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती दरकति है॥
—भूषण

झलकति आवैं झुंड झिलम झलानि झप्यौ,
तमकत आवैं तेग वाही औ सिलाही है।
कहै "पदमाकर" त्यों दुन्दुभि धुकार सुनि,
अकबक बोलैं यों गनीम औ गुनाही है।
माधव को लाल कालहू तें विकराल दल,
साजि धायो ये दई दई धौं कहा चाही है।
कौन को कलेऊ धौं करैया भयो काल अरु,
काप यो परैया भयो गजब इलाही है॥

× × ×

ज्वाला की जलनि सी जलाक जग जालन की,
ओर की जमा है जोम जुलुम निलाहे का।
कहै 'पदमाकर' सुरहियो बचाये जग,
जालिम जगतसिंह रंग अवगाहे की।
दौरि दाग दारन पै द्वार सो दिवाकर की,
दामिनी दमकनि दलेल दिगदाहे की।
काल की कुटुम्बिनि कला है कुटिल कालिका की
कहर की कुन्त को नजरि कछवाहे की॥

× × ×

भुवन धुन्धरित धुनि धुनि उच्चरित सुदुम्मु।
पदमाकर पतच्छद स्वच्छद लखि परत न भुम्मु।
भगति अरि पर पग पग लागत मग अगनि।
तहँ प्रताप पृथिपाल त्यागत ध्वैनत सुनि स्वग्गनि।

तहँ तनहि तोपि तुङ्गनि तडपि तंतडान तेगनि तडकि।
धुकि धड-धड़ धड-ग्रड धडा धड-ग्रड धड़ात तद्धा वडकि॥

× × ×

एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृग राइ।
विकल बटोही बीच ही, परो मूरछा खाइ॥

—पद्माकर

पौन पूत आग कौं लगाय "भगवत" कपि,
लगत न घाव काहु तुपक न तीर को।
रातो भयो आसमान तातो भयो भासमान,
कारो पीरो नीर भयो नीरधि के तीर को।
लंका लागी बरन जरन रन्वास लाग्यो,
व्याकुल है असुर धरैं न रन धीर को।
सुरन को जाप है कि सीता को सराप है,
कि रावन को पाप के प्रताप रघुवीर को॥

—राजा भगवन्तसिंह खीची

दौरदंड परसे दमकि दामिनी सो उठौ,
कठिन कठोर जोर सोर सहरानो है।
जोरत प्रतचा चाप टोरत न ताकौं कोऊ,
चारो ओर प्रले घन घोर घहरानो है।
खंड खंड हरो देखि परो महि मंडल में,
'अयेन बिहारी सरण' भान भररानो है।
झंझा झररानो महानाद नररानो,
प्रभु चाप चररानो के अकाय अररानो है॥

—अवध बिहारी शरण

हम करें नौकरी बहुत तलब कम पाते,
थे किसी तरह से अब तक पेट जिलाते।
इस मँहगी से नित एकादशी मनाते,
लड़के वाले सब घर में हैं चिल्लाते।
है देखो हाहाकार मचो दिसि चारी,
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥

—बद्रीनारायण चौधरी

समस्त सर्पों सँग श्याम ज्यों कढ़े,
कलिन्द की नन्दनि के सुअंक से।
खड़े किनारे जितने मनुष्य थे,
सभी महा शंकित भीत हो उठे।
हुए कई मूर्छित घोर-त्रास से,
कई भगे मेदिनि में गिरे कई।
हुई यशोदा अति ही प्रकम्पिता,
ब्रजेश भी व्यस्त-समस्त हो गये॥

× × ×

निदाघ का काल महा दुरन्त था,
भयावनी थी रवि रश्मि होगई।
तवा समा थी तपती वसुन्धरा,
स्फुलिंग-वर्षा-रत तप्त व्योम था।
प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में,
ज्वलंत था आतप ज्वाल मालसा।

पतग की न्यूग महा प्रचडता,
प्रकम्पिता पादप पुंज पंक्ति थी ॥

× × ×

असह्य उत्ताप अतीव था हुआ,
महा समुद्विग्न मनुष्य मात्र था।
शरीरियों को प्रिय ग्लानि नागिनी,
निदाघ की थी अति उग्र उग्मता।

× × ×

स्वशावका साथ स्वकीय नीड म,
अबोल हो के खग वृन्द था पड़ा।
सभीत हो ताप निदाघ से मनो,
नहीं गिरा भी तजती स्वसद्म थी।

× × ×

अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा,
सव्यग्रता थे सब ओर भागते।
नितान्त ही भीत सरी सृपादि भी,
घने महा व्याकुल थे पला रहे।

प्रलम्ब आतंक प्रसू, उपद्रवी। अतीव मोटा यम दीर्घ दण्ड सा।
कराल आरक्तिम-नेत्रवान औ। निपात फूत्कार निकेत सर्प था।
विलोकतेही उसको वराह को। विलोप होती पर वीरता रही।
अधीर होते बनता । । बड़ा बली वज्र शरीर-केसरी ॥

× ×

पला रहे थे उसको विलोक के। असंख्य प्राणी वन में इतस्तत।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो। समीप के गोप सधेनु मंडली।
बड़ा बली एक विशाल अश्व भी। वनस्थली में विकराल मूर्ति था।
दुरन्तता से जिसकी निपीडिता। नितान्त होती पशु मण्डली रही।
प्रमत्त हो, था जब अश्व दौड़ता। प्रचण्डता साथ प्रभूत वेग से।
अरण्य भू थी तब भूरि काँपती। अतीव होती ध्वनिता दिशा रही॥

× × ×

पराक्रमी वीर-वलिष्ठ गोप भी। न सामना थे करते तुरंग का।
परंच वे थे बनते विमूढ़ से। उसे कहीं देख भयाभिभूत हो॥

—प्रिय-प्रवास (हरिऔध)

हरहरात इक दिस पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामे घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक मण्डली कहूँ अमंगल मंत्र उचारैं।
भई आनि तब साँझ घटा छाई घिरि कारी।
सनै-सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी॥
भये इकट्ठा आनि तहाँ डाँकिन पिसाच गन।
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन॥
आकृति अति विकराल धरे कुल्ला मे कारे।
वक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे।

—जगन्नाथदास (रत्नाकर)

पाकर भाला सिंहनाद करि वृन्द हो गया मतवाला।
छिपते फिरते हैं मृग भय का पड़ा बुद्धियों में ताला॥
इनकी देख दुर्दशा डर से 'हर! हर!' कहता है नाला।
भय से छिप तम ने सोचा 'क्या जगी काल की है ज्वाला'॥

—बद्रीनाथ भट्ट

रामदास स्वामी का उसको ज्योंहीं ज्ञात हुआ वृत्तान्त।
भय से कँपने लगे अंग सब होकर संज्ञाशून्य नितान्त॥
साधारण वैरागी गिनकर जिसकी धुन डाली थी देह।
बैठे वही शिवाजी के थे पूज्यपाद गुरु प्रभुता गेह॥
घोर दंड के ध्यान मात्र से रक्तहीन था उसका गात्र।
करके भूल बना बेचारा क्रूर कोप का पूरा पात्र॥
आर्त स्वर से त्राहि-त्राहि कर किन्तु लिया जब चरण प्रसाद।
शुभाशीष दे श्रीसमर्थ ने किया अभय उसको साह्लाद॥

—गोकुलचन्द्र शर्मा

लिये एक में शस्त्र अन्य कर में कुश पानी।
जीत दान के लिये रहे तत्पर मुनि ज्ञानी॥
पृथ्वी कंपित हुई नाम से परशुराम के।
सहमे सदा सभीत निवासी देव धाम के॥

—कामताप्रसाद गुरु

आने लगीं वन से रँभाती हुई गाय शीघ्र।
भागे गोप वृंद वेगि सारे सरावोर से॥
कान पड़ी बात भी पड़ी नेक नहीं।
मे गोर ऐसे बड़े जोर से॥

दौड़े रोन छोड़-छोड़ बालक जो ठौर-ठौर।
दीखे बीथियों में बहे बारि की हिलोर से॥
मार कर फूक मानो मोरनी भी प्यार भरी।
बोली बार-बार छिपने को कहीं मोर से॥
काले-काले नीर वाले मेघों में प्रकाश छिपा।
मानो व्रज-अंधकार सिन्धु में समा गया॥
बार-बार वाडव शिखा की भाँति भीत कर।
अम्बर में दामिनी-विभास भूरि भागया॥
होने लगी घोर नीर-वर्षा व्रज बोरने को।
'त्राहि-त्राहि-त्राहि' शोर चारों ओर छागया॥
धीरज समीर के झकोरों में सभी का उड़ा।
पाहि-पाहि प्रलय प्रसंग पास आगया॥

—मैथिलीशरण गुप्त (गोवर्धन धारण)

इन्द्र धनुष सम विविध वर्ण-मय वीरों के वस्त्रों वाली।
चपल चंचला के प्रकाश सम चमकीले शस्त्रों वाली॥
पवन वेग मय वाहन वाली गर्जन करती हुई बड़ी।
उसी जगह से घन माला सम कौरव सेना दीख पड़ी॥
सूर्य्योदय होने पर दीपक होजाता निष्प्रभ जैसे।
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैसे॥
क्षण भर में ही उसका तो वह पहला साहस लुप्त हुआ।
जगा हुआ उत्साह भीति को जागृत करके सुप्त हुआ!
बोला तब भय से कातर वह शक्ति भूलि अपनी सारी।
देखो-देखो, बृहन्नले! यह सेना है कैसी भारी!

इसे देखकर धैर्य छूटता अग आपही है थकते।
मैं क्या, इसे स्वय सुर-गण भी रण म नहीं हरा सकते॥
मैं किस भाँति लडूगा इससे, लोटायो रथ अश्व अभी।
सैन्य सहित जब पिता आयँगे होगा यस अब युद्ध तभी॥
बिन्दु और सागर की समता हो सकती है भला कहां?
गुरुतम गिरि से गज शावक को टक्कर लेना योग्य नहीं॥
—मैथिलीशरण गुप्त (उत्तर और बृहन्नला)

रस-सामग्री द्वारा भयानक-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण पहिला, खड १

पृष्ठ ३६४—अरे भुजन वचन उचारहीं॥

यहाँ रविवाजि, दिग्गज, महि, अहि, कोल, कुरम, सुर, असुर और मुनि आलम्बन विभाव हैं, क्योंकि इन पर ही भय का अवलम्ब है—बिना इनके आश्रय के रस की स्थिति नहीं हो सकती। "राम का कोदंड खडन तथा घोर कठोर रव" उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इसके द्वारा भय सुदृढ, विस्तृत तथा उद्दीप्त हुआ है। "मार्ग तज कर चलना, चिक्कारना, डोलना, कलमलाना और कान में हाथ देकर तथा विकल होकर विचारना" यह अनुभाव है, क्योंकि इनके द्वारा उपर्युक्त भावो का बोध होता है और यही उपर्युक्त रसोत्पत्ति कर्त्ता कारणो के कार्य स्वरूप है। भूमि के डोलने, चिक्कारने तथा व्याकुल होने में क्रमश कप, स्वरभङ्ग और स्तम्भ, सात्विकानुभाव हैं। मार्ग तज कर चलना । इसी प्रकार विकल होकर

बिचारना, मानसिकानुभाव है। विषाद, चिन्ता तथा त्रास सचारी भाव है, चिन्ता और विषाद असुरों को उत्पन्न हुए क्योंकि धनुष के टूटने में उन्हें अपने विनास का ध्यान हुआ और त्रास रवि-वाजि इत्यादि सभी को हुआ। बस उपर्युक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "भय" स्थायी हुआ। अत "यहाँ भयानक-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला, खड ३

पृष्ठ ३६५—बैताल भूत वरपत बालु ॥

यहाँ वानर-भालु आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन पर ही रस का अवलम्ब है। कवि ने इनके ही द्वारा पाठकों को भय का दिग्दर्शन कराया है। बैताल, भूत तथा पिशाचों के भयावने रूप, उनके डरावने शब्द "धरु मारु" इत्यादि, मुख फैलाकर खाने को दौडना, बालू का बरसना, उनके हाथों में धनुष, नराच और कर वाल इत्यादि हत्याकारी अस्त्रादि का मौजूद होना और मृत पुरुषों के शिर इत्यादि का जोगनियों के पास होना "उद्दीपन विभाव" है। क्योंकि इनके द्वारा भय की और भी अधिक वृद्धि तथा पुष्टि होती है। "लगे कीस परान" और "भय विकल वानर-भालु" अनुभाव हैं, क्योंकि इन के द्वारा भय का अनुभव होता है। बन्दरो के भयभीत होकर भागने में कायिकानुभाव हैं, क्योंकि भागने की क्रिया शरीर के एक मुख्य अंग द्वारा की गई है। वानरों तथा भालुओं का भय से व्याकुल होना मानसिकानुभाव है, क्योंकि व्याकुलता का प्रभाव मन पर हुआ, इसी

प्रकार भय से उन लोगो का कम्पित होना, रोमांचित होना तथा स्तम्भित होना इत्यादि—जिनका यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है—सात्विकानुभाव है। इन विभाव और अनुभाव रूपी कारणों द्वारा "त्रास" रूपी कार्य की सिद्धि हुई। अत 'त्रास' सचारी भाव हुआ। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सम्मेलन से "भय" स्थायी भाव स्थिर हुआ। और इस सम्पूर्ण सामग्री द्वारा "भयानक-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण चौथा, खड $\frac{2}{48}$

पृष्ठ ३६६—झलकति आवें गजब इलाही।

यहाँ गनीम और गुनाही आलम्बन विभाव है, क्योकि यही रस के आधार स्वरूप हैं, यही रस के मुख्य कारण है। यदि कवि यहाँ गनीम और गुनाहियो का वर्णन न करता तो उसको रस उत्पन्न कराने में बडी भारी कठिनाई उपस्थित होने की आशका थी। "कालहु ते विकराल माधव के लाल के दल का आना" "भु डझिलम झलान का झलकता आना" "तेगवाही (खड्गधारी) और सिलाहीं (हथ्यारबद) इत्यादि का तमक कर आना" यह उद्दीपन विभाव हैं, क्योकि इनसे रस उद्दीत होता है। भय का कारण जो गनीम और गुनाहियो के हृदय में पहिले ही से उपस्थित था, इन सब कारणो से और भी अधिक विकसित हुआ है—इन्हीं के द्वारा रस का विस्तार हुआ है। दुदभी की धुकार इत्यादि भी उद्दीपन विभाव ही है। इन उपर्युक्त कार्यों का अनुभव 'अकबक' बोलने, "दईदई

कहा धौं चही" "कौन को कलेउ धोकरैया भयो काल" "कापै यों परैया भयो गजब इलाही" इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट प्रगट होता है, अतः यह अनुभाव हैं। "अकबक" बोलने इत्यादि कार्यो में "स्वर भंगादि" सात्विकानुभाव है, उस समय उन्हीं लोगो के शरीर द्वारा जो चेष्टाएं की गईं होंगी उनमें कायिकानुभाव हैं, किन्तु यहाँ यह भाव स्पष्ट नहीं हैं। मन में विचार करते कि आज किस पर काल कोपा इत्यादि, में मानसिकानुभाव है। "चिन्ता" "शङ्का" तथा त्रास इत्यादि सचारी भाव हैं, क्योंकि यहाँ तरगवत् इन का सचार हो रहा है। "दई-दई धौं कहा चही" में "चिन्ता" सचारी स्पष्ट है, यह आज किस पर कोपा है ? किस पर 'गजब इलाही पडेगा' इत्यादि बातों मे "शंका" का सचार हुआ है और टूटे फूटे शब्दों के बोलने इत्यादि में त्रास का निवास है। इस प्रकार इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सयोग से "भय" स्थायी हुआ। और इस सम्पूर्ण सामग्री के सम्मेलन से "भयानक-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण दसवाँ, खड २३

पृष्ठ ४०२—समस्त सर्पो संग व्यस्त समस्त होगये।

ब्रजेश, यशोदा तथा समस्त उपस्थित जन समुदाय "आल स्वन" विभाव है क्योंकि इनके द्वारा...

यही भय की दशा प्रकाशित ...

समस्त सर्पो के साथ महाराज

को चीर कर निकलना

को और भी दृढ करता है। इन उपर्युक्त दोनो कारणों से "किनारे पर खडे हुए समस्त मनुष्यो का शकित होना" "मूर्छित होना" "भागना" "यशोदाजी का प्रकम्पित होना" और "व्रजेश का व्यस्त होना" कार्य्यों की सिद्धि हुई, अथवा यो कहिये कि इन वाक्यो से विभावो का अनुभव हुआ, अत यह "अनुभाव" है। मनुष्यो के शकित होने में मानसिकानुभाव है, क्योकि शका का करना काम मन का ही है, मनुष्यो के भागने इत्यादि शरीराङ्गों द्वारा किये गये कार्य्यों में कायिकानुभाव है और "मूर्छित होना" "कम्प" तथा स्तम्भादि सात्विकानुभाव है। इन समस्त कारण, कार्य्यों में "शका" "त्रास" "आवेग" "जडता" इत्यादि का तरगवत् अविर्भाव है, अत वे सचारी भाव हैं। मनुष्यो का शकित होना और त्रासग्रस्त होना कवि ने स्पष्ट वर्णन किया है, लोगों के एक दम उठकर दौड़ने तथा गिरने म आवेग और चपलता का सचार हुआ है। और व्रजेश के व्यस्त समस्त होने में जडता सचारी है। बस इन कारण, कार्य और सहायको की सहायता से "भय" स्थायी हुआ, अत "भयानक-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण सोलहवा, खड २६

पृष्ठ ४०५—रामदास स्वामी का साह्लाद ॥

यहाँ पर "भूल करके क्रूर कोप का पूरा पात्र बननेवाला बेचारा (कृषक) "आलम्बन विभाव है" क्योकि वही भय के प्रदर्शित कराने में मुख्य कारण है और उसी के द्वारा रस आलम्बित हुआ... "शिवाजी के पूज्यपाद गुरु का

होना" "उनको अपने द्वारा दंड दिये जाने का स्मरण" तथा शिवाजी द्वारा अपने दंडित होने का ध्यान "उद्दीपन विभाव" हैं क्योंकि इनके द्वारा रस और भी प्रदीप्त होता है। "कृषक की देह का रक्त हीन होना" "अंगों का प्रकम्पित होना" "संज्ञाशून्य होना" तथा उसका आर्त्तनाद और त्राहि-त्राहि की पुकार 'अनुभाव' हैं; क्योंकि इनके द्वारा भावों का बोध होता है, यह कारण रूप विभावों के कार्य हैं। 'रक्तहीन होना' तथा 'संज्ञाशून्य' होने में वैवर्ण्य और अङ्गों के प्रकम्पित होने में "कम्प" सात्विकानुभाव हैं। दंड के ध्यान इत्यादि करने में मानसिकानुभाव और उसके आर्त्तनाद करने तथा त्राहि-त्राहि की पुकार करने के समय जो चेष्टाएं की गई होंगी और जिनका यहाँ स्पष्ट वर्णन नहीं है "कायिकानुभाव" है। शंका, विषाद, चिन्ता, दीनता और त्रास सञ्चारी भाव हैं। 'न जाने क्या दंड दिया जावे' इत्यादि ध्यान (जो यहाँ गुप्त है) शंका प्रकट करते हैं। साधू को साधारण आदमी समझ कर दंड देने में विषाद, अपने दंडित होने के ध्यान में 'चिन्ता' और त्राहि-त्राहि करने इत्यादि में "दीनता" और काँपने तथा संज्ञा रहित होने में त्रास का संचार हुआ है। इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग से "भय" स्थायी हुआ। अतः इस सब सामग्री द्वारा "भयानक-रस" की सिद्धि हुई।



वीभत्स-रस।

थाई जासु गलानि है सो वीभत्स गनाव।
पीव, मेद, मज्जा, रुधिर, दुर्गन्धादि विभाव॥
नाक मूदिवो कम्पतन, रोम उठन अनुभाव।
मोह, असूया, मूर्छादिक संचारी भाव॥
महाकाल सुर नील रँग, सु वीभत्स-रस जानि।
ताको कहत उदाहरण, रस ग्रन्थनि उर आनि॥

—जगद्विनोद



निकी पूर्ण स्थिरता का नाम वीभत्स-रस है। पीव, मेद, मज्जा, रुधिर और दुर्गन्धादि घृणार्ह पदार्थ इसके विभाव हैं। और शरीर का प्रकम्पित होना, नाक का बन्द करना और रोमाँच इत्यादि का होना अनुभाव हैं। मोह, असूया और मूर्छा इत्यादि इसके संचारी भाव हैं। इस रस का देवता महाकाल, और रंग नीला है।

यह रस हमारे हृदय में विरक्त भाव का संचार कराता है। बुरी कथाओं के श्रवण करने से मन में घृणा, कुसंग से उदासीनता और कुकर्मों से निन्दा का भाव उत्पन्न कराने वाला यही रस है। आदि में इस रस द्वारा उन वस्तुओं, दृश्यों तथा समाचारों में घृणा उत्पन्न होती है जो ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं, पश्चात् उन वस्तुओं, कार्यों

स्वभावों से अरुचि होती है जो मन से सम्बन्धित है। इसी प्रकार मिथ्या, अनाचार युक्त और दूषित कार्य्यों से प्रथकत्व कराना। यदि इस रस का एक क्षुद्रसा आदेश है जो ईश्वरोपासना रूपी महान कार्य्यों की ससिद्धि के वाधक स्वरूप अनेकों कुकर्मों का वायकाट कराता। ऐसे—अद्वितीय और उत्कृष्ट कार्य्य भी इसी रस के वायें हाथ का खेल है।

अब हम नीचे वीभत्स-रस के कुछ चुने हुए उदाहरण अंकित करते हैं, जो इस रस के समझने में विशेष लाभकारी सिद्ध होंगे। उदाहरण :—

कटकटहि जम्बुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर साचहीं।
बेताल वीर कपाल ताल बजाइ जोगिन नाचहीं।
अतावरी गहि उडत गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
सग्राम पुर वासिन मनहु बहु वाल गुड्डि उडावहीं।

× × ×

जल जतु गज पदचर तुरग खर विविध वाहन को गने।
सर शक्ति तोमर सर्प चाप तरग चर्म कमठ घने।

× × ×

मज्जहि भूत पिसाच वेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला॥
काक कक लै भुजा उडाहीं। इकते छीन एक लेइ खाहीं॥
खींचहि गीध आंत तट भये। जनु वंसी खेलहि चित दये॥
बहु भट बहहि चढ़े खग जाहीं। जनु नावर खेलहि सरि माही॥
स्रवहि सैल जनु निर्झर वारी। शोणित सर कादर भय कारी॥

× × ×

कादर भयकर रुधिर सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूलदल रथरेत चक्र अवर्त्त बहति भयावनी।
जल जन्तु गज पदचर तुरग रथ विविध वाहन को गने।
शर शक्ति तोमर परशु चाप तरंग चर्म कमठ घने।

× × ×

वीर पड़े जनु तीर तरु, मज्जा बहि जनु फेन।
कादर देखत डरहिं जिय, सुभटन के मन चैन॥

सोनित स्रवत सोह तन कारे। ॥

× × ×

आहुति देत रुधिर अरु भैंसा। ॥

× × ×

कीन्हेसि वृष्टि रुधिर कच हाडा। ॥

—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

माता ही को मास तोहिं लागतु है मीठो खरा,
पियत पिता को लोहू नेक न अघाति है।
भैयन के कटन को काटत न कसकति,
तेरो हियो कैसो है जु कहत सिहाति है।
जब-जब होति भेंट मेरी भट्ट तब-तब,
ऐसी सोहैं दिग डठि खानि न अघाति है।
गेतनी पिशाचिनी निशाचरी की जाई है तू,
केसौराय की सो कहु तेरी कौन जाति है।

× ×

टूटे टाट घुन घने धूम धूमसेन सने,
झींगुर छगोडी साँप बिच्छुन की घात जू।
कटक कलित तृन घनित बिगध जल,
तिनके तल-पतल ताको ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अँधतम अँधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेड़ी में घुसे कि घर ईंधन के घन स्याम,
घरघरनीनि यह जात न घिनात जू।
—केशवदास (रसिक प्रि

पद्दत मत्र अर पत्र अत्र लीलति इमि डुग्गिन।
मनहुँ गिलत मदमत्त गरुड़ तिय अरुण उरग्गिन॥
× × ×
हरबरात हरपात प्रथम परसन पलपगत।
जहँ प्रताप जित जग रँग अँग अँग उमगत॥
जहँ पदमाकर उतपत्ति अति रन रकत नदिय बहत।
चक चकित चित्त चरबीन लुभि चकचकई चही रहत॥
× × ×
रिपु आँतिन की कुंडली, जुग्गिनि मिलि जुचनाति।
पीबहि में पागी मनो, जुवति जलेबी खाति॥
× × ×
आनन गनानि जो बखान करों ज्यादा यह,
मादा मानुत औ मज्जा की मलीती है।
कहै पदमाकर जरा लौं जागि भीजी तन,
छीजा

सीतापति राम में सनेह यदि पूरो कियो,
तो तो दिव्य देह यम यातना ते जीती है।
रीतों रामनाम तें रही जो बिना काम यह,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है॥

—पद्माकर

लखि विरूप सूरपनखें, रुधिर चरबि चुचुमात।
सिय हिय में घिनकी लता, भई सु द्वै द्वै पात॥

× × ×

सिरपै बैठो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खान निचारत।
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ्यौ सब को हियो।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो।

× × ×

हाड़ माँस लाला रकत, बसा तुचा सब सोय।
छिन्न भिन्न दुरगन्ध मय, मरे मनुस के होय॥

× × ×

जो दृग कोर महीप निहारत। आजु काक तेहि भोज विचारत॥

हम कड़-कड़-कड़ कड़ कड़-कड़ हड्डी को तोड़ेंगे।
हम भड़-भड़ धड़-धड़ पड़ पड़ सिर सब का फोड़ेंगे॥
हम घुट घुट-घुट-घुट-घुट घुट लोहू पिलावेंगी।
हम -चट चट ताली बजावेंगी॥

हम काट-काट कर शिर को गेंदा उछालेंगे।
हम खींच-खींच कर चरबी पनारा बालेंगे॥
हम माँग में लाल-लाल लोहू का सेंदुर लगावेंगी।
हम नस के तागे चमडे का लहँगा बनावेंगी॥
लोहू का मुँह से फर्र-फर्र फुहारा छोडेंगे।
माला गले पहिरने को अँतडी को जोडेंगे॥
हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावेंगी।
कफन बिछा कर लडकों को उस पर सुलावेंगी॥

—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (सत्य-हरिश्चन्द्र-नाटक)

बैठिबे की, उठिबे की, चलिबे की, बोलिबे की,
जानत न एकौ चाल आ जग ढाँचे में।
देखिबे में मानुष की आकृति दिखाई परै,
पर नर-पशु औ परिन्द हैं सु जाँचे में॥
ग्वाल कवि जानी है विरंचि तुच्छ जन्तुन कौं,
डारै और ठौर लगि ख्यालन के खाँचे में।
कूकर तें, शूकर तें, रासभ तें, उल्लुन तें,
खैंचि-खैंचि जीव डारे मानुष के साँचे में॥

—ग्वाल कवि

नोट—किन्हीं किन्हीं विद्वानों ने वीभत्स-रस के दो विभाग करना निश्चय किया है—
(१) परनिष्ठ-(२) स्वनिष्ठ।
(१) परनिष्ठ, वह है जिससे वीभत्स उपजै।
(२) स्वनिष्ठ—वह है जिसमें वैराग्य प्रगट हो।

दृत रहे भ पुरीष रुचा पटकी पिचकारी।
रस बीभत्स पराग दुरे प्रभु प्रेम पुजारी॥

मींडैं मुख लार मढ़े आँखिन में कीड़ राखि,
कानन में सिनक रेंट भीतन पै डारिदेति।
खाँचि-खाँचि खुरचि खुजावैं, ठाढ़ी पेडू-पेट,
टट्टी लौं लटकते कुचन कौं उघारि देति।
लोटि-लोटि चीन घाँघरे की बार-बार फिरि,
बीन-बीन ढींगर नखन धरि मार देति।
लूगरा गँधात चढ़ी चीकट सी गात शुभ,
धोवै न अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति॥

× × ×

लम्बे-लम्बे कोटन सों झूलति ही सौतिन की,
तिरिया की डारन में पटली अटकगई।
लागत ही झटका उखड़ गयो आसन पै,
साड़िका सी डोरिन कौं पकड़ि लटक गई।
'शंकर' किनार पर पाथर पै टूटि पड़ी,
फूटो सिर फाटी नर पिलही पटक गई।
छूटि गई नारी खोरी पटि गई सारी आज,
मरि गई दारी, मेरे मन की खटक गई॥
—शङ्कर

कहुँ सुलगत कोउ चिता कहुँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई।
विविध रङ्ग की उठत ज्वाल दुरगंधनि महकति।
कहुँ चरबी सों [illegible] दह दहकति॥

कहुँ फूँकन हित धरयो मृतक तुरतहि तहँ आयो।
परयो अग अधजरयो कहुँ कोऊ कर आयो।
कहुँ स्वान इक अस्थि खंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारो महि काक ठौर सों ठोक टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अग पर घाक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत।
जहँ तहँ मज्जा माँस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ-कहुँ रतनारे॥

× × ×

कोऊ कड़ाकड हाड़ चाबि नाचत दै तारी।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्यारी।
कोऊ अँतड़ी की पहर माल इतराइ दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत।
कोउ मुंडनि लै मानि मोद कन्दुक लौं डारत।
कोउ रुण्डनि पै बैठि करेजो फारि निकारत॥

—रत्नाकर

बगला बैठा ध्यान में, प्रात जल के तीर।
मानौं तपसी तप करे, मलकर भस्म शरीर॥
मलकर भस्म शरीर, तीर जब देखी मछली।
कहैं, 'मीर' असि चोंच, सटूची फौरन निगली॥
फिर भी आवें शरण, मैर जो तज के बगला।
बनके भी सु प्राण, हरे रे! छी! छी! बगला॥

—मीर

फटक-फटक काटि कीट से उड़ाये केते,
'भूषण' भनत मुख मोरे सरकत हैं।
रन भूमि लेटे अधफेटे अर सेटे परे,
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं॥

मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय मीस,
खोटी भई सम्पति चकत्ता के घराने की।

अजौं भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है।
...
नदी रन मण्डल रुहेलन रुधिर अजौं,
अजौं रवि मण्डल रुहेलन की राह है।
...
प्रति भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को।
. .
रहत अछक पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जो नाँगी डर काहु के डरै नहीं।
भोजन बनावै नित चोखे खानखानन के,
सोनित पचावै तऊ उदर भरै नहीं।
उगिलत आसौ तऊ सुकल समर बीच,
राजै राव बुद्ध कर विमुख परै नहीं।
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौलौं,
जौ लौं गज्र की गजक करै नहीं।

जय चडी परचड प्रबल दानव दलवैरी।
राम भजन दे हाँक लियो जोगिनगन टेरी।
लखि-लखि झुण्ड प्रचड कुकति जहँ तहँ महकाली।
करति युद्ध अति क्रुद्ध भई रन माहि कराली।

× × ×

पट्ट-पट्ट पटकति भटन झट्ट-झट्ट सिर झटकि के।
.. ' . ...
घट्ट-घट्ट घटकति रुधिर खिलखिलाय चडी हँसै।

—रामभजन

डूबति तराति परी श्रोनित तरङ्गिन में,
गति च गनावै जाके रन में रलन की।
आँत गरडारै चरबीन ते सँवारै अङ्ग,
भिन्न-भिन्न करति मास्री रसिया मलन की॥
कहैं चिरजीव आजु रन में सँघारे शत्रु,
भूप दरभगा बाधा बिनसी भलन की।
कालिका कृपाय लिये पीवति रुधिर जहाँ,
जोगिन चबाती खड़ी खोपड़ी खलन की॥

—चिरजीवी

इस ओर देखो रक्त की यह कीच कैसी मच रही!
है पट रही खण्डित हुए बहु रुण्ड मुण्डो से मही।
कर पद असख्य कटे पड़े शस्त्रादि फैले हैं तथा,
रङ्ग-स्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा॥
झुकते किसी को थे न जो नृप मुकुट रत्नों से जड़े,
वे अब शृगालों के पदों की ठोकरें खाते पड़े!

पेशी समझ माणिक्य को वह विहग देखो ले चला,
पड़ मोग की ही भ्रान्ति में ससार जाता है छला ॥

× × ×

इस ठौर दुःशासन हृदय का भीम ने शोणित पिया,
हा! द्रौपदी के दुःख का यों वैर सम बदला लिया ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

कहीं धक-धक चिताएँ जल रहीं थीं,
धुआँ मुँह से उगल बेकल रहीं थीं।
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था,
निठुरता काल की दिखला रहा था।

—सनेही

कहीं हय मेध होता है मही पर, हविप का होम होता है कहीं पर।
तुझे पर सौख्य कर नरमेध ही है, कभी भी पूर्ण होता यह नहीं है।

× × ×

अतिथि हैं श्वान, गीदड़ गिद्ध तेरे, सदा सब हैं मनोरथ सिद्ध तेरे।
भला घाटा तुझे किस बात का है? खिलोना तू बना दिन-रात का है।
कहीं जल में बहे शव जा रहे हैं, उन्हीं पर काक कड़खे गा रहे हैं।
कहीं शव सड़ रहे हैं पास तेरे, लगे पर क्यों हृदय में त्रास तेरे।
कहीं पर हो रहा है घोर हा! हा!, कहीं पर गूजता है मास-स्वाहा।
बना है केन्द्र तू बीभत्स-रस का, तुझे है क्यों लगा जग-नाश चसका।

—रामचरित उपाध्याय (श्मशान)

खून से हैं रँगे जिन्होंने हाथ, हैं कलेजे पकड़-पकड़ मसले।

—सनेही

बहुतेरे घायल गिरे, रुण्ड मुण्डमय खेत करि।
गिरे पिथौरा राय भी, घने घाव तन खाय लरि॥

× × ×

मृतक समुझि हड़गिल्ल गीध धै चोंच चलावत।
आमिष भोजी धाय-धाय धे तन ठुकरावत।

—श्रीकवि

बहने लगी सवेग यहाँ शोणित की धारा,
लाशों से पट गया शीघ्र युद्ध-स्थल सारा।
रख कर उन पर पैर वेग से बढ़ कर आगे।

× × × —सियारामशरण

बहती है रक्त धारा सरिता के रूप में,
कुंजर पड़े हैं मग्न भग्न गिरि शृङ्ग से।

× × ×

तीर पर एक महाराज रथी जाता है,
भग्न बर वाला बड़े कष्ट से।

—मधुप

रस सामग्री द्वारा वीभत्स-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण ... खड १

पृष्ठ ४१५—कटकटाहिं .. .. गुड्डि उड़ावहीं॥

जंबुक, भूत, पिशाच, प्रेत, वैताल और गीध, यह आलम्बन विभाव हैं; क्योंकि रस के मुख्य प्रवर्त्तक हैं। यदि यहाँ

इनका वर्णन न होवे तो रस आलम्बित ही न होवे, इनके द्वारा ही घृणा की उत्पत्ति हुई है—यही घृणा के स्थान हैं। खप्पर, कपाल ताल और अतावरी, उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा घृणा और भी पुष्ट तथा विस्तृत होती है। यहाँ पर अनुभाव और व्यभिचारी भाव गुप्त हैं। पिशाचों के खप्पर धारण करने, गिद्धों के अंत्रावली लेकर उड़ते हुए देखने में, उस समय शरीर की जो सहज चेष्टाएँ हुईं होंगी यथा—प्रकम्प इत्यादि, वही सात्विकानुभाव हैं और शरीर तथा मन द्वारा उत्पन्न हुए भाव कायिकानुभाव तथा मानसिकानुभाव हैं। मोह, असूया और मूर्छादि सचारी भाव हैं। यदि घृणा के कारण अथवा दुर्गन्ध इत्यादि का प्रभाव इतना पड़ा हो कि दर्शक को अपने शरीर का ज्ञान न रहा हो तव तो मोह-सचारी का सचार माना जावेगा, यदि किसी प्रकार कष्ट अथवा क्रोध के कारण उपर्युक्त घृणित कार्य करने वालो को कष्ट देने का विचार चित्त में प्रकट हुआ हो तो उसे असूया सचारी मानेंगे, और इसी प्रकार गिर पड़ने इत्यादि की दशाएँ मूर्छादि सचारी भाव कल्पित की जावेंगी। इस प्रकार इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के संयोग से "ग्लानि" स्थायी हुई, अत यहाँ "बीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहिला, खण्ड ३

पृष्ठ ४१४—मजहिं भूत पिशाच सर माँहीं॥

यहाँ ग्लानि होने के मुख्य कारण (१) भूत, पिशाच, बैताल और प्रमथ हैं, क्योकि शोणित-सरिता में वही स्नान कर रहे हैं,

जिसके द्वारा घृणा उत्पन्न होती है, इसी प्रकार (२) काक, कक के भुजा लेकर उड़ने से घृणा उत्पन्न होती है, अत वह (काक) घृणा का मुख्य उत्पादक है, (३) और क्योंकि आँतों के खींचने को देखकर भी घृणा होती है जिसके कर्ता गीध हैं, अतः उपर्युक्त भूतादि सब "आलम्बन-विभाव" हैं। कटी भुजाएँ, आँते, बहते हुए मृत भटों के शरीर और शोणित के सर इत्यादि 'ग्लानि' को और भी प्रज्वलित करते हैं, अत वे उद्दीपन विभाव हैं। "कम्प" "रोमांच" और "मूर्छा" इत्यादि "सात्विकीभाव" हैं, नाक बन्द करके भागना, थूकना और आँखें बन्द कर लेना इत्यादि अन्य "अनुभाव" और "मोह" इत्यादि संचारी भावों का स्पष्ट वर्णन नहीं, किन्तु केवल उनकी झलक ज्ञात होती है। बस इन उपर्युक्त 'विभाव' 'अनुभाव' और सचारी भावों के सयोग से "ग्लानि" स्थायी हुई, अतः "वीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण तीसरा, खड १३—२

पृष्ठ ४१६—रिपु अत्रनि   जलेबी खाति॥

यहाँ पर जुगिन "आलम्बन विभाव" हैं क्योंकि इसके द्वारा रस आलम्बित होता है, यदि यहाँ पर उक्त आलम्बन का वर्णन न होता तो रस के लिये कोई आधार ही न था। इसी प्रकार 'रिपु अत्रिन की कुण्डली' जिसकी उपमा ,'पीव में पगी हुई जलेबी" से दीगई है, "उद्दीपन-विभाव" है, क्योंकि इसके द्वारा "ग्लानि" का विस्तार अत्यधिक हो जाता है। "आलम्बन" तथा "सचारी भावों" का वर्णन यहाँ पर

स्पष्ट रीति से नहीं किया गया है किन्तु उक्त कार्य को देखने तथा उसके वर्णन के श्रवण करने से दर्शकों तथा श्रोताओं में जो प्रभाव पड़ेंगे वह स्पष्ट हैं। किसी-किसी की आँखें बन्द हो जायेंगी, सिर इत्यादि में एक प्रकार की अस्थिरता आजावेगी, कोई कोई नाक मुँह बन्द करके भागेंगे, इत्यादि कार्य 'अनुभाव' हैं। इसी प्रकार ऐसे समय में 'मूर्छा' इत्यादि जिन भावों का सचार होना सम्भव है, वह सचारी भाव हैं। इन्हीं विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से 'ग्लानि' स्थायी भाव स्थिर हुआ, अत यहाँ "बीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पाँचवाँ, छड १४

पृष्ठ ४१७—लखि विरूप द्वै-द्वै पात ॥

यहाँ पर विरूप शूर्पणखा ही आलम्बन विभाव है, क्योंकि उसी के द्वारा "सिय हिय में घिनकी लता द्वै-द्वै पात" हुई है। वही घृणा की मुख्य उत्पादक है—उसी को ग्लानि का मुख्य आधार तथा उसको आलम्बित करने का एक मुख्य कारण समझना चाहिये। "रुधिर तथा चरवी का चुचवाना" उस ग्लानि को अत्यत विस्तृत करता है, उसके द्वारा शूर्पणखा के विरूप दर्शन से उत्पन्न हुई अरुचि और भी प्रबल होगयी, पहिले से उसमें अधिक बल तथा परिपुष्टि का प्रादुर्भाव होगया, अत यह "उद्दीपन-विभाव" है। सीताजी के हृदय में, चरवी तथा रुधिर को चुचवाते हुए देखकर "घिनकी लता का द्वै द्वै पात होना" "अनुभाव" है क्योंकि यह ८

तथा चरबी और रुधिर कारणों का कार्य है, या यों कहिये कि इसके द्वारा विभावों का बोध तथा अनुभव होता है। यहाँ पर संचारी भावों के स्थिर करने के लिये कोई प्रबल-प्रमाण नहीं है, अत: अनुमान से "मोह" "असूया" इत्यादि का होना कल्पित कर लेना चाहिये। इन कारण, कार्य और सहायकों की सहायता से "ग्लानि" स्थायी भाव स्थिर हुआ, अत: "वीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण इकीसवाँ, खंड पांचवां

पृष्ठ ४१९—भौंडे मुख ... बहार देत ॥

यहाँ पर फूहड "आलम्बन-विभाव" है। क्योंकि इसके द्वारा ही घृणा, उदासीनता तथा निन्दा का भाव उत्पन्न होता है, यही घृणोत्पादक रस की मुख्याधिष्ठात्री है, इसी के द्वारा घृणा का भाव आलम्बित होना है और यही रसोत्पत्ति का मुख्य कारण है, अत: "आलम्बन" होने के पूर्ण योग्य है। "भौंडे मुख से लार का बहना" "आँखों में ढीड़" "कानों में राधि" "रेंट का सिनक कर दीवारों पर डाल देना" "खोंस-खोंस और खुरच-खुरच कर खुजाना" "पेड़ू पेट तथा टुण्डी तक लटके हुए कुचों को उघार देना" "घाँघरे की चीन को बार-बार लौटना, और उसमें से बीन-बीन कर डींगरों का निकालना तथा नखों पर रख कर मारना" "लुगरा का गधाना और उस पर चीकट का चढ़ा होना" और "कभी न नहाना, न मुख-हाथ धोना" यह सब उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि इनके

द्वारा घृणा का प्रवाह और भी अधिक हो जाता है, यह फूहड से उदासीन भाव उत्पन्न कराने के लिये अत्यंत सबल, दृढ तथा पुष्ट अथवा यो कहिये कि इन्हीं के द्वारा रस प्रदीप्त हुआ है, अतएव "उद्दीपन विभाव" होने के सब प्रकार अधिकारी हैं। यहाँ हर उपर्युक्त कारणों के कार्य तथा उनके सहकारी-गण स्पष्ट रीति से प्रगट नहीं किये गये हैं, "प्यारी फूहड वहार देत" मात्र एक वाक्य से ही व्याज द्वारा कवि ने फूहड से अश्रद्धा प्रकट की है, इसी को हम साधारणतया, उपर्युक्त "आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के कार्य कह सकते हैं, अत यह "अनुभाव" हैं और इसके सहायक "असूया" इत्यादि सचारी भाव (गुप्त) हैं। वस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से 'ग्लानि" स्थायी भाव स्थिर हुआ, और इस प्रकार इस सम्पूर्ण सामग्री के सम्मिश्रण से "बीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण नवाँ, खंड २३

पृष्ठ ४१९—कहुँ सुलगत फारि निकारत ॥

यहाँ पर, "श्मशान भूमि" आलम्बन विभाव है, क्योकि इसी के द्वारा घृणा की उत्पत्ति हुई है और यही 'ग्लानि' को आलम्बित करता है, यही 'कुरुचि' रूपी कार्य का प्रधान कारण है और शेष गौण। 'चिताओं का सुलगना' 'बुझना' 'एक में आग का लगाना' 'एक का जल में बहाना' 'विविध रंग की ज्वालाओं का उठना' "दुर्गन्ध" "चरबी का ~-

चटाना" "तुरत आया हुआ मृतक" "अधजला अंग" "खाया हुआ कर" "स्वान का अस्थि खण्ड लेकर चाटना तथा चचोड़ना" "काकों का चोंच से काले पड़े हुए स्वान को ठोंकना और टटोलना" "शृगालों का मृतक अंग पर ताक लगाना" "शवों पर बैठ कर गिद्धों का चोंच चलाना" "जहाँ तहाँ मास मज्जा और रुधिर का लख पड़ना" "इधर उधर स्वेत तथा रतनारे हाड़ों का छिटका होना"—"हाड़ो के कड़ाकड़ चबाये जाने का शब्द" "खोपड़ी की प्यालियों में रुधिर का पिया जाना" "अँतड़ियों की माला पहिन कर दिखाना" "चरबी का बड़े चोप के साथ निज अंगों में लगाना" "मुंडों का मोद के साथ कन्दुक की तरह उछालना" और "रुंडों पर बैठ कर कलेजों का निकालना" यह सम्पूर्ण दृश्य "उद्दीपन-विभाव" है, क्योंकि यह श्मशानरूपी प्रधान कारण के गौण तथा अवान्तर विभाग हैं, इनके द्वारा निन्दा तथा घृणा का भाव अत्यंत विस्तृत और परिवर्द्धित होता है। यह मनुष्य की कुरुचि के परिपुष्टक है और यही आलम्बित रस के उद्दीपक है। इन उपर्युक्त कारणों के कार्य आलम्बन तथा सहायक सहकारी भाव, स्पष्टरूप से वर्णित नहीं हुए हैं, केवल अनुमान और कुछ स्वयं सिद्ध प्रमाणों द्वारा आलम्बन विभाव नाक बन्द करना, कम्प और मूर्छादि हैं और इसी प्रकार सचारी भाव मोह, असूया इत्यादि हैं। इन सब के द्वारा 'ग्लानि' स्थायी हुई, अत. "बीभत्स-रस" की सिद्धि हुई।

अद्भुत-रस

जाको थाई आचरज, सो अद्भुत रस गाव ।
असभवति जेते चरित, तिनको लखत विभाव ॥
वचन विचल बोलनि कँपनि, रोम उठनि अनुभाव ।
वितर्क शका मोह ये, तहँ सचारी भाव ॥
जासु देवता चतुर्मुख, रग बखानत पीत ।
सो अद्भुत रस जानिये, सकल रसन को मीत ॥

—जगद्विनोद



श्चर्य की पूर्ण स्थिरता को अद्भुत-रस कहते हैं । इसके आलम्बन विभाव अचम्भित तथा चकित कर देने वाली वस्तुएं, दृश्य, चरित्र तथा वर्णन हैं, गुण वैचित्र्य तथा महिमा इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। इसी प्रकार मुख से टूटे फूटे शब्दों का निकलना, शरीर का प्रकम्पित होना तथा रोमाँचित होना "अनुभाव" हैं और वितर्क सन्देह इत्यादि सचारी भाव हैं, इस रस के देवता चतुर्मुख (ब्रह्मा) हैं, और वर्ण पीला है ।

इस रस के प्रभाव से हम लोग प्रकृति के गूढ़तम रहस्यो को बोध में लाने का परिश्रम करते हैं, यह रस हमको अन्वेषण करने की टेव सिखाता है। यही रस हमको परमात्मा की सर्व व्यापकता का बोध इसी रस के द्वारा हमको

जीवन के निगूढ़ रहस्यों का परिचय होता है। यदि हम इस रस के उदाहरण जानने की इच्छा करें तो सर्व श्रेष्ठ उदाहरण यह सम्पूर्ण सृष्टि ही होगी। यदि हम ससार की किसी भी वस्तु की उत्पत्ति तथा विनाश पर विचार करने बैठे तो हमें आश्चर्य-सागर में निमग्न होना पड़ेगा। एक छोटा सा बीज भूमि के गर्भ में गिर कर, खाद, जल, वायु और आतप के सयोग से एक बडा वृक्ष बन जाता है, पुनः उसी वृक्ष से वैसे ही अनेक बीज उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे एक के द्वारा वह स्वयं उत्पन्न हुआ है; क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य इत्यादि जीवधारियों का एक जल बुन्द से उत्पन्न होना और फिर उन्हीं के द्वारा अन्य प्रजोत्पत्ति का क्रम स्थित रहना क्या कम आश्चर्य की बात है? क्या पच तत्वों का चक्कर मनुष्यों को चक्कर में नहीं डालता, कहाँ तक कहा जावे, ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं का भडार है, जितना ही उसका निरीक्षण करते हैं, उसका अन्वेषण करते हैं, और उसकी छानबीन करते हैं, उतनी ही विचित्रताओं की नवीन-नवीन शृङ्खलाएं निकलती चली जाती हैं। इन विचित्रताओं की खोज करते-करते विचारे वेद पुराणादि भी थक गये, चतुर्मुख ब्रह्मा भी इसके सम्पूर्ण रहस्य समझने में असमर्थ रहे। गणेश, सुरेश, दिनेश, शची, शारदा इत्यादि सभी एक मुग्ध होकर 'नेति-नेति' की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित करने लगे; फिर हम जैसे अल्पज्ञों का क्या कथन है। हमारा साहित्य इस रस के उदाहरणों से भरा पडा है, हम नीचे इन

रस से सम्बन्ध रखने वाले कुछ उदाहरणों को उद्धृत कर पाठकों को भेंट करते हैं, जिनसे उसके समझने में विशेष सहायता मिले—

सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित सिय भ्राता॥
फिर चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध, मुनीस प्रवीना॥
देखे शिव, विधि विष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक तें एका॥
बन्दत चरण करत प्रभु सेवा। विविध वेष देखे सब देवा॥

सती, विधात्री, इन्दिरा, देखीं अमित अनूप।
जेहि-जेहि वेष अजादि सुर, तेहि-तेहि तनु अनुरूप॥

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। शक्तिन सहित सकल सुर तेते॥
जीव चराचर जे संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥
पूजहि प्रभुहि देव बहु वेषा। राम रूप दूसर नहि देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न वेष घनेरे॥
सोइ रघुवर सोइ लछमण सीता। देखि सती अति भईं सभीता॥
हृदय कम्प तनु सुधि कछु नाहीं। नयन मूदि बैठी मग माहीं॥
बहुरि विलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी॥
पुनि-पुनि नाइ राम पद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥

× × ×

करि पूजा नवेद चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई॥
गइ जननी सुत पहँ भयभीता। देखा बालक तहाँ पुनीता॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कम्प मन धीर न होई॥

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन मधुर मुसुकानी॥
दिखरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखंड॥
रोम-रोम प्रति राजहिं, कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड॥
अगणित रवि शशि शिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन॥
काल कर्म गुण दोष सुभाऊ। सो देखा जो सुना न काऊ॥
तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरणन सिर नावा॥
विस्मयवन्त देखि महतारी। भये बहुरि शिशु रूप खरारी॥
× × ×
सानुज मिलि पल महँ सब काऊ। कीन्ह दूरि दुख दारुण दाहू॥
यह बड बात राम कहँ नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं॥
देखी कपिन निसाचर अनी। बहु अंगद कपि लक्ष्मण धनी॥
बहु बालि सुत लक्ष्मण कपीश विलोकि मर्कट अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लक्ष्मण जहँ सो तहँ चितवत खरे॥
निज सेन चकित विलोकि हँसि धनु तानि सर कोसल धनी।
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मर्कट अनी॥
काटत ही पुनि भये नवीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने॥
कटित झटित पुनि नूतन भये। प्रभु बहु बार बाहु सिर हये॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहुँ अमित केतु अरु राहू॥
—तुलसीदास (रामचरित मानस)

केशव। कहि न जाइ का कहिये।
देखत तुव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये॥
शून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे॥
धोये मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥

रवि कर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तिहि माहीं ॥
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥

—तुलसीदास (विनय-पत्रिका)

पाण्डे ! नहिं भोग लगावन पावै ।
करि-करि पाक जबै अरपत है, तबहीं सबै छूवै जावै ॥
इच्छा करि ब्राह्मण मैं न्योतौ, तू गोपाल खिजावै ।
यह अपने ठाकुरहि जिमावत, तू ऐसो उठि धावै ॥
जननी दोष देहु मति मो कहँ, कर विधान बहु ध्यावै ।
नैन मूँदि कर-जोरि नाम लै बारहि बार बुलावै ॥
कह अन्तर क्यों होइ भक्त सों, जो मेरे मन भावै ।
सूरदास बलि हौं ताकी जो जन्म पाइ यश गावै ॥

—सूरदास

माखन के चोर मधु चोर दधि दूध चोर,
देखत ही देखतही हियो हरि लेत हैं ।
पुरुष-पुरान अरु पूरन पुरान इन्हें,
पुरुष-पुरान सुकदेव निहि हेत हैं ॥
केशवदास देखि-देखि सुरन की सुन्दरि ये,
करतीं विचार सब सुमति समेत हैं ।
देखि गति गोपिका की भूल जाति निजगति,
अगति न कैसे वौ परम गति देत हैं ॥

× × ×

धन माहि मिले हुते केशव राइ सदा धरयौ गुन गूढ़ उदार ।
मथुरा प गई तब रोहिणी पे [illegible] आहि गुहावनि चारु विहार ॥

घर जाउ तो सोवत हैं फिर जाउँ तो नद पै खात घरा दधि पारे।
सपने अनसत्त किधौं सजनी घर बाहर होत बड़े घर वारे॥

—केशव

क्यों इन कोमल गोल कपोलनि देखि गुलाब को फूल लजायौ।
त्यों "हरिचन्द" जू पंकज के दल सों सुकुमार सबै अंग भायौ॥
अमृत से मृदु होठ लसैं नव पल्लव सो कर क्यों है सुहायौ?
पाहन सो मन होत जबै अँग कोमल क्यों करतार बनायौ?

—भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र

गावैं गुनी गनिका गन्धर्व औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनन्त गनन्त गनेस ज्यों ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत।
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरन्तर जाहि समाधि लगावत॥
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पे नाच नचावत॥

—रसखान

अधम अजाल एक चढ़ि के विमान भाख्यो,
पूछत हौं गंगा तोइ परि-परि पाइहौं।
कहै पदमाकर कृपा करि बतावै साँची,
देखे अति अद्भुत रावरे सुभाइ हौं॥
तेरे गुण गानहू की महिमा महान मैया,
कान-कान नाइ के जहान मध्य छाइहौं।
एक मुख गाये ताके पंच मुख पाये अब,
पंच मुख गाइहौं तो केते मुख पाइहौं॥

× × ×

गोपी ग्वाल माली जुरे आपुस में कहै आली,
कोऊ मथुरा के औतर्‌यो इन्द्र जाली है।

कहै पदमाकर करै को यो बताली जाये,
रहन न पावै कहू एकौ फन खाली है।
देखै देव ताली भई विधि के खुशाली,
कूदि किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनम को चाली ऐसी अद्भुत है ख्याली,
आजु काली की फनाली पे नचत वन माली है॥

× × ×

मुरली बजाइ तान गाई मुसक्याय मन्द,
लटकि-लटकि माई नृत्य में निरत है।
कहै पद्माकर गोविन्द के उछाह यहि,
विष को प्रवाह प्रति मुख ह्वै फिरत है॥
ऐसौ फैल परत फुसकरत ही में मनो,
तारन को वृन्द फूतकारन गिरत है।
कोप करि जो लौं नव फन फुफकावै काली,
तोलौं वन माली सौऊ फन पै फिरत है॥

× × ×

सातदिन सात राति करि उतपात महा,
मारत झकोरे तरु तोरै दीह दुख में।
कहै पदमाकर करी त्यों धूम धारन हु,
एते पै न कान्ह काहू थायो रोष रुख में॥
छोर छिगुनी पे छत्र ऐसो गिरि छाइ राख्यो,
ताके तरे गाय गोप गोपी खरी सुख में।
देखि-देखि मेघन की सैन अकुलानी रह्यो,

वन पर्वत कर पर धर्यो, गिरि गिरधर निश्शंक।
अजब गोपसुत चरित लखि, सुरपति भयो सशंक ॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

ब्रह्म में ढूंढ्यो पुरानन गानन वेद-रिचा सुनि चौगुने चायनि।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥
हेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायो न लोग लुगाइन।
देखो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन ॥
सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाचन नचावैं ॥

—रसखान

दाहिने वेद पढ़ै चतुरानन सामने ध्यान महेश धर्यो है।
बायें दोऊ कर जोरि सुसेवक देवन साथ सुरेश खर्यो है ॥
रतन बोच अनेक लिये धन पाँयन आय कुबेर पर्यो है।
देखि विभो अपनो सपनो बपुरो वह ब्राह्मन चौंकि पर्यो है ॥

कह्यो हुतो सो दे चुके, विप्र न जानी गाथ।
चलती बेर गुपालजू, कछू न दीनो हाथ ॥

—नरोत्तमदास

कदम पै चढ़ि के जब कूद्यो कालिन्दी बीच,
तब यह जान्यो कान्ह कैसे धौं उबरिहै।
जामें विषधर को है बास महा विषरास,
पासे भयो पास तो बसास ही सों जरि है ॥

ऐसो कौन जानतु हो एहो कवि रघुनाथ,
बूड़ि घड़ी द्वैलों तरैं पानी ही के लरिहै।
सीस पर चढ़ि आपु ताली दै करत नृत्य,
नाथि काल काली, काली दह सो निकरिहै॥

—रघुनाथराव

कर्ण से दुष्ट ते पुष्ट हते भट पाप से पुष्ट न शासन टारे।
सोदर सेन दुशासन से सब साथ समर्थ भुजा उसकारे॥
हाथी हजारन के बल "केशव" खैंचि थके पट कोउ न हारे।
द्रोपदी को दुरयोधन पै तिल अंग तऊ उघर्‌यो न उघारे॥

—केशव

देइ नाथ विधान निधान अनेक चढ़ू जिन जोर हईजू।
दई है बाहु बड़ी धनु धीरज दीह दिया जिन युद्ध जईजू॥
दई हैं अर्जुन आप तहाँ जग में यश की जिन बेलि बईजू।
देखत हो तिनके बिन कृष्ण बची न कछू निय छीन रईजू॥
करने सत्य प्रह्लाद भक्त का कहना यह कि स्तंभ भी देख।
प्रगट हुए तब वहीं स्तम्भ में अति अपूर्व नरहरि धृत वेष॥
असुर वंश का नाश किया सब हुए सुखी सुर नर मुनिवर।
हुए सत्य निज भूल और भी अति अगम्य भी विधि का वर॥

तब हुआ क्रोध से दैत्य राज मतवाला,
उसने उनको उद्दीप्त अग्नि में डाला।
पर जलते क्या प्रह्लाद भक्ति-रत्नाकर
जल गई आग खुद उन्हें जलाने जाकर॥

धन धर्यंत कर पर धर्यो, गिरि गिरधर निश्शंक।
ब्रजध गोपसुत चरित लखि, सुरपति भयो सशंक॥

—पद्माकर (जगद्विनोद)

ब्रह्म में ढूढ्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायनि।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायो न लोग लुगाइन।
देखो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥
सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अखंड अनन्त अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाचन नचावैं॥

—रसखान

दाहिने वेद पढ़ै चतुरानन सामने ध्यान महेश धर्यो है।
बायें दोऊ कर जोरि सुसेवक देवन साथ सुरेश खर्यो है॥
रतन पोच अनेक लिये धन वाँयन आय कुबेर पर्यो है।
देखि विभो अपनो सपनो नपुरो वह ब्राह्मण चौंकि पर्यो है॥

देनो हुतो सो दे चुके, विप्र न जानी गाथ।
चलती बेर गुपालजू, कछू न दीनो हाथ॥

—नरोत्तमदास

कदम पै चढ़ि कै जब कूदी कालिंदी बीच,
नन यह जान्यो कान्ह कैसे धौं बचहिं है।
जामें विषधर को है बास सदा निवास,
पानी भयो पास सो बसान दी सो जरि है॥

ऐसा कौन जानतु हो एहो कवि रघुनाथ,
बूढ़ि घडी द्वैलौं तरैं पानी ही के लरिहै।
सीस पर चढ़ि आपु ताली दै करत नृत्य,
नाथि कान काली, काली दह सों निकरिहै॥

—रघुनाथराव

कर्ण से दुष्ट ते पुष्ट हते भट पाप से पुष्ट न शासन टारे।
सोदर सेन दुशासन से सब साथ समर्थ भुजा हसकारे॥
हाथी हजारन के बल "केशव" खैंचि थके पट कोउ न डारे।
द्रौपदी को दुरयोधन पै तिन अंक तऊ उघर्यो न उघारे॥

—केशव

वई वाण निशान निधान अनेक चमू जिन जोर हईंजू।
वेई हैं बाहु वेई धनु धीरज जीह क्रिया जिन युद्ध जईंजू॥
वह हैं अर्जुन आप तहीं जग में यश की जिन बेलि बईंजू।
रक्षन हा तिनके बिन कृष्ण धरी न कछू तिय छीन लईंजू॥
करने सत्य प्रह्लाद भक्त का कहना यह कि स्तंभ भी ईश।
प्रगट हुए तब उसी स्तम्भ में अति अपूर्व नरहरि धृत वेष॥
असुर दम का नाश किया सब हुए सुखी सुर नर मुनिवर।
हुए मत्त निज भूल आर भी अति अगम्य भी विधि का घर॥

तब हुआ क्रोध से दैत्य राज मतवाला,
उसने उनको दहीत अग्नि में डाला।
पर जलते क्या प्रह्लाद भक्ति-रत्नाकर,

रखते जिसको ये चक्र धारनेवाले,
मरते हैं उलटे उसे मारनेवाले।
रख हरि ने नरहरि रूप पाप नाशन को
कर अधम असुर का नाश बचाया जनको॥

—प्रह्लाद

इस एकही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस-जिस ने किया,
मारा गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया।
जिस भांति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घन घटा,
सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्रच्छटा॥
तब कर्ण द्रोणाचार्य्य से साश्चर्य यों कहने लगे,
"आचार्य्य! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा!
रघुवर विशिख से सिन्धु-सम सब सैन्य इससे व्यस्त है,
यह पार्थ-नन्दन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है॥
होना विमुख संग्राम से है पाप वीरों को महा,
यह सोचकर ही इस समय ठहरा हुआ हूँ मैं यहाँ।
जैसे बने अब मारना ही योग्य इसको है यहीं।
सच जान लीजिये अन्यथा निस्तार फिर होगा नहीं॥

—जयद्रथवध

श्रीकृष्ण के सुन वचन कुछ उत्तर न अर्जुन ने दिया,
अतएव उनके स्कन्ध पर हरि ने करारोपण किया।
तब पड़ गये अवसन्न ये वैचित्र की सी सृष्टि में,
था यह नितान्त नवीन जो कुछ दृश्य आया दृष्टि में॥
देखा उन्होंने तब कि वे बहुत ऊपर चढ़ गये,
रवि चन्द्रलोकों में मिले यहुँ दिव्य दृश्य नये-नये।

चलते हुए अन्त में वैकुण्ठ दीख पड़ा उन्हें,
अवलोक उसकी छवि हुआ आश्चर्य दूर्ण पड़ा उन्हें ॥

× × ×

फिर आप से ही आप वे हरि धाम में खिच से गये,
देखा वहाँ का दृश्य जो युगनेत्र तब मिँच से गये।
सिंहासनस्थ रमा सहित शोभित वहाँ भगवान थे,
घन दामिनी जिनके यथा-छाया प्रकाश-समान थे?

× × ×

इसके अनन्तर पार्थ ने परिपूर्ण प्रेम उमंग में,
आता हुआ अभिमन्यु देखा जय विजय के संग में।
अवलोक उसको सुध उन्हें कुछ भी रही न शरीर की,
शोभा सहस्रगुनी प्रथम से थी अधिक उस वीर की ॥

× × ×

सब दिव्य दर्शनों से प्रभा की वृष्टि सी करते हुए।
बोले स्वयं भगवान यों सब के हृदय हरते हुए ॥
सन्तुष्ट तूने है किया निज धर्म पालन से मुझे,
सौभद्र! निज सामीप्य में देता सदा मैं हूँ तुझे ॥
अति मुग्ध होकर पार्थ ने तब मूँद आँखों को लिया,
पर खोलने पर फिर न वैसा दृश्य दिखलाई दिया।
सुस्मित वदन श्रीकृष्ण को ही सामने देखा खड़ा,
चित्ररथ से यह रह गये करते हुए विस्मय बड़ा ॥
थी जिस समय उस दृश्य में सुध बुध न अर्जुन को रही,
राजा युधिष्ठिर आदि ने भी स्वप्न में देखा

वसलोक-नाटक-सूत्र धर का ठाठ अति अभिराम है,
यह एक होकर भी सदा करता अनेकों काम है ॥

—जयद्रथवध

हो पूर्ण जब तक पार्थप्रति प्रभु का कथन ऊपर कहा,
तब तक महाअद्भुत हुआ यह एक कौतुक सा अहा!
मार्तंड अस्ताचल निकट घन मुक्त सा देखा गया,
है जान सकता कौन हरिका कृत्य नित्य नया-नया?
हा पार्थ के हित के लिये यह खेल नटवर ने किया,
दिन शेष रहते सूर्य्य को था अस्तमा दिखला दिया।
अनुकूल अवसर पर उसे फिर कर दिया यो व्यक्त है,
वह भक्तवत्सल भक्त पर रहता न कब अनुरक्त है ॥
इस स्वप्न के से दृश्य से सब शत्रु विस्मित रह गये,
कर्तव्य मूढ़ समान वे नैराश्य-नदमें बह गये।

× × ×

उसकाल उनका तेज मानो पार्थ को ही मिल गया,
तव तो सदा से सौगुना मुख शीघ्र उनका खिल गया ॥

—जयद्रथवध।

मायापति ने मुकुट पर, रक्खा ज्यादी हाथ।
छोड़ा सिर झुकता, समझि, मायाने मुनिसाथ ॥
सहसा स्वप्न विनाश से, होता है जो हाल।
हुई दशा मुनि की वही, क्षण भरको उस काल ॥
रमा राज पुत्री हुई, तत्क्षण अन्तर्धान।
मुनि को केवल सामने, दीख पड़े भगवान ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

बढ़ाया हाथ रानी ने कफन पर,
दिखाई रोशनी सादी गगन पर।
पवन कुछ वेग से लहरा उठी फिर,
जय ध्वनि की वहाँ घहरा उठी फिर॥
कमल लोचन कमल तनु कमल करमें,
पकड़ कर हाथ बोले नीरधर से।
अहा! है धन्य रानी हो चुका बस,
तुम्हारा पुत्र अबतक सो चुका बस॥
निबाहा धर्म तुमने धीरता से,
हुआ रवि वंश उज्वल वीरता से।
उठा बालक अचानक मुसकराता,
कहा ले पुष्प पूजा हेतु माता॥

—सनेही (शैव्या विलाप)

भीष्म प्रतिज्ञा सुन भीष्म ऐसी,
हुई अवस्था जिसकी जु जैसी।
उसे दिखाना निज शब्द द्वारा,
सामर्थ्य है मित्र! नहीं हमारा॥
× × ×
पीछे वहीं के वह वाम ओर,
है जो खड़ा चित्त किये कठोर।
है राज-मंत्री वह स्वामि भक्त,
निभ्रान्त आश्चर्य तथा विरक्त॥

नायें उसी के कर-बद्ध प्रार्थी,
खड़ा हुआ है यह दास स्वार्थी।
हठत्व देव-व्रत का विलोक,
हुआ उसे क्या नहिं लाज शोक॥

× × ×

जो तर्जनी को अधरस्थ धारे,
सो धीवर-स्त्री निज गेह-द्वारे।
सन्तान को साथ लिये खड़ी है,
आश्चर्य के सागर में पड़ी है॥

—मैथिलीशरण गुप्त (भीष्म-प्रतिज्ञा)

निखिल नाट्य विलास अभिज्ञ मैं,
अभिनयादिक में अति विज्ञ मैं।
तव अशेष गुणो पर लुब्ध हू,
रमण योग्य! मनोभव मुग्ध हूँ॥
कथन यों उस कामिनी का,
सुन सके फिर और न अर्जुन।
इसलिये वह धर्म्म सुधापगे,
वचन यों उससे कहने लगे॥
बस करो बस देवि! न यों कहो
वचन ये अघ पूरित हैं अहो।
सुन नहीं सकते इनको हम,
तुम सदा मम पूज्य शची सम॥
सुन धनंजय का कहना यह,
अति हताश हुई मन में वह।

रहगई अति विस्मित सी तथा,
चकित चचल चारु मृगी यथा॥
—मैथलीशरण गुप्त (अर्जुन और उर्वशी)

लखि अलोकिक-स्फूर्ति सुदक्षता,
चकित स्तम्भित लोक समस्त थे।
अधिकतर बँधता यह ध्यान था,
व्रज विभूषण है यतथ बने॥
लखि अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने॥
—अयोध्यासिंह उपाध्याय (प्रिय प्रवास)

रस सामग्री द्वारा अद्भुत-रस पर दृष्टिपात

उदाहरण पहला, खंड १

पृष्ठ ४३३—सखी दीख कौतुक   जह रहे गिरीशा॥

यहाँ पर राम, लक्ष्मण तथा सीता का ही सब ओर दिखाई दिया जाना "आलम्बन विभाव" है, क्योंकि यही रस को आलम्बित करता है, यही सती को आश्चर्य-चकित करने वाला मुख्य दृश्य है और यही रस का प्रधान कारण है। ब्रह्मादि सम्पूर्ण सुरों का नाना रूपों में प्रभु की सेवा करते हुए देखना,

और रामचन्द्रजी का सीता सहित एकही रूप में दिखलाई देना, "उद्दीपन-विभाव" है, क्योंकि इनके द्वारा सतीजी का आश्चर्य और भी विस्तृत, सुदृढ और प्रौढ हुआ है। सती का सभीत होना, तन का प्रकम्पित होना, सुधि का न रहना, नयनों को मूद कर मग में बैठ जाना, इत्यादि कार्य्य "अनुभाव" हैं, क्योंकि उपरोक्त "विभाव" तथा "अनुभाव" रूपी कारणों के कार्य्य हैं और इन्हीं के द्वारा सती के आश्चर्य्य का अनुभव होता है। कम्प, सुधि का न रहना (प्रलय) सात्विकानुभाव, नयनों को मूद कर मग में बैठ जाना, कायिकानुभाव और सभीत होना मानसिकानुभाव है। "मोह" "व्रीडा" तथा "वितर्क" सचारी भाव हैं। सती को अपनी सुध-बुध नहीं रही इससे 'मोह" का सचार हुआ। 'व्रीडा" पति का कहना न मानकर भगवान के ईश्वरत्व की परीक्षा लेने की अनधिकार चेष्टा करने के कारण, उत्पन्न हुई और वितर्क सब दिशाओं में राम-दर्शन होने के कारण सचारित हुआ। उपर्युक्त कार्य्य में यह सहायक हुए। बस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "आश्चर्य्य" स्थायी हुआ, अत "अद्भुत-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण पहला, खंड २

पृष्ठ ४३३—करि पूजा ... शिशुरूप खरारी॥

यहाँ पर शिशुरूप भगवान रामचन्द्रजी "आलम्बन" विभाव है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा उन की माता अचम्भित हुई हैं,

"उनको सोता छोड़ भोग लगाने गईं, वहाँ पर बालक को खाते देखा और जब वहाँ से लौट कर आईं तो बच्चे को फिर सोते देखा" माता के विस्मय में पड़ने का मुख्य कारण यही है, और इसी के द्वारा आश्चर्य्य आलाम्बित हुआ है, अतः यही आलम्बन विभाव है। "रामचन्द्रजी का अद्भुत अखंड रूप तथा रोम रोम में कोटि-कोटि ब्रह्मांड, अगणित रवि-शशि-शिव चतुरानन-बहु गिरि-सरित-सिन्धु महि कानन, काल-कर्म्म, गुण-दोष" यह विचित्रताएँ महारानी कौशिल्या के सन्देह को और भी प्रगाढ़ तथा प्रकाशित करती हैं और इनके द्वारा वह और भी उद्दीप्त हुआ है, अतः यह "उद्दीपन-विभाव" है। इन दोनों कारणों के कार्य्य "हृदय का कम्पित होना, मन में धीरज का न धरना, बार-बार इधर से उधर जाना, अकुलाना, तन का पुलकित होना, मुह से बात न निकलना, और नेत्र मूंद कर चरणों में शिर नवाना" है—इन्हीं कार्य्यों के द्वारा माता के आश्चर्यन्वित होने का अनुभव होता है, अतः "अनुभाव" है। "कम्प" "रोमाँच" सात्विकानुभाव हैं, "इधर-उधर जाना, नेत्र मूंदना और चरणों में शीश नवाना कायिकानुभाव" और "मन में धीरज का न धरना और अकुलाना" मानसिकानुभाव हैं। "मोह" "आवेग" "जड़ता" "चपलता" और "वितर्क" सञ्चारी भाव हैं। अपने शरीर का ज्ञान न रहने में "मोह" आतुरता के साथ बार बार आने जाने में "आवेग" अस्थिरता के न रहने में "चपलता" और "इहाँ-उहाँ" दुइ बालक देखा, 'मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा" में 'वितर्क-सञ्चारी' है। इन विभाव, अनुभाव और

संचारी भावों के सयोग से "आश्चर्य्य" स्थायी भाव है। अतः "अद्भुत-रस" है।

उदाहरण सातवाँ, खण्ड १६—५

पृष्ठ ४३८—घन बरषत • सशक ॥

यहाँ पर कृष्ण "आलम्बन-विभाव" है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा गोप सुत स-शंक हुए हैं, यही सदेह युक्त बनाने का मुख्य कारण तथा रस को आलम्बित करने वाले हैं, घन का बरसना "उद्दीपन" विभाव है, क्योंकि यह सदेह को अत्यंत प्रबल तथा विस्तृत करता है, "शका" सचारी भाव है, क्योंकि इसका पद्य में सर्वत्र सचार है। उपर्युक्त विभाव रूपी कारणों का कार्य्य तथा अनुभाव कराने वाला "कर पर गिर धारण" वाक्य है, अतः यह "अनुभव है। उस उपर्युक्त विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "आश्चर्य्य" स्थायी हुआ, अत. इस सम्पूर्ण सामित्री द्वारा 'अद्भुत-रस" की सिद्धि हुई।

उदाहरण सोलहवाँ, खण्ड २७—

पृष्ठ ४४०—उस एक ही अभिमन्यु होगा नहीं ॥

यहाँ पर "अभिमन्यु" आलम्बन विभाव है। क्योंकि उसी के कारण "कर्ण" आश्चर्य्य-चकित हुआ है, वही सदेह में डालने वाला मुख्य कारण है, और उसी के द्वारा रस आलम्बित होता है, अत वह आलम्बन विभाव हुआ है। 'शस्त्रच्छटा" उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इसके द्वारा आश्चर्य्य और भी सबल और उद्दीप्त हुआ है। "जिस जिस ने युद्ध किया मारा गया अथवा भाग कर बचा" "नया सिंह सोते से जगा" "सब सैन्य

इससे व्यस्त है" 'जैसे बने इसको मारना चाहिये" "अन्यथा निस्तार न होगा" इत्यादि वाक्यो के कथन में कर्ण की जो शारीरिक तथा मानसिक दशा होगई होगी वही अनुभाव हैं, जो यहाँ पर गुप्त है। "शङ्का" "विपाद "चिन्ता" "उग्रता" "आवेग" तथा "वितर्क" सचारी भाव हैं। सव सेना के व्यस्त होने में शका, विजय न प्राप्त होकर विजित होने मे विपाद । "जैसे वने उसे मारना ही चाहिये" इसमें "उग्रता" अन्यथा निस्तार न होने मं ' चिन्ता" भागने की इच्छा मे "आवेग" और "रामचन्द्र के वाण से सिन्धु सम इससे सेना व्यस्त है" "यह पार्थ नन्दन पार्थ से भा वीर वीर प्रशस्त है" में वितर्क का सचार हुआ है। इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के सयोग से "आश्चर्य" स्थायी हुआ, अत यहाँ "अद्भुत रस" है।



शान्त-रस।

सुरस शान्त निर्वेद है, जाको थाई भाव।
सत संगति गुरु तपो वन, मृतक समान विभाव॥
प्रथम रोमांचादिक तहाँ, भाषत कवि अनुभाव।
धृति मति हरषादिक कहे, शुभ संचारी भाव॥
शुद्ध शुक्ल रँग देवता, नारायण है जान।
ताको कहत उदाहरण, सुनहु सुमति दै कान॥



राग्य की पूर्ण स्थिरता का नाम शान्त रस है, सत्संगति, गुरु, तपोवन और मृतक इत्यादि विभाव हैं। रोमाँचादिक अनुभाव और धृति, मति और हर्ष इत्यादि संचारी भाव हैं। शुक्ल वर्ण और देवता नारायण है।

जब इधर-उधर से ध्यान हटकर एक ही स्थान में केन्द्रस्थ हो जाता है, तब शांत-रस का प्रादुर्भाव होता है। यह रस पूर्ण समता का मन्दिर है, यही कारण है कि महा कवि केशवदास इत्यादि ने इसे सम रस के नाम से पुकारा है। यह रस सत्य, दया, धर्म और आनन्द का निवास स्थान है। मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति इसी रस में होती है। सम्पूर्ण विषय वासनाओं से विरक्त भाव कराकर जगदाधार से प्रेम भाव उत्पन्न करानेवाला यही रस है। आत्मा का अंतिम विश्राम इसी आनन्द सागर की सुखद तथा पवित्र तरंगों में है। जब इस रस से अन्तःकरण स्थिर हो जाता है तब माता, पिता, भाई

बन्धु, स्त्री इत्यादि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, यहाँ तक कि मनुष्य को अपने शरीर तक की कुछ परवाह नहीं होती। बहुत लोगों का विचार है कि इस रस का आविर्भाव बुढापे में होता है, किन्तु इसके लिये कोई सामान्य सिद्धान्त निश्चित नहीं किया जा सकता। ध्रुव तथा प्रह्लाद की कथाएँ पढने पर ज्ञात होता है कि वह लोग अपनी बाल्यावस्था से ही इस रस मन्दिर के पुजारी बन गये थे, और इसके विरुद्ध हमें बहुत से प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात के भी मिलते हैं कि लोगों को बुढापे में भी तृष्णा देवी की शरण में निवास करना पडता है, इस अवस्था में भी उन्हे धन धान्य के सब्ज बागों की ही सैर करने में आनन्द आता है तथा ससाररूपी चुम्बक के साथ लोह बनकर चिमट जाने के मुक्तकठ से अभिलाषी होते है। कुछ लोग तो ऐसे हे ज वृद्धावस्था के ही शत्रु है, ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि उन्हें शान्त रस से किस अवस्था में प्रीति होगी! हमारे केशवदासजी कहते हैं —

"केशव" केसन अस करी, जैसी अरि न कराहि।
चन्द्र बदनि मृग लोचनी, बाबा कहि-कहि जाहि"॥

उनको "बाबा' शब्द वज्र की भाँति लगता था, श्वेत बाल उनके नाकीले तीरो की तरह चुभते थे! किस लिये कि अब षोडषी, मृगशावक नयनी, परमसुन्दरी, रूप यौवन सम्पन्न स्त्रियाँ इनको नायक की दृष्टि से नहीं देखती थीं। यहाँ तक भी

शान्त-रस।

सुरस शान्त निर्वेद है, जाको थाई भाव।
सत संगति गुरु तपो वन, मृतक समान विभाव॥
प्रथम रोमांचादिक तहाँ, भाषत कवि अनुभाव।
धृति मति हर्षादिक कहे, शुभ संचारी भाव॥
शुद्ध शुक्ल रँग देवता, नारायण है जान।
ताको कहत उदाहरण सुनहु सुमति दै कान॥



राग्य की पूर्ण स्थिरता का नाम शान्त रस है, सत्सङ्गति, गुरु, तपोवन और मृतक इत्यादि विभाव है। रोमाँचादिक अनुभाव और धृति, मति और हर्ष इत्यादि संचारी भाव है। शुक्ल वर्ण और देवता नारायण है।

जब इधर-उधर से ध्यान हटकर एक ही स्थान में केन्द्रस्थ हो जाता है, तब शांत-रस का प्रादुर्भाव होता है। यह रस पूर्ण समता का मन्दिर है, यही कारण है कि महा कवि केशवदास इत्यादि ने इसे सम रस के नाम से पुकारा है। यह रस सत्य, दया, धर्म और आनन्द का निवास स्थान है। मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति इसी रस में होती है। सम्पूर्ण विषय वासनाओं से विरक्त भाव कराकर जगदाधार से प्रेम भाव उत्पन्न करानेवाला यही रस है। आत्मा का अंतिम विश्राम इसी आनन्द सागर की सुखद तथा पवित्र तरंगों में है। जब इस रस से सम्बन्ध स्थिर हो जाता है तब माता, पिता, भाई,

पर ईश्वर की कृपा होती है उसी को शान्त रस का सच्चा मार्ग प्राप्त होता है।

अब हम नीचे इस रस के कुछ उदाहरण उद्धृत कर पाठकों की भेंट करते हैं, जिससे उसके समझने में सहायता मिले।

मन हरि पद अनुराग करहु त्यागि नाना कपट।
महा मोह निसि जाग, सोवत बीत काल बहु॥
दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सत संग॥
मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुबीर।
अस बिचार रघुबंस मणि, हरहु विषम भव पीर॥
कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
ऐसे हू कब लागि हो, तुलसी के मन राम॥

—तुलसीदास (रामचरित मानस)

भूमि पाल व्याल पाल नाक पाल लोक पाल,
कारण कृपाल मैं सबै के जी की थाहली।
कादर पै आदर काहू के नहीं देखियत,
सबनि सुहात है सेवा सुजान टाहली।
तुलसी सुभाय कहै नहीं कछु पक्षपात,
कोने ईश किये कीश भालु खास माहली।
राम ही के द्वारे पै बोलाय सनमानियत,
मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली॥
सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, बि
हीन गुण पथिक पियासे जात पथके।

खैर है—रसिकलालजी तो इनसे भी कहीं आगे पहुँच गये, यहाँ तक कि मृत्यु के पश्चात् भी आपकी उत्कण्ठा थी :—

"हमरे यही निरूप, रसिकलाल सुत मो करो।
जहाँ चिता तहँ कूप, मृग नैनी भूमत रहे॥

इन उपर्युक्त उदाहरण से केवल हमारा यही अभिप्राय है, कि यह आवश्यक नहीं, कि प्रत्येक मनुष्य को शान्त-रस में किसी विशेष अवस्था में प्रीति होती ही होवे। इन सब बातों के अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस को कब संसारी धया से विरक्त भाव उत्पन्न होजावे। भला कौन कह सकता था कि भादों की झुकी हुई अँधेरी में, मुरदे की ठठरी को नाव बना कर अपनी प्रेयसी के चन्द्र-बदन का चकोर तुलसी उसके पास पहुँच कर तथा उससे डाँटा लकर थोड़े समय पश्चात् ही लौटकर राम भजन में तल्लीन हो जायगा। इसी प्रकार कौन कह सकता था कि प्रोफेसर रामतीर्थ अचानक ही अपने माता-पिता तथा स्त्री-पुत्र को त्यागकर शान्ति के सच्चे मार्ग की खोज में इतस्तत भ्रमण करेंगे और कहीं पर वास्तविक शान्ति न पाने पर इस शरीर को ही त्याग देंगे। और कौन कह सकता था कि अब "राम" शान्ति प्रदायनी, सलिल प्रवाहिनी सुरसरि की सुललित तरङ्गों में प्रवाहित होंगे? और कौन कह सकता था कि वे अब शीतल, मंद, सुगंध समीर के झोंकों के साथ अठखेलियाँ खेलने के लिये इस अल्पकाल में ही उद्यत होजावेंगे और शान्ति का सच्चा केन्द्र ढूंढ कर तदाकार होजावेंगे। वास्तव में जिस

बरदंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्राण करैं "तुलसी" बलि जाउँ लला इन बोलन की॥
यहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह दखाइहौंजू।
परसे पग धूरि तरै तरणी घरनीघर क्यों समुझाइहौंजू॥
तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जियाइहौंजू।
बरु मारिय मोहि बिना पग धोये हौं नाथ न नाउ चढाइहौंजू॥
राम है मातु पिता सुत बन्धु औ संगि सखा गुरु स्वामि सनेही।
राम की सौंह भरोसो है राम को राम रंगी रुचि राचो न केही॥
जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोहि जिये जग में 'तुलसी' नतु डोलत और मुए धरि देही॥
झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है॥
जा जानी को गुमान बड़ो, तुलसी के बिचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जाने न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है॥
आगम वेद पुराण बखानत मारग कोटिन जाहि न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आप को ईश कहावत सिद्ध सयाने॥
धर्म सबै कलिकाल ग्रसै जप जोग विराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै तुलसी हम जानकि नाथ के हाथ बिकाने॥

—तुलसीदास

प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन शोभा निरखि।
मुनिवर परम प्रवीन, जोरि पाणि अस्तुति करत॥

लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित,
नीके देखे देवता देवैया घने गथ के ॥
गीध मानो गुरु कपि भालु मानो मीत कै,
पुनीत गीत साके सब साहिब समथ के।
और भूप परखि सुलखि तौलि ताइ लेत,
लसम के खसम तुही पै दसरथ के ॥
मेरे जाति पाँति ना काहू की जाति-पाँति चहौं,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी को एक नाम को ॥
अतिहि अयाने उपखानो नहीं बूझैं लोग,
साहिब को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा ?
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं रामको।

—तुलसीदास

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजन मंजु बनी मणि माल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये॥
अरविन्द सो आनन रूप मरन्द अनन्दित लोचन भृङ्ग पिये।
मन में न बस्यो अस बालक जो तुलसी जगमें फल कौन जिये॥
तन की द्युति श्याम सरोरुहलोचन कंजकी मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की दूरि करैं॥
दमकैं दतियाँ द्युति दामिनी ज्यौं किलकैं कल बाल विनोद करैं।
वे बालक चारि सदा तुलसी मन मन्दिर में विहरैं॥

जन्म सिरानो ऐसे ऐसे।
के घर-घर भ्रमत यदुपति बिन के सोवत के बैसे ॥
के कहुँ खान पान रसनादिक के कहुँ नाद अनैसे।
के कहुँ रंक कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ॥
चेत्यो नहीं गयो हरि अवसर मीन बिना जल जैसे।
यह गति भई "सूर" की ऐसे श्याम मिले धौं कैसे ॥

—सूरदास

कोउ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
कोई कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसे परलोक नरलोक वर लोकन में,
लीन्हों मैं असोक लोक लोकनते न्यारी हौं।
तन जाहि मन जाहि "देव" गुरुजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पटवारी वहि मूरति पे वारी हौं ॥

ईस चढ़ावत सीस सदा घनसार ज्यों आँखिन आँजत हैं अज।
इन्दिरा के वर की अरु साधुन के सुख की नितहीं सुख की सज ॥
मोषधी ओषधि व्याधिन की अरु औगुन कौन गनै गनिका गज।
"देव" दयानिधि राम निहारे हौं बंदत हौं पद पंकज की रज ॥
चाहे सुमेर को छार करै अरु छार को चाहै सुमेरु बनावै।
चाहे तो रंकते राव करै चाहे राव को द्वारहि द्वार फिरावै ॥
रीति यही करुणा निधि की "कविदेव" कहै बिनती मोहि भावै।
चींटी के पाँय में बाँधि गयंदहि चाहै समुद्र के पार लगावै ॥

बिनती करि मुनि नाइ सिर, कह करि जोरि बहोरि ।
चरण सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि ॥
× × ×
जन्म जन्म तव पद सुख कन्दा । रहौ प्रेम चकोर जिमि चन्दा ॥
—तुलसीदास (रामचरित-मानस)

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै ॥
परम स्वादु सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै ॥
रूप रेखि गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहि तातें 'सूर सगुण लीला पद गावै ॥
× × ×
मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पछी फिरि जहाज पर आवै ॥
कमल नयन कौ छाँडि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गंग कौं छाँडि पियासो दुरमति कूप खनावै ॥
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै ।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥
अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी ।
देख्यो चाहत कमल नयन को निसि दिन रहत उदासी ॥
आये ऊधो फिर गये आँगन डारि गये गर फाँसी ।
केसरि को तिलक मोतिन की माला वृन्दावन को बासी ॥
काहू के मनकी कोऊ न जानत लोगन के मन हाँसी
'सूरदास' प्रभु तुमरे दरस को जाइ करवट ल्यो कासी ॥
× × ×

जन्म सिरानो ऐसे ऐसे।
के घर-घर भरमत यदुपति बिन कै सोवत कै बैसे॥
कै कहुँ खान पान रमनादिक कै कहुँ बाद अनैसे।
कै कहुँ रंक कहू ईश्वरता नट बाजीगर जैसे॥
चेत्यो नहीं गयो हरि अवसर मीन बिना जल जैसे।
यह गति भई "सूर" की ऐसे श्याम मिलैं धौं कैसे॥

—सूरदास

कोई कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
कोई कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसे परलोक नरलोक बर लोकन में,
लीन्हों मैं असोक लोक लोकनते न्यारी हौं।
तन जाहि मन जाहि "देव" गुरुजन जाहि
जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी हौं।
बृन्दावनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

ईस चढ़ावत सीस सदा धनसार ज्यों आँखिन आँजत हैं अज।
इन्दिरा के उर की अरु साधुन के मुख की नितही सुख की सज॥
सोषधी ओषधि व्याधिन की अरु औगुन कौन गनै गनिका गज।
"देव" दयानिधि राम निहारे हौ बदत हौ पद पंकज की रज॥
चाहै सुमेर को छार करै अरु छार को चाहै सुमेर बनावै।
चाहै तौ रंकते राव करे चाहै राव को द्वारहि द्वार फिरावै॥
रीति यही करुणा निधि की "कविदेव" कहै विनती मोहि भावै।
चींटी के पाँव में बाँधि ... ... के पार लगावै॥

भूषण सारे सँभारे जराऊ तिन्हें लखि तारे है लागत फीके।
त्यौं "द्विज देव" जू आनन को छवि अंग सबै सरसाय ससी के॥
ताहू पै भानु प्रभा निदरैं लसैं चंचल कुंडल कानन नीके।
मोह-मयी तम क्यों न मिटै इमि ध्यान धरे वृषभानु लली के॥

—देव

मोहू दीजै मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो।
जो बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुनन॥
सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसहु, सदा बिहारीलाल॥

—बिहारी

देखै नहीं अरिविन्दनि त्यों चित चंद की आनँद-कन्द निकाई।
कामिनि काम कथा करै कान न तावै विधाम की सुन्दरताई।
देखि गई जब ते तुमको तब ते कछु चाहि न देख्यौ सुहाई।
छोड़ेगी देह जो देखे बिना अहो नेहु न कान्ह कहूँ हूँ दिखाई।
खारिक खात न दारौं दाखन माखनहू सह मेटि इठाई।
"केशव" ऊख मयूषहि दूषत आई हो तो पहँ छाँडि जिठाई।
तो रदनच्छद को रस रंचक चाख गये करिकेहू ढिठाई।
ता दिन ते उन राखी उठाय समेत सुधा बसुधा की मिठाई॥

दनुज मनुज जीव जल थल जननि को,
परयोई रहत जहाँ काल सों समर है।
अनंत-अनत अज अमर भरत पर,
केशव निकसि जाने सोई तो अमर है।
बाजत श्रवण सुनि मनुझि बाबद करि,
वेदनि को बाद नाहीं शिव को डमरु है।

भागहु रे भागो भय्या भागनि ज्यों भादो पर,
भय के भवन माँझ भय को भँवर है।

—केशव

लाभ औंर हानि ज्यान जीवन अजीवन हू,
भोग हू वियोग हू सयोग हू अपार है।
कह पद्माकर इतेपै और केतो कहों,
जिनको लिख्यो न वेदहू में निरधार है॥
जानियत याते रघुनाथ की कला को कहू,
कोऊ पार पायो कोउ पावत न पार है।
कान दिन कान छिन कोन घरी कौन ठोर,
कौन जाने कोन को कहाँ धौं होनहार है॥

× × ×

गंग के चरित्र लखि भाखै जमराज इमि,
एरे चित्र गुप्त मेरे हुकुम में कानदे।
कहै पदमाकर ये नरकनि मूँदि कर,
मूँदि दरवाजन को तजि यह ध्यान दे॥
देखु यह देव नदी कीन्हे सब देव याते,
दूतन बुलाय कै बिदाके वेगि पान दे।
फार डार फरद न राखु रोज नामचहु,
खाता खत जान दे बहा को बहि जान दे॥

बढ़ि मन्द सतसगति में विष मानि विषयरस कीर्ति सदाहीं।
त्यों पद्माकर जितौं जग जानि सुज्ञानहि के अवगाहीं।

नाक की नोक में डीठि दिये नित चाहै न चीज कहूँ चित चाहीं।
सतत सब सिरोमणि है धन है धन वे जन वेपरवाहीं ॥

× × ×

तन वितान रवि शशि दिया, फल भख सलिल प्रवाह।
अवनि सेज पखा पवन अब न कछू परवाह ॥

—पद्माकर

तुम करतार जग रच्छा के करन हार,
पूरत मनोरथ हौ सब चित चाहे के।
यह जिय जानि सेनापति हू सरन आयो,
हूजिये दयाल ताप मेटौ दुख दाहे के।
जो यो कहौ तेरे हैं करम अनेसे हम,
गाहक है सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि उतरौंगो पार तो पै,
हम करतार करतार तुम काहेके ॥

—सेनापति

भाखै चित्र गुप्त सुन लीजे अर्ज यमराज
कीजिये हुकम अब मूर्द नर्क द्वारे को।
अधम अभागे और कृतघ्नी क्रूर कलहिन
करत कन्हैया कर्म कुंडल समारे को।
'ग्वाल कवि अधिक अनीतें विपरीतें भई
दीजिये तुडाय वेगि कुलफ किवारे को।
हम ना लिखैंगे यहाँ गम ना जुखैहै हम,
जमुना बिगारै देत कागद हमारे को ॥

—ग्वाल

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं ।
रसखान कबौं इन आँखिन सो ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटि करौ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥

—रसखान

प्यारी सत्ता जगत गत की नित्य लीलामयी है ।
स्नेहों सिक्ता परम मधुरा पूतता में पगी है ॥
ऊँची प्यारी सरल सरसा ज्ञान गर्भा मनोज्ञा ।
पूज्या मान्या हृदय तल की रंजनी उज्ज्वला है ॥

× × ×

मैंने बाते कथन जितनी शास्त्र विज्ञान की हैं ।
ये बातें हैं प्रगट करती ब्रह्म है विश्व रूपी ॥
पाती हूँ विश्व प्रियतम में, विश्व में प्राण प्यारा ।
ऐसे मैंने जगतपति को श्याम में है विलोका ॥

× × ×

शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है ।
सो दिव्या है मनुज तन की सर्व संसिद्धियों से ॥
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ ।
प्यारे की ओ परम प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना ॥
सत्कर्मा हैं परम शुचि हैं आप ऊधो सुधी हैं ।
अच्छा होगा सनय जो आप चाहें प्रभु से ॥
आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ ।
मेरा कौमार व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥

× × ×

रूप हुई इतना कह मुग्ध हा,

ब्रज कुमारि विभूषण राधिका ॥

—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

गद्‌गद् हृदय से पार्थ तब बोले वचन श्रद्धा भरे,

लीला तुम्हारी है विलक्षण हे अखिल लोचन हरे!

इस आपदा से त्राण मेरा कौन करता तुम बिना ?

प्रत्यक्ष दिखला कर सभी दुख कौन हरता तुम बिना ?

"जो कुछ दिखाया आज तुमने वह न भूलेगा कभी

क्या दृष्टि में फिर और ऐसा दृश्य फूलेगा कभी ?"

कहते हुए यों पार्थ फिर हरि के पदों में गिर गये

प्रभु ने किये तब प्रगट उनपर प्रेम भाव नये-नये ॥

—जयद्रथ वध

"हे ईश! बहु उपकार तुमने सर्वदा हम पर किये,

उपहार प्रत्युपकार में क्या दें तुम्हें इसके लिये ?

है क्या हमारा सृष्टि में ? यह सब तुम्हीं से है बनी,

सन्तत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे हो धनी ॥

× × ×

कहते हुए यों नृप युधिष्ठिर मुग्ध होकर रुक गये।

तत्क्षण अचेत समान फिर प्रभु के पदों में झुक गये।

बढ़कर उन्हें हरि ने हृदय से हर्ष युक्त लगा लिया।

आनन्द से सत्प्रेम का मानो शुभालिङ्गन किया।

—मैथिलीशरण गुप्त

महारि-नन्द का पुत्र तू नहीं गिरिजन मूर्ति का सानि रूप है।

उदित हे हुआ तू गिरि जगमे व्यथित जिसके त्राण के लिये।

तव सुधामयी प्रेम जीवनी, अघनिवारिणी क्लेश हारिणी।
श्रवण-सौख्यदा निरततारिणी, मुदित गा रहे धीर अग्रणी॥

—श्रीधर पाठक

शान्त हो भाई, छन्द्रो, शान्त न आतुर हो तुम यों एकान्त।
अभाग यों धन है भ्रान्त न हो निज सहनशीलता श्रान्त।
तुम्हें है क्रोध, मुझे है खेद, नहीं है वसे हिताहित भेद।

× × ×

दयामय उसे बुद्धि-वर दो, भाइयो तुम भी यह वर दो।
और उसको कुछ अवसर दो, धैर्य्य अपना न यहीं धर दो।
नमा करके हरि ने सो दोष, किया था चेदीश्वर पर रोष।

× × ×

नम्र हो सकते हैं हरि हम स्वयं प्रभु हैं वे पुरुषोत्तम।
किन्तु अनुकृति ही है क्या काम, करेंगी वही हमें सत्तम।
क्षमा से होते हैं अवतार, कि उनमें विना ले ससार॥

—मैथिलीशरण गुप्त (वन-वैभव)

रस सामिग्री द्वारा शान्त-रस पर दृष्टिपात।

उदाहरण पहिला, खड ३—४

पृष्ठ ४५३—मोसम तुलसी के मन राम॥

यहाँ पर आलम्बन रघुवीर हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा रस आलम्बित होता है, यही ससार से विरक्त भाव कराने के मुख्य

आधार हैं। अपनी दीनता और राम का दीन हित करना उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा वैराग्य और भी प्रबल तथा उद्दीप्त होता है। "अनुभाव" गुप्त हैं। उस समय की शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं को अनुभाव समझना चाहिये। भव पीर जनित निर्वेद, अपनी दीनता का ज्ञान (मति) यह सचारी भाव हैं। एकाग्रचित्त होकर राम में लग जाना (वैराग्य) स्थायी भाव है। बस इन विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थाई भावों के सयोग से शान्तरस की सिद्धि हुई।

उदाहरण दूसरा, खंड १

पृष्ठ ४५३—भूमिपाल व्यालपाल कूरनाहली ॥

यहाँ पर भूमि-पाल, व्याल पाल, नाक पाललोक पाल इत्यादि सबके जी की थाह लेकर उनमें कुछ तत्व न पाने वाली, तथा राम के गुणों से तुलना करके विशेषता पाने वाली बुद्धि उत्पन्नकराने वाला गुरू अथवा सत्सगति "आलम्बन-विभाव" हे , क्योंकि उन्हीं के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होना है, वेही भक्ति को आलम्बित करते हैं। "सब के जी की थाह ले लेना" कादर का कहीं आदर न पाना" "सबको सेवा का सुहाना" "राम का कीश भालु नक का सम्मान करना" इत्यादि 'उद्दीपन विभाव" हैं, क्योंकि सत्सग तथा सुबुद्धि से उत्पन्न हुई बुद्धि इनसे और भी बलिष्ठ होती है, "सब तज, हरि भज" वाला सिद्धान्त इनके द्वारा और भी विस्तृत होता है और यही रस को और भी उद्दीप्त कराते हैं। "मैं स्वभाव से ही कहता हूँ, पक्षपात स

नहीं, भला मुझ से दीन दूबरे कपूत कूर काहली को आप के अति॰ रिक्त सम्मानित करने वाला अन्य कौन है ?"—इन वाक्यों के व्यक्त करते समय वक्ता की जो शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ हुई होंगी और जिनके द्वारा उसके प्राप्त ज्ञान का पूर्ण अनुभव हुआ होगा वही "अनुभाव" है। (यहाँ पर अनुभाव स्पष्ट वर्णित नहीं है) धृति तथा मति सचारी भाव हैं, क्योंकि यहाँ पर वक्ता के वचनों में पूर्ण धैर्य्य तथा सुनीति का ज्ञान है। कवि के कादर इत्यादि शब्दों द्वारा उस पर विपत्ति का होना और अपने जैसे मनुष्यों की समाई राम दरबार में होने के प्रमाणों के पाने में धैर्य्य स्थिर होता है। अत विपत्तियों में भी धैर्य्य होने के कारण 'धृति' का सचार हुआ। इसी प्रकार मिथ्या भ्रम के कारण भूमिपाल इत्यादि के दरवाजों पर घूमते हुए भी सुनीति का ज्ञान रहने में 'मति' की स्थिरता हुई। बस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के ससर्ग से 'निर्वेद' स्थायी हुआ। अत. यहाँ शान्त-रस है।

उदाहरण नवाँ, खड ४—

पृष्ठ ४६०—वन वितान अब न कछू परवाह ॥

यहाँ पर 'साधु पुरुष' आलम्बन विभाव है क्योंकि इन्हीं के द्वारा रस आलम्बित हुआ है, अथवा यो कहिये कि यही विरक्तता के मुख्य आधार तथा कारण है। वन वितान, रवि, शशि, दिया, फल भख, सलिल प्रवाह, अवनि सेज, पन्ना-पवन, ये उद्दीपन विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा विरक्त भाव और

भी अधिक विस्तृत, दृढ़ तथा प्रौढ़ होता है, अथवा यों कहिये कि ये वस्तुएँ ससार-त्याग के लिये अथवा मायाजाल से छुटकारा दिलाने के लिये और भी पर्य्याप्त हैं, अतः विरागोद्दीपक होने के कारण "उद्दीपन" विभाव हुए। "अब न कछू परवाह" यह शान्त वचन "अनुभाव" है, क्योंकि इसके द्वारा संसार की वस्तुओं से घृणा हो जाने का स्पष्ट अनुभव होता है। "धृति, मति, हर्ष" यह सचारी भाव हैं। ससार में जीवनोपयोगी चारपाई इत्यादि वस्तुओं के अभाव में भी सतों को भूम्यादि अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ उपलब्ध है—इससे धैर्य्य का सचार होता है। सुनीति का ज्ञान होने के कारण 'मति' प्रगट हुई, क्योंकि इसीके द्वारा संतोष हुआ है। "अब कुछ परवाह नहीं" यह वाक्य हर्ष को प्रतिध्वनित करता है। बस इन विभाव, अनुभाव और सचारी भावों के सयोग से "निर्वेद" स्थायी हुआ, अत. यहाँ शान्त रस की सिद्धि हुई।

उदाहरण तेरहवाँ

पृष्ठ ४६१—प्यारी सत्ता विभूपण राधिका॥

यहाँ पर शास्त्र विज्ञात बातें और श्याम की आज्ञा ये "आलम्बन-विभाव" हैं, क्योंकि विरक्त भाव उत्पन्न कराने के मुख्य कारण येही हैं, इन्हीं के द्वारा राधिका को यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है कि विश्व में प्रियतम है और प्रियतम में विश्व है, इत्यादि। ससार की सत्ता का लीलामय होना, और प्रभु की निष्काम भक्ति जो सम्पूर्ण ससिद्धियो में दिव्य है, उद्दीपन-

विभाव है, क्योंकि इनके द्वारा ज्ञान और भी प्रबल होता है, यह निर्वेद को और भी विस्तृत तथा उद्दीप्त करता है। राधिका का मुग्ध होकर चुप रह जाना "अनुभाव" है, क्योंकि इससे "निर्वेद" का पूर्ण अनुभव होता है। इसी प्रकार धृति और मति सचारी भाव हैं, क्योंकि उसको महाराज कृष्ण के न मिलने पर भी धैर्य्य है और प्यारे तथा परमात्मा की भक्ति के अभिन्न होने का भी ज्ञान है, प्रथम कार्य्य में धृति और द्वितीय में मति है। वस इन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सयोग से "निर्वेद" स्थायी हुआ, अत शान्त-रस है।

उदाहरण चौदहवाँ

पृष्ठ ४६२—गद्गद् हृदय से प्रेम भाव नये-नये॥

यहाँ पर "जो कुछ दिखायी दिया आज मुझको न भूलेगा कभी"—"वैकुठ दर्शन" करानेवाले (कृष्ण)—आलम्बन विभाव है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा अर्जुन का पुत्र सम्बन्धी शोक दूर होकर ज्ञान स्थिर हुआ है। महाराज कृष्ण ही के द्वारा रस आलम्बित होने के कारण वह आलम्बन विभाव हुए। और उपर्युक्त दृश्य उद्दीपन विभाव है, क्योंकि कृष्ण के सत्सङ्ग से प्राप्त किया हुआ ज्ञान इससे और भी उद्दीप्त हुआ है, यदि अर्जुन अपने नेत्रों से स्वर्ग का दृश्य साक्षात् न देख लेते तो उनमें विराग का अविर्भाव कभी नहीं हो सकता था। इसी प्रकार "गद्-गद् हृदय से वचन बोलना" "हरि की लीला को विलक्षण बताना" "उनके . यह अनुभाव

देखिबे कौ एकै फिरै देवता सी दौरी-दौरी,
देवता मनाय दिन दान मे नसति हैं।
कीजै कह करम को इहि रूप मेरी माई,
ये तौ मेरे कान्हजू के नामहि हँसति है॥
—केशवदास

यहाँ पर धाय का वचन सखियों के प्रति है, कि देखो यह हमारे कान्ह के रूप पर हँसती हैं, यह तो हास्य-रस है। "एक महाराज कृष्ण से मिलने की उत्कंठा में दूतियों से मिल मिल कर प्रयत्न कराती है, दूसरी मन ही मन में विलास करती है, तीसरी उनसे बात-चीत करने के लिये लालायित हो रही है और चौथी उनकी वाणी के श्रवण मात्र की अभिलाषिनी है, इसी प्रकार कोई कोई तो उनके दर्शनो के लिये दौड़ी-दौर्डी फिरती हैं और कोई-कोई देवी-देवता मना कर दान-वृत्त में अपने दिन व्यतीत करती हैं"। इन वाक्यों से शृङ्गार-रस प्रकट होता है। "कर्म को क्या करू, जिसके कारण श्यामवर्ण हुआ और उनका नाम कृष्ण पडा" इस वाक्य में साक्षात् करुणा-रस प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार इस एक ही उदाहरण में शृङ्गार, हास्य और करुणा तीनो रसों का वर्णन किया गया है। वर्ण भी सरल हैं, उक्त छन्द के चारों चरणों में क्रमश मकार, नकार, हकार और ककार का प्रयोग किया गया है जो माधुर्य्य-गुण प्रकाशक है। इनके अतिरिक्त सुन्दर और शुभ भाव भी हैं, अत कौशिकी-वृत्ति है।

भारतेन्दुजी कौशिकी-वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार बतलाते हैं कि जो वृत्ति अत्यंत मनोहर, स्त्रियों के लिए जिन वस्त्राभूषणों की आवश्यकता है उनसे सुसज्जित, रमणीय नृत्य, गीतादि से परिपूर्ण तथा नाना भोग विलासादि युक्त होती है। उसे कौशिकी वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शृङ्गार-रस प्रधान नाटकों के लिये उपयुक्त है।

भारती-वृत्ति

बरणे जामे वीर-रस, अरु अद्भुत रस हास।
कहि "केशव" शुभ अर्थ जहँ, सो भारती प्रकास॥

—केशव

जहाँ वीर, अद्भुत तथा हास्य रस का वर्णन होता है, और अर्थ सुन्दर अथवा शुभ होता है उसे भारती-वृत्ति कहते हैं। यथा,—

कानन्नि कनिक पत्र चक्र चमकत चारु,
धुजा झुलझुली झलकति अति सुख दाइ
'केशव' छबीलो छत्र शीशफूल सारथी सौं,
केसर की आड़ अधिराधिका रची बनाइ।
नीके ही नकीब सम नीकी नथ मोती नाक,
एक ही निलारनि गुपाल ता गये बिकाइ।
लोचन बिशाल भाल अरित उराऊ लाल,
मानो चन्यो मीनन के रथ मनमथ राइ।

—केशव

यहाँ पर सवारी का वर्णन किया गया है। कानों में सुवर्ण-पत्र के पवित्र चक्र हैं लो। छवि की झूल है, शीश

सजीला शीशफूल ही सारथी है, केशरि की आड़ अधि-राधिका (जिसके आसरे पर सब रहते हैं) है। उत्तम नकीब के समान नाक में मोती है। उसके एक बार देखते ही गोपाल तो उसके हाथों बिक से गये हे। उसके बड़े-बड़े नेत्र हैं और मस्तक पर जड़ाऊ लाल है, वही मानो मछलियों के रथ में बैठकर कामदेव ने पयान किया है।

यहाँ पर नाक के मोती को नकीब मानने में "वीर-रस" का वर्णन समझा जाता है। वेंदों को काम और लोचन को मीन कल्पित करने में "मन्द-हास" का वर्णन है। कामदेव का मीन के रथ पर चढ़कर चलना "अद्भुत" रस का वर्णन है। और इसी प्रकार एक ही विलोकनि से श्याम के बिका जाने में "शृंगार रस" वर्णित हुआ है। यों एक ही छन्द में कवि ने वीर, अद्भुत और हास्य अथवा शृङ्गार की छटा दिखलाई है। अर्थ भी सुन्दर है, अत. यहाँ पर भारती-वृत्ति है।

जिस वृत्ति में साधु भाषा का बाहुल्य होता है, उसका नाम भारती-वृत्ति है जहाँ पर प्रधानतया बीभत्स-रस का वर्णन करना हो वहाँ पर इसी वृत्ति का प्रयोग होना उचित हे।

आरभटी-वृत्ति ।

"केशव" जामें रुद्र-रस, भय बीभत्सक जान।
आरभटी आरम्भ यह, पद पद जमक बखान॥

जहाँ पर रौद्र, भय और बीभत्स रस का वर्णन हो और

पद-पद में यमकालंकार का दिग्दर्शन कराया गया हो उसे "आरभटी वृत्ति" कहते हैं।

भारतेन्दुजी के मतानुसार, माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, आघात, प्रतिघात और वन्यादि नाना प्रकार के रौद्र प्रधान युक्त कार्य्यों से संयुक्त होने वाली वृत्ति को ही "आरभटी वृत्ति" कहते हैं। जब कभी रौद्र रस का वर्णन करना हो तब इस वृत्ति पर दृष्टि रखना उचित है। उदाहरण —

घोर घने घन घोरत सज्जल उज्जल कज्जल की रुचि राचे।
फन्ने फिरैं इभ से नभ पाइक सावन की पहिली तिथि पाचैं।
चाहू कुधा तडिता तडपैं डरपैं बनिता कहि 'केशव' साचं।
जानि मनो गजराज बिना नभ ऊपर काल कुटुम्बिन नाचैं॥

यहाँ पर तडिता का तडपना, और घनों के घोरने से यह जाना जाता है कि वे मारने के लिये क्रोध करते हैं, इससे रौद्र-रस है। देख देख कर वनिताओं के डरने से—"भयानक रस" है। और काल कुटुम्बिन के नाचने में "बीभत्स रस" का वर्णन होने से "आरभटी वृत्ति" है।

सात्विकी-वृत्ति।

अद्भुत वीर शृङ्गार-रस, सम रस बरणि समान।
सुनतहि समुझत भाव जिहि, सो सात्विकी सुजान॥

जहाँ पर अद्भुत, वीर, शृङ्गार और शान्त रस का वर्णन हो, उस वृत्ति को सात्विकी वृत्ति कहते हैं। जिसका भाव सुनते ही समझ में आजावे।

किन्ही-किन्ही विद्वानो के मत में इस वृत्ति में अद्भुत, रुद्र, वीर तथा शान्त-रस का वर्णन होना चाहिये।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी वीर-रस प्रधान नाटकों में इस वृत्ति को उपयोगी बतलाते हैं। वह अपनी "नाटक" नाम्नी पुस्तिका में सात्त्विकी वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं :—

"जिस वृत्ति द्वारा शौर्य्य, दान, दया और दाक्षिण्य प्रभृति से विरोचिता, विविधगुणान्विता, आनन्द विशेषोद्भाविनी, सामान्य विलास युक्ता, विशोका और उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी नायक कर्त्तृक प्रयुक्त होती है, उसका नाम सात्त्विकी-वृत्ति है।

महाकवि केशवदासजी ने रसिक-प्रिया में सात्त्विकी-वृत्ति का निम्नलिखित उदाहरण अंकित किया है। उदाहरण —

केशोदास लाख-लाख भांतिन के अभिलाष,
बारि दैरी बावरी न बारि हिये होरी सी।
राधा-हरि केरी प्रीति सबते अधिक जानि,
रति-रति नाथहू में देखो रति थोरी सी॥
तिनहू में भेद न भवानि हू प पाइयो जाइ,
भारती की भारती है कहिबे को भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन,
देखिबे को देह द्वै है नैनन की जोरी सी॥

यहाँ पर सखी की उक्ति अन्य नायिका के प्रति है, कि तू बारम्बार मुझसे कहती है कि "श्याम से मिल-श्याम से मिल" । अरी बावली इन अभिलाषाओं को जला क्यों नहीं देती,

हृदय में वृथा चिन्ता की होलीसी जलाने से क्या हाथ आवेगा ? अपने मन में इस बात को निश्चय जान कि राधा और कृष्ण की प्रीति सब से अधिक है। यदि तुलना की जावे तो रति और कामदेव की प्रीति कम ठहरैगी। इनकी प्रीति का वर्णन करने में सरस्वती की वाणी भी असमर्थ है। यदि उन दोनो में भवानी भी भेद डलवाना चाहे तो वह भी सफल मनोरथ न होगी (भला मेरी क्या सामर्थ्य है)। वास्तव में उनकी गति, मति, प्राण और मन एक ही है, केवल देखने के लिये नेत्रों की जोडी के समान उनकी देह प्रथक् प्रथक् है।

यहाँ पर दोनो के उत्साह वर्णन में, वीर-रस, अभिलाप चारि दे में, रौद्र-रस। राधा तथा कृष्ण की प्रीति में, शृङ्गार-रस और राधा तथा कृष्ण के अभेद वर्णन म शान्त रस का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दो देहों में एक जीव का वर्णन होना अद्भुत रस है। इस प्रकार उपर्युक्त छन्द में अद्भुत, रुद्र, वीर और शान्त का वर्णन होने से उसमें सात्त्विकी वृत्ति है।



छन्द निर्णय।

अथवा

किस रस के लिये कौनसा छन्द अनुकूल वा प्रतिकूल है।



सी मुख्य छन्द में किसी विशेष रस के वर्णन करने की प्रणाली हमारे हिन्दी भाषा के काव्य में प्रचलित नहीं है और न यह बात आवश्यक ही जान पड़ती है, क्योंकि काव्य-सौन्दर्य्य, अर्थ लालित्य, भाव-लहरी तथा सरसता तो कवि की प्रतिभा पर ही निर्भर है। छन्द गौण है—तो भी शिष्टों के मतानुसार भानु कवि के निर्मित किये कोष्ठक को नीचे उद्धृत करते हैं, क्योंकि संस्कृत काव्य में इसका विशेष विचार किया जाता है। और आजकल भिन्न तुकान्त तथा अन्त्यानुप्रास युक्त दोनों प्रकार की ही कविता में संस्कृत छन्द लिये जा रहे हैं, अत ऐसी अवस्था में इस कोष्ठक से कुछ लाभ होने की सम्भावना की जा सकती है।

हिन्दी भाषा में दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय, सवैया तथा कवित्त इत्यादि सभी प्रकार के वर्णनों के लिये अनुकूल हैं। संस्कृत छन्दों में उनका विचार निम्नलिखित कोष्ठ के अनुसार करना चाहिये —

रस	अनुकूल—छन्द	प्रतिकूल-छन्द
श्रृंगार	शार्दूल—विक्रीडित, वसन्त—तिलका, पृथ्वी, हरिणी, शिखरणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, स्रग्धरा, इन्द्रवजा, उपेन्द्रवजा, रथोद्धता, द्रुत विलम्बित।	पथ्या
हास्य	दोधक, तोटक, भुजगप्रयात और जिनका प्रत्येक पद में विच्छेद हो ऐसे सब वृत्त।	पृथ्वी
णा	मालिनी, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता और पुष्पिताग्रा।	दोधक
द्र	शार्दूल विक्रीडित, हरिणी, स्रग्धरा, रथोद्धता, अनुष्टुप।	शिखरिणी
वीर	शार्दूल विक्रीडित, इन्द्रवजा, उपेन्द्रवजा, वंशस्थ, शिखरिणी, स्रग्धरा, भुजगप्रयात, पञ्च-चामर, अमृतध्वनि, कृपाण, वीर।	प्रहर्षिणी
भयानक	शार्दूल—विक्रीडित, स्रग्धरा, पथ्या।	मालिनी
वीभत्स	शार्दूल—विक्रीडित, स्रग्धरा, वंशस्थ, रथोद्धता।	मन्दाक्रान्ता
अद्भुत	शार्दूल विक्रीडित, नन्दिनी, कुसुम—विचित्रा, शालिनी स्वागता, उपचित्रा, वसन्त तिलका, इन्द्रवजा।	शिखरिणी

रस-दोष ।



संसार में कोई भी वस्तु दोष रहित नहीं, केवल एक मात्र ईश्वर ही निर्दोष है, फिर भला काव्य ही इस सिद्धान्त से किस प्रकार प्रथक रह सकता था, उसमें भी दोष पाये जाते हैं। विद्वानों के मत से वह दोष चार प्रकार के हैं (१) शब्द-दोष, (२) वाक्यदोष, (३) अर्थदोष और (४) रस-दोष। इनमें से प्रथम तीन को छोड़कर हम केवल अन्तिम दोष का वर्णन करते है, क्योंकि उसी का हमारे विषय से सम्बन्ध है।

रस-दोष को अन-रस तथा अपरस भी कहते हैं। यह दोष पाँच प्रकार के होते हैं :—

प्रत्यनीक नीरस विरस, "केशव" दुस्सन्धान।
पात्रा-दुष्ट कवित्त बहु, करहि न सुकवि बखान॥

अर्थात् (१) प्रत्यनीक (२) नीरस, (३) विरस, (४) दुस्सन्धान, (५) पात्रा-दुष्ट।

१—प्रत्यनीक।

जहँ श्रृङ्गार बीभत्स भय, वीरहि बरणे कोइ।
रौद्र सुकरुणा मिलत ही, प्रत्यनीक रस होइ॥

जब श्रृङ्गार-बीभत्स, भय-वीर, रौद्र और करुणा में से एक ही छन्द में दो अथवा अधिक का संयोग हो जाता है, तब उसे प्रत्यनीक दोष कहते हैं। यथा :—

फरके भुज आनँद भरे, मिलि मुख चुम्बन चाह।
परसि भाल मुरकी अरुन, नैन शोक उर माह॥

यहाँ भुजाओं के फरकने में वीर रस मुख चुम्बन की चाह में शृङ्गार-रस, परसि भाल मुरकी में वीभत्सरस, अरुण-नयन में रौद्र-रस, और उरमाह शोक होने में करुणारस होने के कारण प्रत्यनीक दोष है। पुनर्यथा '—

हँसि बोलत ही मुह से सब 'केशव' लाज भगावत लोक भगे।
कछु बात चलावत घेर चले मन आनत ही मनमत्थ जगे॥
नाहि तू जुवती सुहुती मन मेरेहि जानिये नेह हिये उमगे।
दृग ज्यों नेकु दृष्टि पसारत ही अँगुरीनि पसारन लोग लगे॥

यहाँ हँसि बोलत, लाज भगावत, बात चलावत, मनमत्थ जगे, और दृष्टि पसारने में शृङ्गार-रस का वर्णन हुआ है। लोक भगिवो, घेर चलिवो, हियौ न उमगे, लोगों का उगली पसारना, इन सम्पूर्ण वाक्यों में वीभत्सरस प्रतिपादित होता है। इस प्रकार शृङ्गार और वीभत्स दो रस एक ही छन्द में वर्णित हुए हैं, अत प्रत्यनीक दोष है। जहाँ पर भय, वीर, रौद्र करुणा, इसी प्रकार मिलें वहाँ भी प्रत्यनीक समझना चाहिए।

२—नीरस।

जहा दम्पती मुह मिल, सदा रहै यह रीति।
कपट रहै लपटाय मन, नीरस रस की प्रीति॥

यहाँ पर नायिका केवल मुख से मिलें, ८०

कपट रक्खे और सदैव यही रीति स्थिर रहे, वहाँ नीरस समझना चाहिए। यथा.—

गाहत सि‌धु सयाननि के जिनकी मति की मति देह दहेली।
मोहि हँसी दुख दोऊ दई तिनहू सो जनावति प्रेम पहेली॥
आजु लों कानहू न सुनी सु तौ देखि चली हम सौति सहेली।
जानी है जानी मिली मुह ही हिय ना हिये भावति गर्व गहेली॥

यहाँ पर सखी की उक्ति नायिका तथा नायक के प्रति है। वह कहती है, कि भला जिनकी बुद्धि चतुराइयो के समुद्र का अवगाहन करने वाली है यहाँ तक कि वह बिलकुल परिमार्जित होगई है, उनको तुम प्रेम पहेली सुनाकर टहलाना चाहते हो। अस्तु, जो बात आज तक कभी कानों भी न सुनी थी चलो आज आँखों से तो देखी, कि सौतें भी सहेलियाँ होती हैं। मुझे तुम लोगों के व्यवहार देखकर हसी और खेद दोनो ही हैं। (प्रेम पहेली सुनकर तो हसी आती है और तुम्हारे कपट पर खेद) मैंने भली भाँति समझ लिया कि तुम्हारा मेल बिलकुल दिखावटी है, मुँह से तो मिलते हो किन्तु हृदय में कपट है, (दोनों स्त्री, पुरुषों का प्रेम अन्य नायक, नायिका से है।), पर प्रेम में कपट का वर्णन होने के कारण नीरस ०

३-विरस

जहा शोक मह भोग को वरणि कहे क...
केशवदास हुलास सो, तहँ ही वी...

जहाँ पर शोक में भोग का वर्णन ...
समझना चाहिये। यथा—

लीन भाल जानक लखत, परी विरह के भार।
भरी शोक लपटत गरे, विहसति भूषन भार॥

यहाँ शोक में रति का वर्णन है, अतः विरस दोष हुआ। पुनर्यथा —

पेशोगास न्हान दान खान पान भूल्यो गान,
गयो ज्ञान भयो प्राण पीठि की सी पीठि है।
छाड़ि रसिकलाल यह जक वह चाल,
न्हान दा सब सुख तुमहि उनीठि है॥
जैसी सोच साठी मीठी चीठी अति ढाठी सुनै,
मीठी-मीठी बातनि जु नीचेहू में नीठि है।
ईठनि सों रूठी ईठी तापै शोक की अँगीठी,
उठी जाके उरमें सुकेसे हँसि दीठि है॥

यहाँ पर नायिका की दशा का वर्णन सखी द्वारा नायक से हुआ है, कि वह न्हान दान, खान, पान इत्यादि सभी नित्य-कर्म्म भूल गई है, ज्ञान बिलकुल नहीं रहा है, और प्राणों की तो यह दशा है कि पीठी की भी पीठि होगये हैं, अर्थात् केवल नाममात्र को उलझे हुए हैं। इसलिये हे रसिकलाल तुम भोग की जक छोड़ दो, नायिका तो केवल तुम्हारे दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण सुखों को उठाकर एक ओर रख देगी, यह विचार कर चिट्ठी (जोकि उसके लिये अत्यन्त सीठी है) से काम न निकालो, क्योंकि जब वह अच्छी भली होती है तब भी तो मीठी मीठी बातों को श्रवण कर पूर्णतया प्रसन्नता प्रगट नहीं करती है अब तो यह अवस्था है कि शोक के कारण उसके ह

अँगीठी सी सुलग रही है, फिर भला उससे क्या आशा की जा सकती है कि वह हँसकर देखे। यहाँ भोग में शोक का वर्णन हुआ है, अत. विरस-दोष है।

४—दुस्सन्धान।

एक होइ अनुकूल जहँ, दूजो है प्रतिकूल।
"केशव" दुस्सन्धान रस, शोभित तहाँ सतूल॥

नायिका, नायक में से जहाँ एक अनुकूल हो और दूसरा प्रतिकूल हो वहाँ दुस्सन्धान दोष होता है। उदाहरण —

दे दधि दीनो उधार हो "केशव" दान कहा अरु मोल लै खैहै।
दीने बिना जुगई हो गई न गई न गई घर ही फिर जैहै॥
गो हित बैर कियो कब हो हितु वारु किये वर नीकी हैं रैहै।
बैरु कै गोरस बेचहुगी अहो बेचो न बेच्यो तौ ढारि न दैहै॥

यहाँ पर प्रत्युत्तर है। नायक अनुकूलता से बोलता है, और नायिका प्रत्येक बात का उत्तर प्रतिकूलता से देती है यथा — नायक ने कहा कि "दधि दो", तब नायिका ने कहा—"क्या दान में चाहते हो? यह बात न होगी यहाँ तो उधार बेचने वाले हैं।" फिर नायक ने कहा कि "जाने दो हम मोल लेकर ही खालेंगे।" इस पर नायिका ने कहा "मोल तो तब लोगे जब हम देंगे।" इस पर नायक ने कहा कि "इस प्रकार क्या काम चलेगा।" नायिका बोली "न सही घर तो लौट जायँगे।" फिर नायक ने कहा कि "क्या अब तुम हित को त्याग कर बैर करना चाहती हो।" तब नायिका ने कहा "यह तौ बतलाओ कि हमारी तुम्हारी प्रीति ही कब थी।" फिर नायक ने कहा कि

"वैर करने में कुछ करुणा का भी स्थान है कि नहीं।" इस पर नायिका ने कहा कि हमें तुमसे वैर की कुछ भी परवाह नहीं, हम तो आनन्द में रहेंगी।" इस पर नायक ने कहा कि "क्यों जी इस प्रकार वैर करके क्या गोरस बेच लोगी।" इस पर नायिका बोली "अजी बेच न लेंगे तो फेला भी तो न देंगे, (अपने घर ही ले जावेंगे)। इस प्रकार नायक के अनुकूल तथा नायिका के प्रतिकूल होने के कारण यहाँ दुस्सन्धान दोष है।

५—पात्रादुष्ट

जैसो जहाँ न बूझिया, तैसो करिये पुष्ट।
बिनु बिचार जो बरनिये, सो रस पातर दुष्ट॥

प्रश्न के विरुद्ध पुष्ट करना अथवा किसी बात को बिना विचारे हुए वर्णन करना पात्रादुष्ट कहलाता है। यथा —

कपट कृपानी मानी प्रेम रस लपटानी,
प्राननि को गगाज् के पानी सम जानिये।
स्वारथ निधानी परमारथ की रजधानी,
काम की कहानी 'केशवदास' जग मानिये॥
सुनरन अरुझानी सुधा सों सुधार आनी
सकल सयानी मानी शानी सुख दानिये।
गोरा आ गिरात जानी मोहे सुनि मद मानी,
मेरी रानी रिपुक बखानिये॥

यहाँ सब पदों में विना विचार के वर्णन हुआ है, अत गत्राादुष्ट दोष है। यथा—कपट कृपानी से अभिप्राय लिया गया है "सब के कपट को काटने वाली" यह पद विना विचार के है, क्योंकि सब में तो उसकी भी गणना होगई इसी प्रकार प्रेम-रस तथा गगाजी वाली इत्यादि बातें भी है।



उपसंहार

एकादश क्यारी रची, नव-रस पुष्प विचारि।
वाढ़ि वृत्ति और दोष की, तापे धरा सुधारि ॥ १ ॥

या विधि सो यह वाटिका, भई पुष्प युत आज।
रसिक मित्र ! सेवन करहु, भयो पूर्ण मम काज ॥ २ ॥

भूमि बीज सब आपु की, जल तक तुम ही दीन।
रक्षक सब विधि आपु ही, भये सकल परवीन ॥ ३ ॥

वस्तु तुम्हारी ही तुम्हैं, भेंटहि मित्र ! लजाय।
पुष्प-पत्र जैसे कटू, तिनहि लेहु अपनाय ॥ ४ ॥

काव्य सिन्धु जैसो अगम, जानत सबै मतीन।
कहो पार किमि पावही, मेरी बुद्धि 'नवीन' ॥ ५ ॥

यह विचार निज चित्त में, छिमा करहु मम चूक।
नव-रस वरनन में भई, मोसों होइ कचूक ॥ ६ ॥

रसिक सिरोमनि साँवरे, वनिता कमिनि कन्त।
तिनकी भामिनि राधिका, मंगल करहि अनन्त ॥ ७ ॥

शिव (मन्कामेश्वर) भवा, रहहि सदा अनुकूल।
तिनके सुत गनपति सदै करहि ·कुल मन-शूल ॥ ८ ॥

वरदायनि श्रीशारदा, ` ·वेद शुभ धाम।
सदा सुमंगल कीजिये ·रन काम ॥ ९ ॥

गुरु-पद पद्म-पराग नित, मम मन करहिं अनन्द।
मोह निविड तम दूरि कर, सदा करै आनन्द ॥ १० ॥

संवत् वसु मुनि ग्रह शशी, चैत्र कृष्ण भुवि चन्द।
यह 'नवीन' पूरन कार्यो, नव-रस नूतन छन्द ॥ ११ ॥

कवि किङ्कर सिरसागंज, जिला मैनपुरी निवासी :—

बाबूराम बित्थरिया 'नवीन'

मि० चैत्र, कृष्ण ११
स० १९७८ वि०

अध्यापक, ए० बी० रेल्वे स्कूल,
बाँदीकुई—राजपूताना।

